खंड

1

चेम्मीन

इकाई 1
तकषि शिवशंकर पिल्लै : व्यक्तित्व और कृतित्व 5

इकाई 2
चेम्मीन : युग परिवेश 14

इकाई 3
चेम्मीन : विषयवस्तु, कथानक एवं पात्रसृष्टि 24

इकाई 4
चेम्मीन में कथन तंत्र : मिथ और भाषा का प्रयोग 46

इकाई 5
चेम्मीन का मूल्यांकन 54

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-20/17, कुतुब एन्क्लेव,
फ़ेज-1, गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. असगर वज़ाहत
जामिया मिलिया इस्लामिया
नई दिल्ली

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रो. बी.वै.ललिताम्बा
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय
इंदौर, मध्य प्रदेश

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीतारानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. विमल खांडेकर
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखन
डॉ. वत्सला बेबी
केरल विश्वविद्यालय

अनुवाद
डॉ. एम.एस. विनयचंद्रन
केरल विश्वविद्यालय

सौजन्य
प्रो. डी. बेंजामिन
मलयालम विभाग
केरल विश्वविद्यालय

इकाई संख्या
1 से 5

संपादक
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम संयोजक
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
प्रोफेसर, हिंदी संकाय
इं.गां.रा.मु.वि.

सामग्री निर्माण सहयोग

मुद्रण
श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ
इं.गां.रा.मु.वि.

कैमरा रेड्डी कॉपी
श्री राजेश शर्मा
निजी सहायक
मानविकी विद्यापीठ
इं.गां.रा.मु.वि.

फरवरी 2004 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2003

ISBN-81-266-0733-5

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, इलाहाबाद की ओर से ***डॉ. अरुण कुमार गुप्त*** कुलसचिव द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित, *2018*
मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्राइवेट लिमिटेड, 42/7 जवाहर लाल नेहरू रोड, इलाहाबाद

MAHI-09/2

खंड परिचय

एम.ए. हिन्दी पाठ्यक्रम के द्वितीय वर्ष के पाठ्यक्रम–16 'भारतीय उपन्यास' का प्रथम खंड अधिक समक्ष अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। यह खंड मलयालम भाषा के प्रसिद्ध उपन्यास 'चेम्मीन' पर आधरित है। इस उपन्यास के लेखक मलयालम के विशिष्ट उपन्यासकार 'तकषि शिवशंकर 'पिल्लै' जी हैं। यह उपन्यास सर्वप्रथम सन् 1956 में प्रकाशित हुआ। यह उपन्यास त्रिकोण प्रेम की कथा पर आधारित है। स्वतंत्रता संग्राम के अन्तिम चरण में जहाँ सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ साहित्य पर प्रभाव डाल रही थीं तथा सामाजिक एवं आर्थिक असमानताओं का अंकन साहितय में किया जा रहा था, वहीं प्रेम की विषयवस्तु लेकर उपन्यास रचना की ओर प्रवृत्त तकषि ने नवीन धारा की ओर प्रवेश किया। इस खंड में आप 'चेम्मीन' उपन्यास की विषयवस्तु, चरित्र योजना, भाषा–शैली आदि का विस्तार से अध्ययन करेंगे। खंड की अंतिम इकाई 'चेम्मीन' पर की गई विविध समीक्षाओं एवं आलोचनात्मक टिप्पणियों पर आधारित है। यह उपन्यास मछुआ जाति के आचार–व्यवहार, जीवन, परंपरा, परिवेश आदि को समग्र रूप में प्रस्तुत करता है।

पाठ्यक्रम का परिचय

एम.ए. हिंदी के द्वितीय वर्ष के उपन्यास शीर्षक 16 क्रेडिट के मॉड्यूल का यह अंतिम पाठ्यक्रम है। यह पाठ्यक्रम 4 क्रेडिट का है जिसका शीर्षक है एम.एच.डी.-16 : भारतीय उपन्यास।

आमतौर पर चार क्रेडिट के पाठ्यक्रम में अध्ययन के लिए चार उपन्यास शामिल किए जाते हैं। हमने इस पाठ्यक्रम में दक्षिण के दो उपन्यास तथा उत्तर की आर्य भाषा वर्ग के दो उपन्यास चुने हैं। ये चारों उपन्यास भारत की चार अंचलों की चार प्रमुख भाषाओं के उपन्यास साहित्य के अध्ययन के लिए आपके लिए प्रवेश द्वार हैं। इनसे आपको उन भाषाओं के लेखन की एक बानगी मिलेगी।

ये चारों उपन्यास समय की दृष्टि से प्रासंगिक हैं, इनके कथा सूत्र और परिवेश तथा लेखन शैली में अंतर है। मलयालम उपन्यास 'चेम्मीन' आंचलिक उपन्यास है, कन्नड उपन्यास 'संस्कार' परपरांगत मान्यताओं को मानवीय मूल्यों की कसौटी पर परखने का यत्न करता है। गुजराती उपन्यास 'मानवीनी भवाई' मानवीय संबंधों को रेखांकित करता है और बांगला उपन्यास 'जंगल का दावेदार' में आदिवासियों की ज्वलंत समस्याओं को उठाया गया है। इस तरह इस पाठ्यक्रम के अध्ययन से आपको भारतीय उपन्यास साहित्य की एक झलक मिलेगी, जो इस पाठ्यक्रम का मूल उद्देश्य है।

इस पाठ्यक्रम में शामिल उपन्यास आपके अपने अध्ययन केंद्र में पढ़ने के लिए मिलेंगे। अगर आप अध्ययन केंद्र में न जा सकें या वहाँ बैठ कर पढ़ने का सगय न मिले तो हम सलाह देंगे कि आप ये उपन्यास खरीद लें या स्थानीय पुस्तकालयों से ले कर पढ़ लें। उपन्यास को पढे बिना आप इकाइयाँ न पढ़ें क्योंकि इससे आपको चर्चा के सूत्र नहीं मिलेंगे। हम यह भी बताना चाहेंगे कि अपने पाठ्यक्रम एम.एच.डी.-13 में उपन्यास सिद्धांत के बारे में तो अध्ययन किया है उसके आधार पर उपन्यास पढ़ते समय स्वयं ही कथानक, चरित्र चित्रण, परिवेश, मूलसंदेश आदि के संदर्भ में अपने नोट्स बना लें। इससे आपको परीक्षा में बहुत लाभ मिलेगा।

हम उम्मीद करते हैं कि उपन्यास साहित्य के विशेष अध्ययन की दृष्टि से यह पाठ्यक्रम आपके लिए उपयोगी ही नहीं, रोचक भी होगा और इससे आपके चिंतन का विस्तार होगा।

शुभकामनाओं सहित!

इकाई 1 तकषि शिवशंकर पिल्लै : व्यक्तित्व और कृतित्व

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 तकषि : जीवनवृत्त : परिचय

1.3 साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण

1.4 मलयालम में कथा साहित्य

1.5 कृतित्व

1.6 सारांश

1.7 प्रश्न

1.0 उद्देश्य

इस खण्ड की यह पहली इकाई है जिसमें आप तकषि शिवशंकर पिल्लै के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में जानकारी हासिल करेंगे। तकषि शिवशंकर पिल्लै मलयालम साहित्य में एक ऐसा नाम है जिसने मलयालम साहित्य तथा परोक्ष रूप से भारतीय साहित्य को विश्व में उच्चतम स्तर तक पहुँचाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। ऐसे उच्चकोटि के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में जो-जो घटक महत्वपूर्ण रहे हैं, उनकी चर्चा भी हम इस इकाई में करेंगे। तकषि बहुमुखी प्रतिभा के रचनाकार रहे हैं। उनके कृतित्व की जानकारी भी आप इस इकाई में हासिल करेंगे।

1.1 प्रस्तावना

यह खण्ड मलयालम साहित्य के प्रतिनिधि आधुनिक लेखक तकषि शिवशंकर पिल्लै पर आधारित है; जिसमें मुख्य रूप से उनके विश्वप्रसिद्ध उपन्यास चेम्मीन अर्थात् मछुआरे पर चर्चा की गई है। यह इकाई इस खण्ड की पहली इकाई है जिसमें तकषि शिवशंकर पिल्लै के जीवन के बारे में परिचयात्मक जानकारी दी गई है। इस इकाई में सर्वप्रथम हम देखेंगे कि तकषि का आरंभिक जीवन कहाँ और कैसे बीता तथा साहित्य संस्कारों का श्रीगणेश कैसे हुआ। तदुपरांत हम तकषि के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक तत्वों के बारे में जानकारी हासिल करेंगे। किसी भी रचनाकार की किसी भी महत्वपूर्ण रचना के अध्ययन से पूर्व यदि रचनाकार के बारे में जानकारी हासिल कर ली जाए तो उसकी रचनाओं को समझने में आसानी रहती है। तो आइए, तकषि शिवशंकर पिल्लै के जीवन पर दृष्टि डालें।

1.2 तकषि : जीवनवृत्त : परिचय

तकषि शिवशंकर पिल्लै का वास्तविक नाम है : के.के. शिवशंकर पिल्लै। तकषि शिवशंकर पिल्लै उनका साहित्यिक नाम है। लोग उन्हें तकषि के नाम से जानते बुलाते हैं। तकषि उनके गाँव का नाम है जो कि मध्य केरल के आलप्पुषा जिले के अम्पलप्पुषा तालुक में सागर के किनारे स्थित है। तकषि गाँव केरल की राजधानी तिरुवनन्तपुरम् से उत्तर की ओर डेढ़ सौ किलोमीटर की दूरी पर है। इसी गाँव में तकषि का 17 अप्रैल 1912 को जन्म हुआ था। उनकी माता का नाम पार्वती अम्मा तथा पिता का नाम पोरपल्लि कलत्तिल शंकर

कुरूप था। वे अपने माता-पिता की दूसरी संतान थे। पहली संतान कन्या थी। उनके परिवार की दशा सामान्य थी। चावल की खेती मुख्य पेशा था। कृषिवृत्ति के अलावा पिता कथकली एवं तुल्लन कलाओं के जानकार थे। लगभग आए दिन घर में पुराण पारायण होता रहता था। पुराण कथाओं से तकषि का परिचय घर पर ही हुआ।

उनकी आरंभिक शिक्षा गाँव में ही हुई। इसके बाद सातवीं कक्षा तक की पढ़ाई गाँव से बारह किलोमीटर दूर समुद्री तट पर स्थित अंपलप्पुषा स्कूल में हुई। यहाँ पर अरय समुदाय से तकषि का परिचय हुआ। अरयों का जीवन-यापन मछुवारी से चलता था। उनकी कुटियाँ सटी हुई होती थीं। उनके शरीर से सदा मछली की बू आती रहती थी। दोपहर का भोजन केले के पत्ते में ले जाने की प्रथा थी। खाने की पोटली पर अकसर चींटियाँ आक्रमण कर देती थीं। चींटियों वाले हिस्से को अलग फेंक बाकी भोजन कर लिया जाता था। फेंके हुए हिस्से को हड़पने अरय बच्चे टूट पड़ते थे। वे चींटियाँ और चावल दोनों खा लेते थे। होंठो पर लगी चींटियों को हाथों से पोंछ कर देते थे। गरीबी का यह हाल था। इसी कारण शायद ही कोई अरय बच्चा सावतीं कक्षा तक पहुँच पाता था। कुछ विद्यार्थी बड़े होकर नाव, मछली जाल खरीद लेते, कुछ नाव खेने में लग जाते। कुछ तो सागर में लापता हो जाते। हाई स्कूल उन्होंने कुछ और दूरी पर वैक्कम और करुवाट्टा के स्कूलों में पूरा किया। वहाँ पर भी अरय लोग थे। चेम्मीन उपन्यास की रचना के समय अरय समुदाय के ये अनुभव प्रेरक और सहायक रहे होंगे।

बचपन से ही तकषि में लोगों के जीवन को जानने और प्रकृति के सौंदर्य का निरीक्षण करने की प्रवृति पैदा हो गई थी। जब वे वैक्कम में किराये के मकान में रहते हुए पढ़ाई कर रहे थे तब अपनी इसी घूमने-फिरने की फितरत के कारण वे नवीं कक्षा में फेल हो गये। उसके बाद वैक्कम में उनकी पढ़ाई रुक गई। इसी दौरान कोच्ची में आयोजित प्रथम समस्त केरल साहित्य परिषद में शामिल होने तकषि भी गये। यहीं पर ज्ञानपीठ से सम्मानित जी. शंकर कुरुप जैसे कवियों से उनका परिचय हुआ। साहित्य संबंधी अनुभवों की यह बड़ी शुरुआत थी। फिर उन्होंने करूवाट्टा के एन.एस.एस. हाई स्कूल में ही एस.एस.एल.सी. की परीक्षा पास की।

मलयालम के सुप्रसिद्ध नाटककार कैनिवकरा कुमार पिल्लै उस समय स्कूल के हेडमास्टर थे। किसी कक्षा में जब कभी अध्यापक नहीं होता तो वे पहुँच जाते और बच्चों को कहानियाँ सुनाने लगते। स्वयं तकषि ने इसी तरह 'काबुलीवाला' कहानी सुनने का लाभ उठाया था। कहानी की ओर प्रेरित करने वालों की स्मृति में बाद में 'कयर' नामक अपनी रचना जिन लोगों को समर्पित की है, उनमें केसरी के अलावा कैनिवकरा का नाम भी है।

हाई स्कूल की शिक्षा पूरी होने के बाद वे कानूनी पढ़ाई करने के लिए तिरुवनन्तपुरम् पहुँचे। प्लीडर परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद वे वहीं पत्रकारिता में लग गये। इसी दौरान 'केसरी' पत्र के संपादक ए. बालकृष्ण पिल्लै से परिचय हुआ। केसरी बालकृष्ण पिल्लै एक ऐसे संपादक थे जिन्होंने मलयालियों को पश्चिमी साहित्यिक गतिविधियों से परिचित करवाया था। तकषि को भी इसका भरपूर लाभ मिला। उनकी साहित्य संबंधी संकल्पनाओं तथा वर्णननीति को पुख्ता करने में इन अनुभवों का काफ़ी योगदान रहा। 'ओर्मयुटे तीरड्ड़लिल' (स्मृति के तटों पर) नामक आत्मकथात्मक रचना में उन्होंने इस बात का ज़िक्र भी किया है।

तेईस वर्ष की उम्र में उनका पास ही के नेटुमुटि गाँव में तेक्केमुरी की रहने वाली चेंपकशेरी चिरवकल कमलाक्षि अम्मा नाम की लड़की से विवाह सम्पन्न हुआ। तकषि उन्हें 'कात्ता' नाम से पुकारते थे। उनका मानना था कि उनकी उन्नति का कारण 'कात्ता' ही है। तकषि के पाँच संतानें हुईं - चार लड़कियाँ और एक लड़का। उनके पास अट्ठाईस सेर की खेती थी। 1939 को तकषि म्यूनिसिप्ल कोर्ट के वकील बने। ये दिन उनके जीवन के बड़ी आर्थिक तंगी के दिन थे। 1950 में उनकी माँ और उससे भी पहले पिताजी की भी मृत्यु हो गई। 'रंडिडंगषि' उपन्यास के पाठ्य पुस्तक बनने तथा 'चेम्मीन' के देशी-विदेशी भाषाओं में अनुवाद होने के बाद ही उनकी आर्थिक दशा में सुधार हुआ। विश्व की लगभग सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में चेम्मीन का अनुवाद हुआ।

चेम्मीन पर फ़िल्म बनने से तो तकषि की लोकप्रियता को चार चाँद लग गये। रामू कार्यात द्वारा निर्देशित 'चेम्मीन' फ़िल्म को 1964 में 'सुवर्ण मयूर राष्ट्रीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया जो किसी भी मलयालम फ़िल्म को प्राप्त प्रथम पुरस्कार था। फ़िल्म में संगीत निर्देशन सलिल चौधरी ने किया था और गायक थे मन्नाडे।

स्कूली जीवन से ही तकषि ने कहानियों पर हाथ आजमाना शुरू कर दिया था। उनकी पहली कहानी 'साधुक्कल' (बेचारे लोग) नायर सर्विस सोसायटी की पत्रिका 'सर्विस' में प्रकाशित हुई। पहले उन्होंने के.के. शिवशंकर पिल्लै के नाम से लिखना शुरु किया था, बाद में उन्होंने अपना नाम बदलकर तकषि शिवशंकर पिल्लै कर लिया।

तकषि को अपने जीवन में कई पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त हुए जिनमें से प्रमुख हैं : 'चेम्मीन' के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार (1957), 'एणिप्पडिकल' के लिए केन्द्र साहित्य अकादमी पुरस्कार (1965), सोवियत लैंड नेहरू एवार्ड (1974), तथा 'कयर' के लिए वयलार पुरस्कार (1980) आदि। केरल विश्वविद्यालय और महात्मा गांधी विश्वविद्यालय ने मानद डी.लिट. प्रदान कर उन्हें सम्मानित किया। 1985 में 'पद्म भूषण' दे कर राष्ट्र ने उन्हें समादृत किया।

सभी दृष्टियों से तकषि का जीवन भरा-पूरा था। उनका स्वर्गवास 10 अप्रैल, 1990 को हुआ जब वे सत्तासी बरस के थे। आज तकषि का घर शंकरमंगलम 'तकषि संग्रहालय' के नाम से जाना जाता है।

1.3 साहित्यिक व्यक्तित्व का निर्माण

तकषि के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में सबसे बड़ा योगदान उनके आसपास के जीवंत माहौल का और उस माहौल को भेदने वाली उनकी तीक्ष्ण, परीक्षण दृष्टि का रहा है। छोटे से राज्य केरल में नगर, नगर प्रान्तर, कस्बा, लघु शहर, शहर प्रान्तर, ग्रामान्तर, लघु ग्राम, पहाड़ी इलाका, सागर-तट कुट्टनाड आदि इकाइयाँ निश्चित विशेषताओं से पूर्ण पारिस्थितिक मण्डल होते हैं। कुट्टनाड की अपनी अलग भौगोलिक प्रकृति और तत्संबंधित जीवनचर्याएँ होती हैं। तकषि मानते थे कि उस प्रदेश की धरती भी मानवनिर्मित है। कुट्टनाड में बारहों महीने पानी भरा रहता है। नवम्बर से मई तक खेतों की मेड़ें पानी के तल पर लक्षित हो जाती हैं। उस समय मेड़ों पर से हो कर आया-जाया जा सकता है। दूर तक फैले पानी में इधर-उधर टापू दिखाई देते हैं जहाँ लोग आबाद हैं। जून से वर्षाकाल आरंभ होता है। कुटी (घर) के अंदर तक पानी भर आता है। कुटी के अंदर ऊँचा मंच बनाकर लोग रहते हैं। मंच से सीधे पानी में उतरना पड़ता है। घर-घर में अपनी-अपनी नाव होती है। ऐसी छोटी नाव भी होती है जिसे एक बच्चा इस्तेमाल कर सकता है। पीने का पानी लाने के लिए घड़ा एवं बर्तन नाव में रखकर नाव चलाते हुए पीने के पानी तक पहुँचना होता है। खेतों से पानी रेचित करने के बाद खेती शुरु करते हैं। पुराने समय में चक्कि चलाकर और उसके बाद पम्प की सहायता से पानी का रेचन होता था। रेचन के बाद लकड़ियों एवं झाड़ियों से सीमाबंधन कर खेतों को अलग-अलग किया जाता है। तदुपरांत बीज रोपण या पौधों का रोपण शुरू होता है। कुट्टनाड की यह अपनी विशेष रीति है, जिससे उनके जीवन के क्रम को एक प्रकार की दार्शनिकता का भाव मिला है।

इसके अलावा परिवार के बुजुर्गों द्वारा बचपन में सुनी गई कुट्टनाड की कथाओं का उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में योगदान रहा है। वैयक्तिक संबंध, पारिवारिक संबंध, पारिवारिक इतिहास, निष्ठाएँ, आचार-विचार, उत्सव-त्यौहार, मिथक, कृषि अनुभव, वर्षा, जल-प्लावन की व्यथाएँ आदि अनेक ज्ञानवर्धक, रोचक कार्य एवं घटनाएँ उन कहानियों में भरी पड़ी हैं जो कि लेखक को परिपक्व, ज्ञानधनी एवं समृद्ध बनाती हैं। तकषि का विश्वास है कि बचपन में सुनी ऐसे ही कहानियों ने उनके लेखक को लेखक बनाया था।

दिन-रात कठिन परिश्रम करने वाले, ताड़ी पीने वाले, लड़ने-भिड़ने वाले साधारण मनुष्यों का उन्होंने निरीक्षण किया। उनकी वेदनाओं को उन्होंने आत्मसात किया। सबसे बड़ा दुःख मृत्यु है, इसलिए सभी कार्यों को मृत्यु से जोड़कर देखने की उनकी आदत थी। शायद यह भी एक कारण रहा होगा चेम्मीन जैसी रचनाओं में पूर्ण कलात्मक सौंदर्यानुभूति के आने का।

उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में एक महत्वपूर्ण मोड़ तब आया, जब उन्होंने 'काबुलीवाला' कहानी सुनी और वे 'केसरी' पत्रिका के सम्पर्क में आए। यह वह समय था (1930-34) जब स्वतंत्रता आंदोलन अपने उफान पर था। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का महत्व बढ़ रहा था। श्रमिकों ने परिश्रम के मूल्य एवं महत्व को समझना शुरु कर दिया था, उनमें आत्मगौरव एवं स्वतंत्रता बोध विकसित होने लगा था। पत्रिका कार्यालय में आते रहने वाले साहित्यकारों से की चर्चाओं से उन्हें इब्सन, चेखव, हेमिंग्वे, मोपाँसा जैसे विश्वस्तरीय पश्चिमी साहित्यकारों को जानने का मौका मिला।

उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में उस वक्त संभवतः सबसे बड़ी बात जो हुई वह थी उनका मार्क्सवाद के प्रति रुझान और उसे समझने की ललक। इसी क्रम में उन्होंने प्रगतिशील साहित्य का अध्ययन किया। बचपन से ही तकषि उस भगवान का विरोध करते थे जो धनियों को अधिकाधिक सुविधाएँ प्रदान करता है और बहुतों को तो आवश्यक सुविधा से भी वंचित रखता है। इसी प्रकार अन्तर्मन के अव्यक्त भावों को चित्रित करने में तकषि को फ्राइड ने प्रभावित किया और अंधविश्वासों पर अधिष्ठित मनुष्य के जन्मसंबंधित प्रचलित विश्वासों को परिवर्तित करने में उनकी सहायता की डार्विन ने।

इस प्रकार के अनुभवों, सम्पर्कों, अध्ययन एवं ज्ञानार्जन से जो साहित्यिक व्यक्तित्व निर्मित हुआ और उसने जिन कृतियों की रचना की - वे सारी कृतियाँ इस बात की उद्घोषणा करती जान पड़ती हैं कि भूखण्ड, वंश, वर्ग, पेशा, धर्म आदि का भेद-विभेद निरर्थक है और ये भेद-विभेद मानव को सामान्य मनुष्यता से दूर कर देते हैं। किंतु फिर भी उन्होंने स्पष्ट किया कि 'मुझे संतोष है कि इस सम्पूर्ण अवधि में मैं ग्रामीणजन, आम आदमी तथा शोषित कामगार के साथ रहा हूँ। मैं उनके सुख एवं दुःख में भागीदार रहा हूँ। मैंने उनकी आशाओं को दुलारा है एवं उनकी चिंताओं में हिस्सेदारी की है। जब कभी मैंने उन्हें चिंतित पाया, मैं चिंतित हुआ, संकट की घड़ी में उत्कर्ष के शिखर पर चढ़ने के लिए मैं उनके साथ था। मैं उनके साथ आनंदित हुआ और रोया भी, मैं विवादग्रस्त एवं उदास था मगर मैंने कभी उनका साथ नहीं छोड़ा।' लेकिन इसके साथ ही धनिकों, बंगलों, भवनों में रहने वाले लोगों को वे समाज का दुश्मन नहीं मानते। उनके बारे में तकषि का कहना है - 'ये भवन, बंगले तथा प्रासाद जीवन के अभिन्न अंग हैं। ये उपलब्धियाँ हैं। मैंने उन्हें अपने जीवन में छोड़ दिया है। वहाँ मनुष्य रहते हैं। उनकी भी आशाएँ, निराशाएँ, व्यथाएँ, चिंताएँ, हर्ष तथा नियति के उतार-चढ़ाव हैं, जिन पर उन्हें पार पाना होता है।' (पृष्ठ - 303)

इस प्रकार तकषि का जो साहित्यिक व्यक्तित्व निर्मित हुआ, उसने मलयालम साहित्य को अपनी कृतियों से विश्व के श्रेष्ठ साहित्य की पंक्ति में ला खड़ा किया है।

1.4 मलयालम में कथा साहित्य

डी एच लोरेन्स के मतानुसार बाइबिल उपन्यास है। उनके दृष्टिकोण के अनुसार ऐसा कह सकते हैं कि सारी साहित्यिक विश्व भाषाओं में उपन्यास भी हैं। लेकिन 'नोवल' शब्द से इस प्रकार की रचनाओं को सूचित नहीं करते हैं। मलयालम और अन्य सभी भारतीय भाषाओं में पाश्चात्य साहित्य के अनुकरण स्वरूप उपन्यास शाखा का प्रारंभ हुआ। तब से आज तक पाश्चात्य उपन्यासों के संपर्क में किसी भी प्रकार की शून्यता नहीं आती। शेक्सपियर के 'सिंबलिन' नाटक कथावस्तु के आधार पर अप्पु नेटुंगाडी ने मलयालम के प्रथम उपन्यास कुन्दलता (1887) की रचना की। बीकन फील्ड के 'हेन्टिटा टेंपिल' और जेन आस्टिन के 'प्रइड एन्ड प्रजुडिस' से प्रेरणा पाकर ओ चन्तुमेनन ने मलयालम का लक्षणयुक्त प्रथम

उपन्यास लिखा। यह सर्वविदित है कि सर वाल्टर स्कॉट के 'ऐवानहो' की छाया सी वी रामनपिल्लै के 'मार्ताण्डवर्मा' में है। सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, हास्यात्मक, जासूसी आदि भिन्न प्रकार के उपन्यास मलयालम में प्रारंभ काल में ही पाये गये हैं।

1920 के पश्चात् उपन्यास शाखा नवोत्थान के पथ पर प्रवेश करती है। विक्टर ह्यूगो के ले मिराब्ले ने प्रगत साहित्य शाखा को प्रोत्साहित किया था। राजा एवं रईस मात्र नहीं भिखारी एवं लफंगे भी नायकपद के योग्य हैं। यह जानकारी प्राप्तकर उस प्रकार के अनेक नायक पात्र प्रत्यक्ष होने लगे। विश्व-विख्यात अगणित उपन्यास मलयालम में अनूदित होते रहे। ले मिशब्ले, अन्नाकरेनिना, युद्ध एवं शान्ति, अपराध और दंड, कैरमासोव सहोदर, जीन किस्टोफर, मदाम बोवेरी, सान्धिला, प्रेमी, भली धरती, मिट्टी की बढत आदि कुछ उदाहरण हैं। स्वतंत्रता संग्राम के कार्यक्रम और मार्क्सवाद के प्रचार ने संवेदनशीलता को परिवर्तित किया। सामाजिक नीति एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता उपन्यास के विषय बने तो केरल की सामाजिक दशा इतनी अशांतिपूर्ण रही कि उसको आत्मसात कर सके। इसलिए मलयालम के साहित्यकार जल्दी ही सामाजिक क्रांति के वक्ता बने।

मलयालम भाषा उन पाश्चात्य कृतियों से भी परिचित होने लगी जिनमें उपन्यास का शिल्प, लक्ष्य आदि कार्यों का विवरण मिलते थे। ई.एम.फोस्टर का Aspects of Novel, एड्विन मुयिर का Structure of Novel, पेर्सी लबोक का Craft of Fiction आदि ग्रंथ अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ मलयालम में भी पहुँचे थे। 1930 में एम.पी.पोल ने अपना ग्रंथ 'नोवल साहित्यम्' प्रकाशित किया जो उपन्यास कला पर लिखी गयी प्रथम मलयालम रचना है। एम.पी.पोल अंग्रेज़ी के अध्यापक थे। Aspects of Novel जैसी कृतियों की सहायता से उन्होंने अपना ग्रंथ तैयार किया था। 1930 के पूर्व विद्याविनोदिनी, भाषा पोषिणी जैसी पत्रिकाओं में उपन्यासों पर विश्लेषणात्मक लेख प्रकाशित होते थे। उनमें उल्लखनीय हैं- आख्यायिका अथवा प्लोट (1918) एम.पी.पोल ने उपन्यास की परिभाषा यों दी है - 'उपन्यास वही गद्य ग्रंथ है जिसमें मानव के विकार - विचारों को प्रकाशित किया जाता है और संभाव्य कथानक का आख्यान कर काव्यानुभूति उत्पन्न कर देता है।' यह परिषाभा ई.एम.फास्टर के अनुकरण पर है। केसरी बाल कृष्ण पिल्लै ने कहा - 'समसामयिक जीवन का चित्रण अथवा निरूपण ही उपन्यास है।' केसरी ने पाश्चात्य उपन्यास संकल्पना से मलयालम साहित्य को परिचित कराया।

तकषि नामक उपन्यासकार को इसी साहित्यिक परिसर ने मार्गदर्शन दिया था। टॉलस्टाई, देस्ताबोव्स्की, हेमिंग्वे, मोपोसांग, एमिलीज़ोल, बालज़ाक आदि प्रतिभाशाली साहित्य नायकों ने उन्हें अधिक शक्ति एवं अभिव्यक्ति प्रदान की। श्रमिक, भिखारी, भंगी आदि को नायक बनाया गया। वेश्या के प्रेम का चित्रण किया। मान्यता के परदे से आच्छादित कपटता को व्यक्त किया गया। ये कथाबीज उस काल के साहित्य क्षेत्र में प्रवेश पा नहीं सकते थे। लेकिन पश्चात्य उपन्यासों की सहायता से तकषि ने यह सब कर दिखाया। उस काल के विख्यात उपन्यासकार केशवदेव, वैक्कम मुहम्मद बशीर, पोट्टक्काट आदि भी इस नवोत्थन प्रक्रिया में सहयोगी बने।

1.5 कृतित्व

तकषि के कुल कृतित्व पर यदि हम नज़र डालें तो वह संख्या में एक व्यक्ति द्वारा रचित रचनाओं की दृष्टि से भी बहुत पर्याप्त हैं। लेकिन तकषि का सारा लेखन एक जैसा नहीं है। उनकी रचना-यात्रा के भिन्न-भिन्न पड़ाव हैं और इन पड़ावों में उनकी रचनात्मकता ने भिन्न-भिन्न रूप अख्तियार किया है। आइए, तकषि की रचना-यात्रा के विभिन्न पड़ावों पर नज़र डालें।

प्रथम चरण

तकषि का आरंभ का जो लेखन है, वह उनके बाद के लेखन से काफ़ी भिन्न है। प्रथम चरण के लेखन में उनकी उन कहानियों/उपन्यासों की चर्चा की जा सकती हैं जिन पर उस समय की बंगला कहानियों का रूमानी प्रभाव स्पष्ट है। इस संदर्भ में उनकी सन् 1931 में 'केसरी'

की बंगला कहानियों का रूमानी प्रभाव स्पष्ट है। इस संदर्भ में उनकी सन् 1931 में 'केसरी' में छपी कहानी 'विवाह के दिन' उल्लेखनीय है, जिसका घटनास्थल न तकषि गाँव है, न त्रिवेन्द्रम नगर। यह उत्तर में गंगा के किनारे किसी स्थान की कहानी है। बंगला के रूमानी प्रभाव के साथ-साथ तकषि पर विदेशी विशेषकर फ्रांसीसी कथाकारों (मोपांसा, ज़ोला) का गहरा असर था जो इस दौर की रचनाओं में प्रतिफलित हुआ दिखाई पड़ता है। 'बिन नाम और तारीख का एक पत्र' पर स्टीफन ज्वीग की 'लास्ट लेयर' का सीधा प्रभाव है। 'पिता कौन है' भी इसी प्रकार की कहानी है जिसमें तकषि मध्यवर्गीय नैतिकताओं को झकझोरते दिखाई देते हैं। इसी दौर में उनकी 'बाढ़ में' कहानी है जिसके बारे में कहा जाता है कि इसमें वे सारे तत्व मौजूद है जिन्होंने तकषि को आगे चलकर महान लेखक बनाया। रचना के इस पहले दौर में तकषि उपन्यास भी लिखने लगे थे। उनकी पहली प्रकाशित कृति उपन्यास ही है जिसका शीर्षक है 'प्रतिफलम' (1934) और दूसरा उपन्यास 'पतित पंकजम' जो 1935 में प्रकाशित हुआ। 1936 में एक तीसरा उपन्यास 'परमार्थगल' भी प्रकाशित हुआ। 'प्रतिफलम' उपन्यास ने प्रकाशित होते ही काफ़ी विवाद खड़ा कर दिया। तकषि के ये तीनों ही उपन्यास मध्यवर्गीय नैतिकता पर सीधे चोट करते दिखाई पड़ते हैं, इसलिए इन की आलोचना होना स्वाभाविक ही था। 'प्रतिफलम' में एक ऐसी लड़की की कहानी है जो अपने भाई को उच्च शिक्षा दिलाने के लिए स्वयं देह-व्यापार करती है, 'पतित पंकजम' में एक लड़की को बारह साल की उम्र में ही वेश्यावृत्ति अपनाने को विवश होना पड़ता है। इसी तरह 'परमार्थगल' उस औरत की कथा है जो दो अवैध बच्चों को जन्म देती है - एक विवाह से पूर्व बलात्कार के कारण और दूसरा विवाह के बाद। यह माना जाता है कि अपनी सीधी सरल शैली के कारण इन उपन्यासों ने मलयालम गद्य लेखन में एक नये युग का सूत्रपात किया।

दूसरा चरण

इस दूसरे चरण में तकषि की प्रमुख रचनाओं में 'तोट्टियुडे मकन' (भंगी का बेटा, 1945), 'रंटटिङ्ङषी' (दो सेर धान, 1948), 'तलयोडु' (कपाल, 1948) तथा 'तैंडीवर्गम' (भिखारी वर्ग, 1950) उपन्यास के रूप में प्रमुख हैं। और कहानी संग्रहों में 'अतियीषुक्कुकल' (अन्तर्धारा, 1945), 'नित्यकन्निका' (अविवाहिता, 1945), 'चगानिकल' (मित्र, 1945) तथा 'इन्कलाब' (1950)। तकषि के रचनाकाल का यह वह दौर था जब समाज में स्थितियों में काफ़ी तेज़ी से बदलाव आ रहा था। साहित्य में पुरोगमन साहित्य का प्रभाव बढ़ रहा था। आम आदमी अपनी समस्याओं के साथ साहित्य की विषयवस्तु बन रहा था। तकषि विदेशी प्रभाव की आलोचना झेल चुके थे। इन सब कारणों से तकषि के लेखन में एक नया मोड़ आया जो इस युग के लेखन में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। 'भंगी का बेटा' एलैप्पी शहर के भंगियों की एक ऐसी यथार्थवादी कहानी है जिसमें एक भंगी चुहल मुत्तु ने नारकीय जीवन का अनुभव किया है, अपने पिता की लाश कुत्तों द्वारा खाई जाती देखी है। वह चाहता है कि उसका बेटा इस नरक से उबर आए इसलिए वह भंगियों का संगठन बनाकर आंदोलन के द्वारा भंगियों के जीवन में सुधार लाने का प्रयास करता है। किंतु आंदोलन के थोड़ा सफल होते ही आंदोलन को स्वार्थहित तबाह कर देता है और स्कूल में डाला गया उसका बेटा वहाँ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। अंततः उसका बेटा भंगी ही बनता है। इसके बाद आया तकषि का उपन्यास 'दो सेर धान' जिसने तकषि को कृषि जीवन की यथार्थपरक संवेदनशील तस्वीर उतारने के कारण मलयालम के अग्रणी उपन्यासकारों की श्रेणी में ला खड़ा किया है।

इस दौर में तकषि पर एक ओर तो मार्क्सवाद का गहरा प्रभाव लक्षित होता है, दूसरे उनकी यह समझ भी कि साहित्य द्वारा सामाजिक शक्तियों में हस्तक्षेप किया जा सकता है उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त होती दिखाई देती है। वे मानते हुए दिखाई पड़ते हैं कि साहित्य में समस्या के साथ समाधान भी होना चाहिए। हालाँकि उनकी यह सोच बाज़दफा उनकी रचनाओं के खिलाफ ही जाती दिखलाई पड़ती है। इसी तरह प्रेमचंद की रचनाओ में नियति के जिस तत्व को वे नकारते हैं, वह उनकी रचनाओं में आए बिना भी नहीं रह पाता। तकषि के इस दौर के लेखन पर एक समालोचक का यह कथन उचित ही है कि "यह ठीक है कि बंगला के रूमानी और फ्रांसीसी के यौन प्रभाव को तकषि ने काफ़ी पीछे छोड़ दिया और अब

लेकिन साथ ही राजनीतिक प्रभाव के कारण लेखन में वैचारिक तत्व का बाहुल्य रहा जिसने उसके कलात्मक पक्ष को काफ़ी दबा दिया।'

तीसरा चरण

लेकिन तकषि के तीसरे चरण के दौर के लेखन में तकषि वैचारिक पूर्वाग्रह से मुक्ति पा लेते हैं। यही कारण है कि वे सृजनात्मकता की ऊँचाइयों को छूने में सफल रहे। चेम्मीन (1955) के प्रकाशन के साथ ही उनकी रचना-यात्रा का तीसरा दौर शुरु होता है।

मलयालम उपन्यास शाखा को तकषि की देन

तकषि महाकथाकार हैं। साठ वर्ष वे कथा कहते रहे। पाँच सौ कहानियाँ, अड़तालीस उपन्यास, दो आत्मकथात्मक रचनाएँ, एक यात्रा विवरण, एक नाटक उनकी रचानाएँ हैं। आत्मकथा, यात्राविवरण आदि अनेक विधाएँ हैं, तो भी जब तकषि कहने लगते हैं तो वे सब कहानी बन जाती हैं। तकषि बड़ी सरलता से कहानियाँ कहते रहे जैसी कोई निकट बैठकर दुःख-सुख बतियाता है।

पहले वे कहानियाँ लिखने लगे। कविता पर भी प्रयोग किया है। लेकिन बीच में छोड़ दिया। जब वे स्कूल में पढ़ते थे तब से कहानी लिखने लगे। सारी की सारी दुःखपूर्ण कथाएँ। नित्यकन्यका, इनकलाब, घोषयात्रा, मानचुवट्टिल, पतिव्रता, प्रतीक्षकल, चंड़ातिकल, पुतुमलर, चंड़तिकल, अडियोषक्कुकल, ज्ञानपिरन्न नाड, चरित्रसत्यंगल आदि अनेक कहानी संकलन है। वे सब तकषि की कहानियाँ, चुनी कहानियाँ नामक ग्रंथ में अनन्तरकाले में प्रकाशित हुई हैं। 'तोट्टिल्ला' (पराजित नहीं हुआ) नामक एक नाटक लिखा। नाटकीयता से पूर्ण कहानियाँ लिखने के कारण नाटक रचना में उन्होंने अधिक ध्यान नहीं दिया। अमरीका पर्यटन के अनुभवों के आधार पर अमेरिकन तिरश्शीला। (अमेरिकन पर्दा) लिखा। आत्मकथात्मक दो रचनाएँ उन्होंने लिखीं। बडी विनम्रता से उन्होंने लिखा है कि आत्मकथा लिखने का महत्व मुझ में नहीं है, इसलिए कुछ अनुभवों को आलेखित कर रहा हूँ। स्मृति के तटों पर और मेरा वकील जीवन उनकी आत्म कथापरक रचनाएँ हैं। एक ही साथ दोनों को पढ लेने पर तकषि के संपूर्ण जीवन का बड़ा हिस्सा परिचित हो जाता है। बाकी रचनाएँ सबके सब उपन्यास हैं। लंबे चौडे रूप में अधिकाधिक कहने पर भी और कहते जाने की भावतीव्रता तकषि के उपन्यासों में मिलती हैं।

अड़तालीस उपन्यास लिखना किसी भी भाषा साहित्य में एक असाधारण बात है। लेकिन तकषि ने उसे कर दिखाया। सब भिन्न भिन्न विषयों को केन्द्र बिन्दु बनाकर। उनकी निरीक्षण क्षमता अपार थी। वे बड़े तीव्र अन्तर्मुखी नहीं थे। चारों तरफ़ के मानव को देखना, उनका परिचय प्राप्त करना, उनके सुख-दुखों की जानकारी लेना और उन्हें मन के किसी कोने में सुरक्षित रखना - इतने कार्य को बडी अवधानता से करते रहे। इसलिए सौ मनुष्यों की कथा कहने की शक्ति उन्हें प्राप्त हुई।

1934 में तकषि का अगला उपन्यास 'त्याग का फल' प्रकाशित हुआ। अगले वर्ष में 'पतित पंकज' निकाला गया। 1934 से 1998 तक उनके अड़तालीस उपन्यास प्रकाशित हो गये। औसतन डेढ वर्ष में एक उपन्यास। सुशील, परमार्थ, विल्पनक्कारी (बेचनेवाली) तलयोड (खोपड़ी) तोट्टियुडे मकन (भंगी का पुत्र) रंडिड़ंगषि (दो सेर) तेंडिवर्गम (भिखमंगे) अवन्टे स्मरणकल (उनकी यादें) चेम्मीन, औसेप्पिन्टे मक्कल (औसेप की सन्तानें) अंचु पेण्णुंगल (पाँच औरतें) जीवितम सुन्दरमाणु, पक्षे (जीवन सुन्दर है, लेकिन) एणिप्पडिकल (सीढियाँ) धर्मनीतियों अल्लजीवितम् (धर्मनीति ? नहीं जीवन) पाप्पिअम्मयुम मक्कजुम (पाप्पियम्मा और बच्चे) माँसत्तिन्टे विलि (माँस की पुकार) अनुभ्वड्ड़ल् पालिच्चकल (अनुभव और गलतियाँ) आकाश, चुक्कु (सोंठ) व्याकुलमाला, नेल्लुम तेड़ड़युम (चावल और नारियल) पेण्णु पेण्णयि पिरन्नाल (औरत औरत बन जने तो) नुरयुम पतयुम (फेन और बुदबुद) कोडिप्पोय मुखड़्डल (टेढ़े मुखड़े) कुरे मनुष्य रूटे कथा (कुछ मनुष्यों की कथा) अकतलम (अन्दर का अहाता) पुन्नप्र वयलारिनु शेषम् (पुन्नप्र वयलाकर के बाद) लघ्घु नोवलुकल (पाँच

लघु उपन्यासों का समाहार) कयर, बलूणुकल (बलूण) ओरू मनुष्यन्टे मुखम् (एक मनुष्य का मुख) ओरू प्रेमतिन्टे बाकी (एक प्रेम की बाकी) एरिञ्ञडङ्ड़ (जलकर थम जाना) अषियाक्कुरुक्कु (उलझे फंदे) आदि अनेक विख्यात उपन्यास हैं। इनमें अतिविख्यात रचनाएँ हैं:- पतित पंकज, तोट्टियुटे मकन, रंडिङ्गषि, चेम्मीन, औसेप्पिन्टे मक्कल, एणिप्पडिकल, अनुभ्वड्ड़ल पालिच्चकल, चुक्कु, कयर, बलूणुकल आदि। इनमें से बहुतेरों की फ़िल्में बनी हैं।

किसी भी साहित्य में उपन्यासों की संख्या भी अधिक है। मलयालम साहित्य भी इससे भिन्न नहीं है। उपन्यासकारों की संख्या भी अधिक है। लेकिन मौलिक प्रतिभावालों को चुनने पर संख्या कम पड़ती है। एक लेखक की साहित्यिक भेंट का मूल्यांकन कुछ विशिष्ट कार्यो के आधार पर किया जाता है। उनमें कुछ हैं - एक नयी रीति का प्रारंभ करना, मार्गान्तर की सृष्टि करना, विख्याति के कारण अनुकरणीय होना, मौलिक प्रति के कारण अननुकरणीय होना, व्यक्तिरिक्त विशेषता का धनी होना आदि। तकषि के संबंध में ये सारी विशिष्टताएँ सही निकलती हैं।

तकषि की सबसे बडी विशिष्टता उनकी अपनी अभिव्यक्ति शैली है। कुट्टनाड की परिस्थिति, संस्कृति एंव इतिहास के तथ्यों से रूपायित है उनकी शैली जिसे दूसरा कोई अपना नहीं सका है। रंडिङंगषि नामक उपन्यास में और अनेक कहानियों मे यह विशिष्टता व्यक्त होती है। 'कयर' नामक उपन्यास में लगभग दो सदियों की कहानी बतायी गयी है। उसकी सबसे बडी विशिष्टता यही है कि उसमें काल के अनुरूप भाषा की सृष्टि की गयी है। इसी विशिष्ट शैली के कारण उनके उपन्यासों को सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त होती है। मलयालम प्रदेश, विशेष कर कुट्टनाड उनके उपन्यासों में स्वयं कथापात्र के रूप में प्रत्यक्ष होता है।

विषय वैविध्य उनकी रचनाओं को आकर्षक बनाता है। एणिप्पडिकल, चेम्मीन, चुक्क, अनुभवड्डल पालिच्चकल आदि उपन्यास इस के उदाहरण हैं। अम्पलप्पुषा, तिरूवनन्तपुरम जैसे विभिन्न स्थानों में रहकर तकषि ने जो अनुभव प्राप्त किये उन्हीं के कारण वे इसके लायक बने। नब्बे प्रतिशत उपन्यासों में सामाजिक जीवन का चित्रण पाया जाता है। लेकिन साधारणतया उपन्यासकार ने अस्वस्थ भावों को हटाकर पाठकों को रस प्रदान करने के लिए अनेक उपन्यासों की रचना की है। नैतिकता की ईमानदारी उन्हें प्रियकर लगती थी। इसलिए बनावटी नैतिकता की क्रियाओं का उन्होंने बड़ी स्पष्टता से चित्रण किया है। यह रीति सामाजिक मन को विह्वल करनेवाली थी जैसे आधी रात को सूर्योदय होता है।

स्वतंत्रता, समता, सौहार्द जैसे आशयों को और श्रमिक वर्ग के अधिकारों का तकषि ने अपने उपन्यासों के द्वारा प्रचार दिया। किसी एक दल के सदस्य बनकर नहीं लेकिन सामाजिक हित चाहने वाले और मनुष्यतत्व को महत्व देने वाले व्यक्ति के रूप में समाज के प्रति अपने दायित्व को वे निभा रहे थे। सर्वहारा, बेरोज़गार, भंगी, भिखमंगे, वेश्याएँ आदि उनके उपन्यासों के पात्र बने। तकषि की दृष्टि में ये सारे पात्र सभी प्रकार के नागरिक अधिकार रखनेवाले मानव हैं। नायक संकल्पना में यही नया परिवर्तन था। कुलीन, संभ्रान्त, कुबेरे, प्रतापी, सुन्दर आदि वेशेषण नायक के लिए आवश्यक थे, लेकिन तकषि ने उन सब का निराकरण किया। पर, इन विशिष्टताओं से मुक्त लोग भी उनके उपन्यासों के नायक बने। इस प्रकार तकषि अपने उपन्यासों में समाज का समग्र चित्र प्रस्तुत कर सके।

तकषि ने इस प्रकार के उपन्यास लिखे जो जादुई शक्ति से भरे थे और पाठकों को अपनी ओर आकृष्ट कर सकें। उनके कुछ उपन्यासों की यह भी विशिष्टयता थी कि दो-तीन महीनों में उनका दूसरा संस्करण निकलता था। तकषि ने जनता की कहानी कही। उस कहानी को बडी सरलता से और सरसता से उन्होंने कहा। उनके समीक्षकों ने स्वीकार किया है कि उन सभी रचनाओं में यह गुण विद्यमान है।

तकषि की उल्लेखनीय देन यही है कि मलयालम उपन्यास को उन्होंने विश्व उपन्यास की ऊँचाई तक पहुँचाया। विश्व भाषाओं में प्रवेश प्राप्त दूसरा कोई मलयालम लेखक नहीं है। चेम्मीन जैसी विश्वविख्यात दूसरी मलयालम रचना भी नहीं है। तकषि ने मलयालम उपन्यास शाखा को जो देन दी है वह अन्यादृश अवश्य है।

चेम्मीन जैसी विश्वविख्यात दूसरी मलयालम रचना भी नहीं है। तकषि ने मलयालम उपन्यास शाखा को जो देन दी है वह अन्यादृश अवश्य है।

1.6 सारांश

आपने देखा किस प्रकार तकषि शिवशंकर पिल्लै अपनी गहन संवेदनात्मक दृष्टि और अपने लोगों से असीम प्रेम के बलबूते पर सृजनात्मक लेखन की अतुलनीय ऊँचाइयों तक पहुँचते हैं। उनका जीवन आम लोगों की तरह साधारण जीवन ही रहा है। लोगों के सुख दुख पीड़ाएँ, अभाव को उन्होंने करीब से देखा और जाना है। उनके साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में उनके आसपास के इस माहौल ने और उनके अपने जीवन ने भी बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। उनकी साहित्यिक समझ, जीवन दृष्टि, अनुभव की परिपक्वता के साथ बदलती रही है। किंतु अंत तक अपने लेखन में जिस चीज़ का उन्होंने कभी साथ नहीं छोड़ा वह था - आम आदमी को और उसके सुख दुख भरे जीवन को ही अपने साहित्य के केंद्र में रखना।

1.7 प्रश्न

1 तकषि के जीवन परिचय एवं कृतित्व पर प्रकाश डालिए।

2 तकषि के साहित्यिक व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक घटक कौन कौन से रहे हैं ?

इकाई 2 चेम्मीन : युग परिवेश

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 बीसवीं सदी के आरंभ में केरल : सामाजिक/राजनीतिक स्थिति

2.3 मलयालम में उपन्यास लेखन की परम्परा

2.3.1 आरंभिक उपन्यास

2.3.2 अनूदित उपन्यास

2.4 चेम्मीन और सामाजिक अवबोध

2.5 सारांश

2.6 प्रश्न

2.0 उद्देश्य

इस खण्ड की यह दूसरी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन से आप चेम्मीन के युग परिवेश के बारे में परिचित हो सकेंगे। उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरंभ में केरल में राजनीतिक, सामाजिक परिस्थितियाँ कैसी थी यह भी जान सकेंगे। उस समय मलयालम में साहित्यिक परम्परा कैसी थी इसका अध्ययन भी इस इकाई में आप करेंगे। और अंत में चेम्मीन का सामान्य परिचय भी प्राप्त करेंगे।

2.1 प्रस्तावना

उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग और बीसवीं सदी के प्रारंभ का केरल, देश के अन्य भागों से पूरी तरह अछूता नहीं था। राजनीतिक भूभाग की दृष्टि से भी यह वैसा केरल नहीं था जैसा कि आज हम इसे जानते हैं। अंग्रेज़ी शासन के दौरान विभिन्न रियासतों का नियंत्रण विभिन्न राजाओं, शासकों के हाथों में रहता था। केरल की भी यही स्थिति थी। सामाजिक दृष्टि से केरल में सामंती सभ्यता के अवशेषों से लड़ाई जारी थी। स्वतंत्रता आंदोलन का, अन्य सामाजिक आंदोलनों का प्रभाव केरल के समाज पर भी पड़ रहा था। कई सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के लिए यहाँ कई आंदोलनों का सूत्रपात हुआ। इन सभी परिस्थितियों में यहाँ का साहित्य भी अपनी स्थानीय भूमि में रंग कर विकसित होता दिखाई पड़ता है। मलयालम उपन्यास की परम्परा कैसी रही है, के अलावा इन परिस्थितियों का अध्ययन भी चेम्मीन को जानने-समझने में सहायक और ज़रूरी है। तो आइए, सबसे पहले केरल की इन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों को जानें।

2.2 बीसवीं सदी के आरंभ में केरल : सामाजिक/राजनीतिक स्थिति

सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में केरल में भी सामंती सभ्यता का वैसा ही समाज था जैसा कि देश के अन्य भागों में था। समाज के अधिकांश लोग गुलामी का-सा जीवन व्यतीत करते थे। ये लोग छोटी जाति के थे। समाज में ऊँच-नीच का खूब बोलबाला था। ऊँची-जाति के लोगों के विरोध की बात सोचना भी मुश्किल था। 19वीं सदी के अंत तक आते नेपथ्य में सामाजिक क्रांति के बीज पनपने लगे थे। केरल के समाज में भी बंगाल के नवजागरण का-सा माहौल बन रहा था। प्रशासनिक तंत्र, भूनियम, शिक्षा, धर्म, समुदाय गठन, पत्रकारिता,

स्वतंत्रता संग्राम, नागरिक अधिकार आदि सामाजिक-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में नव जागरण की लहर एक नवोत्थान के रूप में फैल रही थी।

वास्तव में 1901 से 2000 तक की बीसवीं सदी के दौरान केरल की सामाजिक स्थिति में बहुत परिवर्तन हुए हैं। विश्वभर में हुए बौद्धिक परिवर्तनों, औद्योगिक विकास, भौतिक विज्ञान की प्रगति, महायुद्धों की टकराहट, विभीषिका आदि ने भी इस परिवर्तन की शक्ति और तीव्रता को बढ़ावा दिया है। इसलिए बीसवीं सदी में केरल के समाज में जो भी विकास हुआ, जो भी पारिस्थितिक परिवर्तन दिखाई पड़े, उन सब की जड़ें 19वीं सदी के अंतिम दशकों में ही पनपने लगी थीं।

19वीं सदी के अंत में केरल के सामाजिक क्षेत्र में शुरू हुए परिवर्तनों का लक्ष्य, सामंती सभ्यता की भीषणताओं और दुष्परिणामों से मुक्ति पाना था। उस समय का केरल राज्य आज के केरल राज्य से भिन्न था। उस समय केरल मालाबार, कोच्ची और तिरुविन्ताकूर नामक तीन अलग-अलग राज्यों में बँटा हुआ था। मलाबार राज्य (उत्तरी केरल) ब्रिटिश सत्ता के प्रत्यक्ष शासन के अधीन था। कोच्ची (मध्य केरल) और तिरुविंताकूर (दक्षिण केरल) ब्रिटिश सत्ता को मानने वाली रियासतें थीं मालाबार राज्य के लिए आवश्यक विधान मद्रास सरकार बनाती थीं। इसलिए कोच्ची और तिरुविंताकूर रियासतों की अपेक्षा वहाँ भिन्न सामाजिक परिस्थितियाँ थीं। कोच्ची और तिरुविंताकूर रियासतें ब्राह्मणों के अधीन थीं। शासन का लक्ष्य मानो ब्राह्मणों के हित की रक्षा ही था। इसलिए अवर्णों को छुआछूत, जातिभेद के पागलपन, शोषण की मार झेलनी पड़ती थी। कांग्रेस द्वारा आज़ादी की लड़ाई के लिए शुरू किए गए कार्यों, साम्यवादी विचारधारा के फैलने तथा धर्म प्रचारकों के शिक्षा कार्यों ने केरल में इस स्थिति में परिवर्तन लाना शुरू किया।

ब्रिटिश शासन के तहत मालाबार की जनता को नागरिक अधिकारों का अनुभव सबसे पहले हासिल हुआ। 1792 में मालाबार में गुलामी तिरोहित हुई। अवर्ण जनता को सीमित रूप में ही सही, सरकारी नियुक्तियों में जगह और मुक्त रूप से चलने-फिरने की आज़ादी ब्रिटिश सरकार के कारण हासिल हुई। सारे जातिगत अवरोधों को हटाने में ब्रिटिश सरकार असमर्थ थी। छुआछूत जैसी प्रथा तो चलती रही। 1855 में अपने राज्य में गुलामी को हटाने के लिए तिरुविंताकूर का राजा भी प्रेरित हुआ। राजा को इसके लिए प्रेरित करने वाले समाज में काफ़ी सामाजिक गतिविधियाँ मौजूद थीं। धर्म के प्रचार के लिए मिशनरियों का सामाजिक कार्य भी ऐसी ही एक महत्वपूर्ण गतिविधि थी। 1806 से 1840 के दौरान ऐसी मिशनरियों ने नागरकोविल, कोट्टयम, कोषिक्कोड, कण्णनूर आदि स्थानों में अंग्रेज़ी स्कूलों एवं कॉलेजों की स्थापना की। उन्होंने अवर्णजाति के लोगों से किसी छुआछूत भेद को नहीं दिखाया। उसके बदले उन्हें मनुष्य माना, शिक्षा प्रदान की, स्वास्थ्य संबंधी सुविधाएँ मुहैय्या करवाईं। फलतः उन लोगों ने स्वयं अपने हित की खातिर ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। अंग्रेज़ी शिक्षा के ज़रिए समता एवं भाईचारे की विचारधारा प्रवाहित हुई। धर्मपरिवर्तन के मुद्दे को लेकर आज समाज में जो उथल-पुथल चल रही है और ज़बरन धर्म परिवर्तन की जिस बात को झूठे ही स्थापित करने की चेष्टा हो रही है, उसमें इस बात को समझने की कोशिश ही नहीं की जा रही है कि क्यों तमाम मजलूम लोग अपना धर्म परिवर्तन करने को विवश होते हैं। सवर्ण लोगों द्वारा अवर्ण लोगों पर किए गए अत्याचारों का यदि पूर्ण खुलासा किया जाए तो ही पता चलेगा कि सवाल धर्म परिवर्तन का नहीं बल्कि सवर्ण जातियों को अपने व्यवहार, दृष्टि में आमूलचूल परिवर्तन करने की आवश्यकता अधिक है। यही वह कारण है कि केरल के समाज में अवर्ण लोगों ने ईसाई धर्म स्वीकार किया। समाज में मानवीयता, नागरिक अधिकार, व्यक्ति स्वतंत्रता आदि विचार भी प्रचलित हुए। मनुष्य को अपने अधिकारों के ज्ञान का एहसास हुआ। जो गुलामी विरोध, चलने-फिरने की स्वतंत्रता, अवर्णजाति की स्त्रियों की छाती ढकने और इच्छानुसार स्वर्णाभूषण पहनने की स्वतंत्रता, विद्यालयों एवं आराधनालयों में प्रवेश पाने का अधिकार आदि लोकतांत्रिक अधिकारों की पूर्ति के लिए केरल भर में अनेक आंदोलन चले। 1859 में स्त्रियों को अपनी छाती ढकने का अधिकार मिला। 1865 में चलने-फिरने की स्वतंत्रता भी दी गयी, हालाँकि अवर्ण जाति के लोगों को मंदिरों में प्रवेश पाने की राज-घोषणा के लिए 1932 तक प्रतीक्षा करनी पड़ी।

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों की केरल की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाला प्रधान घटक था स्वतंत्रता संग्राम की तीव्रगति।सामंती शासन के अधीन असीम अधिकारों से युक्त दीवान (प्रधानमंत्री) यहाँ की कुल नियुक्तियों का सत्तर प्रतिशत भाग और सभी ऊँचे पद सारे के सारे तमिष ब्राह्मणों को दे देते थे। ये नियुक्तियाँ राज्य के बाकी लोगों को प्राप्त हों, इस माँग को लेकर अनेक अभियान चलाये गये जिनमें मुख्य हैं मलयाली मेमोरियल (1891) और ईषव मेमोरियल (1896) अभियान। उसी काल के आस-पास (1905) में 'स्वदेशाभिमाना' पत्र ने राजशासन के विरुद्ध ऊँगली उठायी और जनशासन का आह्वान किया। उसका परिणाम था पत्र के संपादक रामकृष्ण पिल्लै को देश निकाला मिलना (1910) फिर भी जनशासन तंत्र की विचारधारा राज्यभर में प्रचरित हुई। इस राजनीतिक विचारधारा की लोकप्रियता से कांग्रेस के प्रचार के लिए अनुकूल वातावरण बना।

कांग्रेस के कार्यकलाप केवल स्वतंत्रता की माँग तक ही सीमित नहीं रहे। 1920 में मंचेरी में आयोजित कांग्रेस सम्मलेन में पारित विभिन्न प्रस्ताव इस बात की ताईद करते हैं: वाइसराय को वापस बुलाओ, राउलट एक्ट चालू करो, खिलाफत-असहयोग आन्दोलनों में सहयोग दो, प्रविश्या प्राविन्स को स्वायत्त शासन प्रदान करो, कृषि में सुधार लाओ, पट्टेदारों और अधिवासी कृषकों को भूमि पर पूर्ण स्वत्वाधिकार दो, अधिवासी निष्कासन को बन्द करने के विधान की माँग इत्यादि। 1920 में गांधीजी और शौकत अली ने केरल का भ्रमण किया था। 1921 के मंचेरी कांग्रेस अधिवेशन पर उसका प्रभाव दिखाई पड़ा। सम्मेलन में जितनी भीड़ लगी थी उतनी कोषिक्कोड ने कभी नहीं देखी थी। जब से कांग्रेस ने मन्दिर प्रवेश, छुआछूत विरोध आदि समस्याओं को अपने हाथों में लिया तब से उसकी लोकप्रियता बढ़ने लगी। 1938 में तिरुविंताकूर स्टेट कांग्रेस के गठन के साथ ही सामाजिक सुधारों की माँग की प्रासंगिकता भी बढ़ने लगी।

समाज के नेताओं ने सामाजिक संगठन बनाकर जो अभियान लाये, उन अभियानों ने केरल के सामाजिक जीवन में समग्र-परिवर्तन कर डाला। अवर्ण जाति के श्रीनारायण गुरू ने श्रीनारायण धर्म परिपालन योग (1903) और श्री अय्यानकाली ने साधुजन परिपालन योग (1907) की स्थापना की। इन संगठनों द्वारा अवर्ण जाति के लोगों का आत्मगौरव और नागरिक बोध अधिकाधिक बढ़ा। नायर जाति के लोग ब्राह्मणों के सेवक और कारिन्दे थे। नायर स्त्रियों से ब्राह्मणों का 'संबंध' (रखैल जैसा विवाहेतर संबंध) रहता था तो उनके प्रति भी ब्राह्मण छुआछूत मानते थे। मन्नतु पद्मनाभन ने नायर जनता की सांस्कृतिक प्रगति के लिए नायर सर्विस सोसायटी (1914) की स्थापना की। उसके पहले ब्राह्मण-समाज के अनाचारों को दूर करने के लिए नम्पूतिरि योग क्षेम सभा (1907) का गठन हो चुका था। केरल के सभी जाति वालों ने अपने-अपने सामाजिक संगठन बनाये लेकिन किसी भी संगठन में नेता दूसरा नहीं हुआ जिसमें विद्या, आत्मीय तेज, कर्मठता आदि गुण विद्यमान हों। जाति-धर्म के ऊपर सोचने में, सभी लोगों को समन्वित करने में वे सफल बनें।

सवर्ण-अवर्ण भेद-भाव जैसे हिन्दूधर्म के अनाचारों का हिन्दूधर्म के सिद्धान्तों के सहारे ही विरोध किया। अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार केरल के सभी समाज के लोगों को श्रीनारायण गुरु ने सांस्कृतिक एवं आत्मपरक जागरण के लिए प्रेरित किया।

सामाजिक परितर्वनों की भूमिका में भू-नियमों में आए बदलावों का भी काफ़ी योगदान रहा। सारी भूमि भंडार (शासनसत्ता) की थी। फिर भी उनका स्वामित्व नम्पूतिरियों और नायरों को प्रदान किया गया था। अवर्ण जाति के लोग और माप्पिला (मुसलमान) पट्टेदार रहते थे। अधिवासियों का जीवन कष्टतापूर्ण ही बना रहता था। गुलामों की तरह काम करना और भूस्वामी के आदेशानुसार भूमि से बेदखल हो जाना - इसके अलावा दूसरा कोई रास्ता भी नहीं था। 1865 से भूमिसुधार नियम लागू हो गया। भूमि से बेदखल करने की प्रथा का विरोध, अधिवासियों को स्वामित्व देना, भूमि की सीमा निर्धारित करना आदि कार्य इस काल में कानून द्वारा लागू कर दिये।

अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रचार से पत्रकारिता क्षेत्र में अपूर्व प्रगति हुई। जून 1847 में रूराज्यसमाचार रू नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित करते हुए डॉ. हेर्मन गुण्डर्ट ने केरल में पत्रकारिता का श्रीगणेश किया। इस क्षेत्र में भी मिशनरियों ने प्रारंभिक कार्य किया था। 1888 मे मलयालम मनोरमा, 1911 में केरलकौमुदी, 1922 में मातृभूमि आदि पत्र प्रकाशित हुए जो आज भी निकल रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशकों में अनेकानेक नये पत्र निकले। देश की एवं व्यक्ति की स्वतंत्रता, आर्थिक स्वतंत्रता, जनतंत्र शासन, साम्यवाद, समाजवाद आदि नये-नये लोकतांत्रिक एवं क्रांतिकारी विचारों ने सामाजिक परिवेश में उथल-पुथल मचा कर उसे गतिशील कर दिया। इन परिवर्तनों को जनता तक पहुँचाने में पत्र-पत्रिकाओं ने बहुत योगदान दिया। इस यत्न के परिणामस्वरूप कई बार उन्हें देश निकाला जैसी पीड़ाओं को सहना पड़ा था। तकषि ने उस काल को साहित्य एवं जीवन के गतिरोध का काल कहा है। उस रोध को हटाकर उसे नये मार्ग की ओर अग्रसर करने का दायित्य तकषि जैसे लोगों ने निभाया।

2.3 मलयालम में उपन्यास लेखन की परम्परा

सभी बड़े लेखकों एवं रचनाकारों की अपनी-अपनी लेखन शैली एवं जीवनदर्शन होता है। इसके अलावा प्रत्येक युग के साहित्य की अपनी अलग विशेषताएँ और रचनाशिल्प होता है। जो उस युग, समाज की राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक परिस्थितियाँ तय करती हैं। उदाहरण के रूप में साहित्य की क्लासिक रीति को लें। उस दौरान साहित्य और कला उच्च बौद्धिक स्तर के कल्पनाशील रचनाकारों का कार्यक्षेत्र था। इसी प्रकार यथार्थवाद, प्रकृतिवाद, अस्तित्ववाद आदि अलग-अलग सामाजिक दशाओं और उनके प्रति कथाकार की प्रतिक्रिया से रूपायित होते हैं।

बीसवीं सदी के आरम्भ में मलयालम साहित्य में स्वछन्दतावादी प्रवृत्ति अधिकतर काव्य में ही अभिव्यक्त होती थी। चमत्कारी भाषा काव्य की विशिष्टता मानी जाती थी। लेकिन गद्य लेखन, विशेषकर उपन्यास में यह बात नहीं थी। उपन्यासों में यथार्थ शैली के दर्शन होते हैं। मलयालम साहित्य के प्रथम उपन्यासकार ओ.चन्तुमेनोन का कथन है - 'मैंने घर में प्रयुक्त होने वाली भाषा में उपन्यास लिखा।' इस कथन से स्पष्ट है कि वे सवर्ण, मध्यवर्गीय परिवारों में प्रयुक्त होने वाली भाषा की बात कर रहे हैं। चन्तुमेनोन के उपन्यासों में कल्पना का अद्‌भुत कौशल दिखाई पड़ता है।

प्रारंभिक मलयाली उपन्यासों में स्वछन्दतावाद और यथार्थवाद का मिश्रण दिखाई पड़ता है। इस दौर के दोनों प्रतिनिधि उपन्यासकारों में ये दोनों प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। दोनों लेखक वर्तमान सामाजिक संरचना तथा मूल्य व्यवस्था का विरोध नहीं करते हैं। सी.वी. रामनपिल्लै सामंती शासन की अच्छाइयों को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं और चन्तुमेनोन व्यक्ति स्वतंत्रता का विरोध करने वाली रीति-नीतियों की निंदा करते हैं। दोनों को इसका अनुभव नहीं है कि वर्तमान व्यवस्था में आमूल परिवर्तन के लिए कोई ज़रूरी घटक समाज में मौजूद हैं या नहीं। केवल कांग्रेस की चर्चा करते समय चन्तुमेनोन के लेखन में नवोत्थान की प्रवृत्तियों का हल्का सा इशारा दिखाई पड़ता है।

दूसरी पीढ़ी ने नवोत्थान विचारधारा एवं स्वतंत्रता संग्राम को एक साथ मिलाकर देश प्रेम पर आधारित साहित्य शैली अपनायी। उसमें कांग्रेस एवं गांधीजी के आदर्शों (देशप्रेम और अहिंसा) को मुख्य स्थान मिला था। इन मूल्यों पर विश्वास होने के कारण व्यक्ति स्वातंत्र्य, सामाजिक नीति, शिक्षा प्रकार, छुआछूत उन्मूलन आदि सामाजिक परिवर्तन प्रक्रिया को अहिंसा, असहयोग, सत्याग्रह आदि समर तंत्रों ने नियंत्रित रखा। कुछ लोगों का विश्वास था कि सामाजिक उथल-पुथल की शक्ति और तीव्रता इन आशयों पर आधारित साहित्य में नहीं है और इसलिए वे समाजवादी एवं मार्क्सवादी रास्तों को अपनाने लगे।

सामाजिक समानता के लिए तृषित मानसों में समाजवाद और मार्क्सवाद अग्निज्वाला बनकर प्रकट हुए। वे पहचान सके कि सामाजिक समानता को रोधित करने वाली शक्ति भूस्वामी - धनी - पुरोहित वर्गों का संघ है। इस संघ की सहायता लेकर धनी वर्ग - निर्धन वर्ग का

शोषण करते हैं। इसलिए सामाजिक नीति के लिए लड़ने का आह्वान देते हुए साहित्य आमजन के पक्ष में नव पथ में प्रविष्ट हुआ। सामाजिक समानता एवं आर्थिक समानता चाहने वाले लोगों ने आवेग और आश्चर्य के साथ अक्टूबर क्रांति की ओर दृष्टिपात किया। इस परिवर्तनगामी घटना पर साहित्यकारों ने रचनाएँ की। उन्होंने उस रीति को जीवन साहित्य, प्रगति साहित्य जैसे नाम दिये। 1937 में प्रगति साहित्य एक अभियान के रूप में सामने आया। केरल में ही नहीं सारे भारत के साहित्यकार इस दिशा में सोच रहे थे। समीक्षकों में एम.पी. पोल, केसरी बालकृष्ण पिल्लै, जोसेफ मुण्डशेरी आदि सामाजिक परिवर्तन के पक्ष में खड़े हुए। इस नई रीति से कहानी एवं उपन्यास को अधिक लाभ पहुँचा। तकषि, केशवदेव बशीर, पोट्टेक्काट, पोनकुन्नम वर्की आदि ने सामाजिक असमानता, शोषण नीति, अनीति आदि को अपनी रचनाओं का विषय बनाकर अनेक कहानियाँ और उपन्यास रचे।

प्रगतिशील विचारधारा के साथ उभर आयी दूसरी एक धारा पर भी विचार करें तो तकषि के जीवन काल की पूर्ण विशिष्टता सामने आ जाएगी। प्रगतिशील साहित्यकारों को यथार्थवादी शैली पसन्द थी। यथार्थ शैली को अधिकाधिक सत्यपूर्ण एवं तथ्यपूर्ण बनाने के लिए प्रयास में कलातत्व एवं वस्तु में अधिक अन्तर न रहा था। भाव तत्व एवं कल्पनातत्व का समावेश भी बहुत कम रहा। यहाँ तक कहा जाने लगा कि कोई भी व्यक्ति, प्रगतिशील साहित्यकार बन सकता है। क्योंकि श्रमिक वर्ग की सत्ता, आर्थिक समानता, सामाजिक क्रांति आदि, विषयों को कलासृष्टि मे समाविष्ट करना ही यथार्थवादी लेखन माना जा रहा था। इसी संदर्भ में रूपभद्रतावादी मनीषियों का प्रवेश हुआ, जिन्होंने कहा कि भावों की अभिव्यक्ति भद्र रूपों में होनी चाहिए। वस्तु जो भी हो, विषय कोई भी हो, अभिव्यक्ति सुन्दर होनी चाहिए तभी वह कला कहलाने योग्य बनेगी। इस आशय को भी अनन्तरकाल में एक वर्ग के द्वारा मान्यता मिल गयी।

समाज के यथार्थ को प्रतिबिंबित करने वाला दर्पण है साहित्य। समाज की सुस्थिति को स्थायी बनाने की मनोदशा सहृदयों में उत्पन्न करने की क्षमता उपन्यासकार में होनी चाहिए। टालस्टाय ने कहा है, "कला का दायित्व भारी है। कला की प्रेरणा के ज़रिए और विज्ञान एवं धर्म के शांतिपूर्ण समन्वय से (बाहरी ताकतों की प्रेरणा अथवा दबाव के बिना) मनुष्य के स्वतंत्र और आनन्दकारी कार्यकलाप साध्य हो जाएँ।" जो उपन्यास इसके योग्य न हों, वे सौन्दर्य एवं मूल्य की दृष्टि से पराजित हो जाएँगे। उपन्यास का आधारभूत तत्व यह है कि उसे किसी मूल्य पर टिके रहना चाहिए।

2.3.1 आरंभिक उपन्यास

आधुनिक मलयालम साहित्य में गद्य में कथा कहने की रीति दिखाई पड़ती है। लेकिन कथाकथन मलयालम के लिए उसके पूर्व अपरिचित नहीं था। पहले पद्यों में अथवा गीत शैली में कथा कहने की रीति प्रचलित थी। उपन्यास शैली अंग्रेज़ी शिक्षा के साथ प्रारंभ हुई। यह स्वतंत्र एवं असीम संभावनाओं वाली शैली थी। इसलिए जल्दी ही इसने साहित्य में अपनी जगह बना ली। मलयालम उपन्यास का प्रारंभ ही अपने वैविध्यपूर्ण रूपों को प्रकट करते हुए हुआ था। सामाजिक, ऐतिहासिक, जासूसी, राजनीतिक आदि भिन्न प्रकार के उपन्यास आरंभिक रचनाओं में उपलब्ध हैं।

श्रीमती कोलिन्स का 'घातक वध' (1878) आर्च डीकन कोशी का 'पुल्लोलि कुंजु' (1882) अप्पु नेटुंगाडी का 'कुन्दलता' (1887) आदि मलयालम के प्रारंभकालीन उपन्यास हैं। 'घातक वध' सामाजिक उपन्यास है। ईसाई धर्म में परिवर्तित एक निम्न जाति के व्यक्ति को सिरियन ईसाई लोग अपने समाज में प्रविष्ट नहीं होने देते थे। यही इसकी कथावस्तु है। उपन्यास में इस बात की निन्दा की गयी है। इस दृष्टि से यह एक सामाजिक उपन्यास है लेकिन उपन्यास की रचना शैली और आख्यान रीति सामान्य नहीं है।

पुल्लेलिकुंजु नामक उपन्यास में हिन्दू-ईसाई संवाद है। वर्ण विवेचन एवं मूर्ति पूजा संवाद के विषयों में सम्मिलित है। यह उपन्यास प्रबोधनात्मक है तो भी कथाकथन की चारुता इसमें नहीं है। 'घातक वध' इसकी अपेक्षा अच्छी रचना है।

उपर्युक्त दोनों उपन्यास पहले लिखे गये हैं तो भी साहित्य के इतिहास में 'कुन्दलता' को प्रथम उपन्यास माना जाता है। इसकी कथावस्तु शेक्सपीयर के सिंबलिन से ली गयी है। इसलिए उपन्यास की मौलिकता की दृष्टि से 'घातक वध' पहले आता है। 'कुन्दलता' की वर्णन शैली, भाषा की सरसता, कथा की रसिकता आदि पाठकों को आकृष्ट करने वाली है। 'इन्दुलेखा' दो वर्षों के अन्तर में प्रकाशित हुआ, लेकिन गुणवत्ता की दृष्टि से यह अन्तर पच्चीस वर्षों का लगता है।

प्रबंधन की दृष्टि से सम्पूर्ण उपन्यासों की रचना कुन्दलता के बाद ही होने लगी। पहला उपन्यास ओ. चन्तुमेनोन का 'इन्दुलेखा' (1889) है। साहित्य के इतिहास इन्दु लेखा को मलयालम का प्रथम लक्षणयुक्त उपन्यास मानते है। चन्तुमेनोन अनेक पाश्चात्ये उपन्यासों के रसिक पाठक थे। बीकन्स फील्ड के 'हेन्टिटा टेंपिल' और जेईन ओस्टिन के 'प्राइड एण्ड प्रेजडिस' की तरह का एक उपन्यास लिखने की इच्छा उनमें हुई। सामन्ती सभ्यता के अन्तिम चरण में मातृदाय क्रम से पितृदाय क्रम में परिवर्तित होने के इच्छुक एक केरलवासी की कथा इन्दुलेखा में वर्णित है। माधव और इन्दुलेखा नामक कथापात्रों के द्वारा उस परिवर्तन की और उसकी प्रेरक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की कहानी बनायी गयी है। अंग्रेज़ी शिक्षाप्राप्त नायक-नायिका हैं माधव और इन्दुलेखा। ये दोनों पात्र व्यक्ति स्वतंत्रता, आर्थिक समानता, पितृदाय क्रम, सुदृढ़ विवाह संबंध, स्त्री-पुरुष को आधुनिक शिक्षा मिले, इन बातों के पक्षधर हैं। चन्तुमेनोन अपने काल में प्रचलित सामाजिक नीतियों के विरोधी थे। वे नीतियाँ थीं - सौ से अधिक सदस्यवाला मिला जुला परिवार, नाममात्र की आर्थिक स्वतंत्रता, अल्प संस्कृत ज्ञान और श्रृंगार श्लोकों में सीमित शिक्षा, शिक्षा का अधिकार केवल एक या दो व्यक्तियों के लिए, अव्यवस्थापित विवाह संबंध, उससे जन्म लेने वाले बच्चों से पिता का छुआछूत मानना आदि।

चन्तुमेनोन का दूसरा उपन्यास 'शारदा' (1892) अपूर्ण है। शारदा के ज़रिये स्नेह-विद्वेषों के अधीनस्थ होकर स्नेह-विद्वेषों में जीने वाले मनुष्य की प्रकृति का चित्रण करना लेखक का लक्ष्य था। उस लक्ष्य को प्राप्त करने का अवसर उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। इसमें एक लम्बे मुकदमे की कथा है। चार उपन्यासकारों ने अधूरे उपन्यास को पूरा करने का प्रयत्न किया, तो भी प्रश्न अनुत्तरित रह गया है कि चन्तुमेनोन की क्या कथा थी।

प्रारंभ काल के दो उपन्यासकारों में दूसरा है सी.वी. रामनपिल्लै। उन्होंने मार्ताण्ड वर्मा (1891) धर्मराज (1917) रामराजा बहादुर (1920) नामक ऐतिहासिक उपन्यास और 'प्रेमामृत' नामक सामाजिक उपन्यास लिखे। सी.वी. पाश्चात्य उपन्यासों से परिचित थे। वाल्टर स्कोट के 'ऐवान हो' की रीति में उन्होंने मार्तण्ड वर्मा की रचना की। तीनों ऐतिहासिक उपन्यासों में तिरुवितांकूर रियासत का इतिहास है। इतिहास के साथ-साथ अनेक काल्पनिक कथापात्र और घटनाएँ भी हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना में सी.वी. के समकक्ष रखने योग्य उपन्यासकार मलयालम साहित्य में नहीं हुआ है। उनकी आलंकारिक एवं चमत्कृत शैली में किसी भी विषय को असाधारण और आश्चर्यपूर्ण बनाने की शक्ति है। 'व्यक्तित्व ही शैली है' कथन का उत्तम प्रतीक है सी.वी. रामनपिल्लै। 'प्रेमामृत' उनका सामाजिक उपन्यास है, लेकिन उसको उतना महत्व प्राप्त नहीं है। राज पक्ष एवं सत्य पक्ष दोनों को महत्व दिया है सी.वी. ने। परंपरा और वंश महिमा पर उनका विश्वास था, लेकिन उनकी रचनाओं से व्यक्त हो जाता है कि मानव जीवन अनन्त महाप्रवाह है। उनकी रचनाओं से संदेश मिलता है कि उस प्रवाह को नियंत्रित करने वाली एक अदृश्य शक्ति है और उस शक्ति पर भरोसा रखते हुए परिश्रम करने पर हम लक्ष्य तक पहुँच सकते हैं। सी.वी. की आख्यान शैली आज के उपन्यासकारों के लिए भी एक चुनौती है, साथ-साथ प्रेरक भी।

चन्तुमेनोन, सी.वी. रामनपिल्लै जैसे प्रतिभाधनियों और नवोत्थान काल के उपन्यासकारों के बीच इतिहास प्रधान उपन्यास नहीं के बराबर है। फिर भी चन्द रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। केरलवर्मा का 'अकबर' (1894) अनूदित उपन्यास है जिसकी मूल डच भाषा है। प्रारंभकालीन

अनुवादों में प्रथम स्थान इस ग्रंथ को दिया जा सकता है। भूतरायर, भास्कर मेनोर (1904) आदि अप्पन तंपुरान की कृतियाँ हैं। केरल के इतिहास से संबंधित कुछ घटनाओं के आधार पर 'भूतरायर' रचा गया है। 'भास्कर मेनोन' एक जासूसी उपन्यास है। उसमें एक प्रेमकथा वर्णित है, लेकिन साथ-साथ किट्टुण्णि मेनोन नामक कथापात्र की हत्या का जासूसी अन्वेषण मुख्य विषय है।

कुछ राजनीतिक उपन्यास भी इस काल में लिखे गये। के.नारायण कुरुक्कल का 'पारप्पुरम' (1904-5) 'उदयभानु' (1906) आदि उनमें उल्लेखनीय उपन्यास हैं। इन उपन्यासों में तिरुविंताकूर रियासत की शासन नीति, प्रशासनिक अनीतियाँ आदि विषय चर्चित हैं। तो भी उपन्यास की दृष्टि से कोई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ इनसे प्राप्त नहीं होती हैं।

मलयालम साहित्य के इतिहास से मालूम हो जाता है कि इस काल में उपन्यासों की संख्या में अतिशय वृद्धि हुई। इन्दुलेखा के अनुकरण में मलयालम प्रदेश की कन्याओं के नाम पर असंख्य उपन्यास लिखे गये। उनकी कल्पनाशून्यता और बनावटी भाषा शैली की हँसी उड़ाते हुए किषक्केप्पाट्टु रामन मेनोन ने 'परंगोडी परिणय' नामक हास्य उपन्यास की (1892) रचना की। रचना की तिथि की दृष्टि से इन्दुलेखा (1889) शारदा (1892) मार्ताण्ड वर्मा (1891) उपन्यासों को छोड़कर बाकी उपन्यासों को 'परंगोडी परिणय' उपन्यास रूपी हास्य दंड का प्रहार मिला है। यह मलयालम का प्रथम हास्य उपन्यास है।

प्रतिपाद्य विषय में मौलिकता दिखाने वाली कुछ रचनाएँ भी इस काल में लिखी गयीं। कुनुकुषियिल कोच्चुतोम्मन के 'परिष्कार प्याति' नामक उपन्यास में अपनी इच्छा के अनुसार एक पति को चुन लेने वाली ईसाई महिला की कथा कही गई है। यह उस काल का एक क्रांतिकारी विषय था। पोतेरी कुंजम्मु के 'सरस्वती विजय' नामक उपन्यास का विषय एक भ्रष्टा अन्तर्जनक नुपूतिरी महिला और निम्नजाति के एक बालक की कथा है जो शिक्षा पाकर जीवन में सफलता प्राप्त करते हैं। 'दोरश्राणी' नामक उपन्यास के द्वारा उपन्यासकार सरदार के एम पणिक्कर ने यह दिखाने का प्रयास किया है कि खोखली सभ्यता केरल की महिलाओं के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती। नंपूतिरी समाज में प्रचलित अनाचारों का विरोध करते हुए लिखा गया उपन्यास है भवव्रातन नंपूतिरिप्पाड का 'अफन्टे मकन'। इन सभी उपन्यासों का आधार है ब्रिटिश शासन और अंग्रेजी शिक्षा के फलस्वरूप प्राप्त नवोत्थान विचारधाराएँ। लेकिन अंधाधुंध पाश्चात्य अनुकरण के लिए कोई तत्पर नहीं था।

2.3.2 अनूदित उपन्यास

उपन्यास शाखा के नवोत्थान का मार्गदर्शक है अनूदित उपन्यास। अंग्रेजी के द्वारा विश्व की किसी भी भाषा का उपन्यास मलयालम में प्रकाशित होता था। विश्व भाषाओं की क्लासिक कृतियाँ उनमें प्रमुख थी। उन्हीं के द्वारा उपन्यास के भाव,शिल्प,चैतन्य एवं शक्ति का परिचय मलयालम-लेखकों को मिला।

बंकिम चन्द, शरतचन्द, टैगोर आदि की रचनाएँ भी अनुवाद द्वारा मलयालम में प्रकाशित हुईं। दुर्गेश नंदिनी, देवदास, चरित्रहीन, विधिविलास, कपालकुण्डला, उर्मिला, माधवीकंकण, विषवृक्ष, आनन्द मठ, रजनी, चंचलकुमारी, कुलस्त्री, परिमला, मातंगिनी आदि भारत के उत्कृष्ट उपन्यास अनुवाद के माध्यम से तब मलयालम में उपलब्ध हुए।

पाश्चात्य उपन्यासों में सबसे पहले वाल्टर स्कॉट के उपन्यास मलयालम में अनूदित हुए। अइवान हो, क्विन्टिन्टर वार्ड, तालिस्मान, केनिलवर्त आदि उपन्यास मलयालम भाषियों में बहुत लोकप्रिय हुए। अलेक्साण्डर दूमा के कौण्ट आफ मोण्टि क्रिस्टो, ब्लैकड्यूलिप, आर. सी. बार्ण्नस का स्कार्लट पिम्पेर्नल, ऑलिवर गोल्डस्मिथ का विकार ऑफ वेकफील्ड, स्विफ्ट का गलिवेर्स ट्रावल्स, सेर्वान्टीस का डॉन क्विक्साट, चार्ल्स डिकेन्स का हार्ड टाइस्स, हार्डी का मेयर ऑफ कास्टर ब्रिड्ज आदि अनेक उपन्यासों के अनुवाद ने मलयालम साहित्य को समृद्ध किया।

उपन्यासकारों को सर्वाधिक प्रभावित करने वाला उपन्यास था विक्तोर ह्यूगो का 'ले सेराब्ल' का अनुवाद (1925)। मोपेसाँ की कहानियाँ भी प्रियंकर थीं। सामाजिक समानता के लिए मार्क्सवादी आह्वान और ले सेराब्ल का सम्मिलित प्रभाव मानवीयता एवं सामाजिकता को जगाने वाला था। इन्हीं परिस्थितियों में तकषि ने अपनी प्रथम कहानी गरीब (1930) का प्रकाशन किया। कहानी से शुरू हुई नवोत्थान शैली शीघ्र ही उपन्यासों में संक्रमित हुई। उसी को केशवदेव, तकषि, बशीर, पोट्टेक्काट, पोनकुन्नम वर्की आदि लेखकों ने आत्मसात किया।

2.4 चेम्मीन और सामाजिक अवबोध

नवोत्थान काल में कला के सामाजिक लक्ष्य को महत्व दिया जाता था। प्रगतिशील विचारधारा के साहित्यकार उसके अप्रत्यक्ष सन्निवेश को मानने के लिए तैयार नहीं थे। उनका मत था कि उसे प्रत्यक्ष रूप में उद्घोषित करना चाहिए। इस पक्ष के पक्षधर सामाजिक अवबोध को प्राप्त करने वाले और कला के ज़रिये उसका प्रचार करने वाले लेखकों की प्रथम पंक्ति में तकषि को रखा जा सकता है। रंडिडंगषि, तोट्टियुटे मकन आदि रचनाओं में समाज का अलग प्रभाव के रूप में और प्रत्यक्ष यथार्थ दिखाई पड़ता है। लेकिन चेम्मीन उनसे भिन्न हैं। उसमें समाज का एक पात्र के रूप में समाज के नियमों, निरोधों, नैतिक मान्यताओं को हवा में उड़ाते हुए, गहरे प्रेम में बंधित होकर दुःखान्त की ओर बढ़ने वाले नायक-नायिका को चेम्मीन में हम देखते हैं। उनके सामने समाज खलनायक के स्थान पर स्थित है।

चेम्मीन में तकषि रूअरय रु समाज का एक विशद चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनके निवासस्थान, परिस्थिति, जीवन शैली, धारणाएँ, आचार-विचार, प्रत्याशाएँ आदि का संबंध सागर से है। उनकी सारी इच्छाओं की पूर्ति सागर करता है, इसलिए वे सागर को माता मानते हैं। वे अपनी अम्मा के अधिक निकट, तट पर निवास करते हैं, छोटी-छोटी झोपड़ियों में। उनमें इसकी आशंका नहीं है कि असीम संपदा से पूर्ण एवं आर्द्रमना माता निकट है तो भविष्य के लिए कुछ बचाकर नहीं रखना है। उनके जीवन-दर्शन एवं जीवन-शैली को स्वरूपित करने वाला एक तत्व है। 'चाकरा' की भारी पकड़ के बाद दूसरी बार भी सागर की ओर जाने वाले चेम्पनकुंजु को उसके मित्र रोक देते हैं। उनका यही दृढ़ विश्वास है कि सागर से संपदा लेने की सीमा होती है।

केरल के सामाजिक क्रम में 'अरय' अवर्ण जाति के हैं। इसलिए वे शोषित हैं। नवोत्थान विचारधारा एवं मानवीय भावधारा से प्रेरित होकर ही तकषि ने 'अरय' को साहित्य के रनिवासों में प्रवेश दिया। इसी मनोभाव की प्रेरणा से तकषि ने उनका तिरस्कार न कर उनके जीवन का निरीक्षण किया। इसी मनोभाव को सहृदय पाठकों तक पहुँचाना प्रगतिशील साहित्य का मुख्य लक्ष्य है। चेम्मीन में वह दूसरा लक्ष्य बन जाता है।

चेम्मीन के अरय नवीन सभ्यता की चालाकियों से अछूते हैं। सौ या दो सौ की संख्या तक के व्यापार तक ही उनका परिचय है। उनकी शिक्षा वहाँ तक ही सीमित है। छठी-सातवीं कक्षा तक पहुँचकर पीछे भाग जाने वाले 'अरय' विद्यार्थियों के बारे में तथा केकड़ों एवं सीपियों को और नखों से बिखरने वाली मछलियों को चुनने वाले उनके बाल्यकाल के बारे में तकषि ने चेम्मीन में लिखा है। बुजुर्गों के संपर्क में आकर प्रकृति-पाठों का अध्ययन भी वे करते हैं। पलनि अनाथ था। फिर भी वह सबसे योग्य नाविक बना। सागर उनकी पाठ्यपुस्तक है। सागर के शान्त-रौद्र भाव, भँवर, तरंगावर्तन, चाकरा के लक्षण आदि का ज्ञान प्राप्त कर उसने सागर को साधा है। अनन्त विस्तृत सागर की छाती में खेलते-सोते वह बड़ा हुआ है। उसी से उसे शक्ति मिली, नया जीवन-दर्शन प्राप्त हुआ।

चेम्मीन के अरय ईश्वर पर भरोसा रखने वाले हैं। सागर माता उनकी प्रत्यक्ष देवता हैं। उसके कोप भाव से उन्हें असीम डर लगता है। वे दृढ़प्रतिज्ञ हैं कि सागर की अप्रीति के योग्य कार्य

नहीं करना चाहिए। चेम्पनकुंजु इन विश्वासों को नहीं मानता। नियमों एवं विश्वास प्रमाणों का धिक्कार करने वाला 'अकेला' व्यक्ति हर समाज में पाया जाता है।

समाज की हर जाति का अपना मुखिया रहता है। 'तुरयिलरयन' अरयों का मुखिया है। वही समाज की समस्याओं का अन्तिम निर्णय सुनने वाला है। नाव एवं जाल खरीदने की आज्ञा प्रदान करना, नाव-जाल खरीदने वालों की सामाजिक योग्यता का निर्णय करना, विवाह के आचार क्रमों का निरूपण करना, सभी प्रकार के सामाजिक कर्मों का नेतृत्व करना, मतभिन्नताओं एवं तर्क विषयों को विधिन्याय सुनाना आदि अरय-मुखिया का दायित्व है। मुखिया की बातें न मानने वाले को भ्रष्ट किया जाता है। भ्रष्ट हो जाने पर एक अरय को धर्म परिवर्तन कर या तो मुसलमान या ईसाई बनना पड़ता है। जब इस प्रकार की एक समस्या चेम्मीन में सामने आती है तो तकषि, जातिगत समस्याओं की अच्छाई-बुराइयों पर विचार नहीं करते हैं। 'करुत्तम्मा गिर गयी तो उसे चौथे वेद (धर्म परिवर्तन) को अपनाना है - यही चक्कि का कथन है। तब करुत्तम्मा कल्पना में अपने को एक मुसलमान लड़की का वेश धारण कर परीक्कुट्टि के साथ चलने फिरने का दृश्य देखती है। तकषि ने प्रेमियों की आँखों से समस्याओं को देखने की रीति अपनाई है।

अरय समाज के अपने आचार क्रम हैं। जन्म, जीवन, मृत्यु, इन तीन अवस्थाओं का नियंत्रण इन आचारों में है। अवैध शिशुजन्म को वे मान्यता नहीं देते हैं। आचार के अनुसार विवाह करना आवश्यक है। 'दुल्हिनधन' देकर लड़की को विवाह के दिन ही पति के घर ले जाना आवश्यक है। चौथे दिवस पति-पत्नी को दावत के लिए घर वाले बुलावा देते हैं। उसके बाद ही वे किसी और के घर में जा सकते हैं। प्रथम प्रसव के भी निश्चित आचार हैं। मरने पर शव को गाड़ दिया जाता है। सभी कर्मों को करने वाला अरय मुखिया है। चेम्पनकुंजु के लालच और हठधर्मिता के कारण विवाह संबंधी आचारों का पूरा-पूरा पालन नहीं हो पाया। मुखिया को और आचारों को धिक्कारने वाले चेम्पनकुंजु का दुःखान्त एक संदेश देता है - सामाजिक जीवन को सुखपूर्ण बनाने के लिए मर्यादाओं, आचारों एवं नीतियों का पालन करना आवश्यक है।

प्रकृति रूपी जाले का बाना बुनकर बिताने वाले हैं मछुआरे। उनके जीवन-दर्शन में इसका प्रतिबिंब देखा जा सकता है। इस जनता में आदिम जीवन-दर्शन (जिसे पाश्चात्य साहित्य में प्रिमिटिविज़्म कहा जाता है) का नियंत्रण बीसवीं शताब्दी में भी रहता है। आने वाले कल के लिए कुछ न बचा रखना, जय-पराजय, सुख-दुःख सब को सागर माता पर अर्पित करना, सागरमाता की आर्द्रता के लिए और पुरुष (पति) की जीवन रक्षा के लिए तट पर पत्नी का पवित्र रहना, विवाह के बाद पुरुष को स्त्री के हाथों सौंपना, सागर को अक्षर भंडार मानना इन सबका समाहार है उनका दर्शन। मछुआरों के समाज का अपनापन इस दर्शन में और इस दर्शन द्वारा रूपायित जीवन शैली में निहित है।

डॉ. के.एम. तरकन का कथन है कि चेम्मन में तकषि के आर्थिक दृष्टिकोण को व्यक्त किया गया है। इस में यही सूचना मिलती है कि श्रमिक वर्ग ने अपने वर्गाधिपत्य की क्रांति शैली को छोड़ दिया है। चेम्मीन यह भी साबित कर सकता है कि आर्थिक शोषण का विरोध करना ज़रूरी है। मछुआरे साधारणतया शोषित वर्ग के हैं। नाव एवं जाल खरीदने के लिए ब्याज पर पैसे उधार देने वाले, सागर से पकड़ी गयी मछली को थोक रूप में खरीद कर दूसरों को बेचने वाले मध्यवर्ती विक्रेता आदि मुख्य रूप से शोषक हैं। इनका कार्य तात्कालिक आश्वासन प्रदान करने वाला है तो भी मछुआरे हमेशा कर्ज़दार बनकर रहेंगे। उनके स्थान पर खड़े रहने की आशा चेंपनकुंजु ने इसलिए की कि उसे मालूम था कि मछुआरों का परिश्रम शोषकों के लिए लाभकारी बन जाता है। उसे रोकने के लिए उसने उन्हीं शोषकों का मार्ग अपनाया। उसने अपनी बेटी के प्रेम संबंध का शोषण किया, उसके प्रेमी से धन उधार लिया और उसे वापस नहीं किया। शोषित मछुआरे की तरह उसका भी सर्वनाश हुआ। तकषि का यही मनोभाव था कि आर्थिक शोषण जिस किसी भी रीति में हो जाए, वह अन्याय है। आर्थिक शोषण चेम्मीन में नहीं हुआ होता तो इस प्रकार की एक दुःखान्त प्रणय कथा भी नहीं होती। आर्थिक स्थिति और प्रेम के बीच घनिष्ठ संबंध है।

साहित्य सृष्टि के लिए चुने गये समाज का पूर्ण ज्ञान, उस समाज को अपना ज्ञान, इन दोनों के अध्ययन के द्वारा ही उस साहित्य सृष्टि के सामाजिक अवबोध का निर्णय कर सकेंगे। चेम्मीन में इन दोनों ज्ञानों का आवश्यक समायोजन हो पाया है। इसलिए मछुआरा समाज के संबंध में असामान्य अवबोध प्रदान करने में तकषि सफल हुए।

2.5 सारांश

इस इकाई में आपने तकषि के युग और युग की परिस्थितियों का आकलन किया गया है। थोड़ी बहुत स्थानीय विशेषताओं के अलावा वह युग सम्पूर्ण भारत में (केरल सहित) स्वतंत्रता आंदोलन एवं सामाजिक आंदोलनों का युग रहा है। केरल में भी तीन राज्य थे जहाँ सामंतशाही से अंतिम संघर्ष जारी था। आम आदमी जो पद, जाति आदि की दृष्टि से सामाजिक विकास की सीढ़ी की सबसे निचली पायदान पर था, आज़ादी के बाद भी उसकी स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन केरल में भी दिखाई नहीं पड़ता। फिर भी स्वतंत्रता आंदोलन एवं सामाजिक आंदोलनों के काफ़ी सकारात्मक प्रभाव समाज पर पडे है। केरल के समाज की बदलती हुई इस तस्वीर को हम बखूबी तकषि की रचनाओं में देख सकते हैं।

2.6 प्रश्न

1 बीसवीं सदी के प्रारंभ में केरल की सामाजिक परिस्थिति कैसी थी?

2 तकषि की रचनाएँ अपने समय एवं समाज का यथार्थ दर्पण है, विचार करें।

इकाई 3 चेम्मीन : विषयवस्तु, कथानक एवं पात्रसृष्टि

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 विषयवस्तु

3.3 चेम्मीन : कथा सार

3.4 कथानक

3.5 पात्रसृष्टि

- 3.5.1 परीक्कुट्टि
- 3.5.2 करुतम्मा
- 3.5.3 पलनि
- 3.5.4 चेम्पनकुंजु
- 3.5.5 चक्कि

3.6 सारांश

3.7 प्रश्न

3.0 उद्देश्य

इस खण्ड की यह तीसरी इकाई है जिसका अध्ययन करने के बाद आप चेम्मीन की विषयवस्तु, कहानी और पात्रों से परिचित हो सकेंगे। यदि आपने चेम्मीन उपन्यास पढ़ लिया है तो आप को यहाँ दिए गए उसके सारांश को समझने में आसानी रहेगी। यदि आपने यह उपन्यास नहीं पढ़ा है तो हमारी राय है कि आप उसे पढ़ लें।

3.1 प्रस्तावना

चेम्मीन उपन्यास तकषि की रचना-यात्रा के तीसरे चरण की रचना है। चेम्मीन से पहले तकषि की रचना-यात्रा कई सृजनात्मक मोड़ों से गुज़र चुकी थी। मार्क्सवादी विचारधारा से उनका परिचय हो चुका था जिसने उनकी पहले से चली आ रही मान्यताओं को और ज्यादा पुष्ट ही किया। तकषि की 'दो सेर धान' 'भंगी का बेटा' या 'भिखारी वर्ग' सरीखी रचनाएँ समाज के कटु यथार्थ का तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि से भेद करने वाली रचनाएँ हैं। इन रचनाओं से तकषि मलयालम में अग्रणी साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए। किंतु श्रेष्ठतम साहित्य वैचारिक सीमाओं से परे जाकर संवेदना के व्यापक धरातल पर प्रतिष्ठित होता है। इस बात को हम चेम्मीन में देख सकते हैं। चेम्मीन विचारधारा की किसी बंधी-बंधायी लीक पर न चल कर विकसित हुआ है और न ही विचारधारा को छोड़कर। वस्तुतः चेम्मीन समाज के एक विशेष समुदाय के जीवन की जीवंत कथा है। उस समुदाय की धड़कनों से स्पंदित, उनके दुःख-सुख की एक मानवीय कहानी। यह जितनी सरल है, उतनी ही ऊँची भी। आइए देखें चेम्मीन की विषय वस्तु के ताने-बाने क्या हैं, कहानी क्या है और कथानक कैसे विकसित होता है। चेम्मीन के महत्वपूर्ण पात्रों पर भी इस इकाई में हम दृष्टि डालेंगे।

3.2 विषयवस्तु

इतिहास-पुराण महाकाव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी, चित्रकला, शिल्प जैसी किसी भी कलासृष्टि का जो केन्द्र विचार है वह अमूर्त है। कोशिका (Cell) में न्यूक्लियस का जो

स्थान और महत्व रहता है वही कलाकृति में विषयवस्तु का। उपन्यास, नाटक आदि रचनाओं में नब्बे प्रतिशत से अधिक प्रेम को विषयवस्तु के रूप में स्वीकारा गया है। प्रेम मानव जाति के अस्तित्व की आधारभूत नैसर्गिक चेतना है। प्रेम को इतना व्यापक महत्व मिलने का यही प्रमुख कारण है।

तकषि के प्रमुख उपन्यास - दो सेर धान (1948), मछुआरे (चेम्मीन 1956) औसेप के बेटे (1959) एणिप्पटिकल सोंठ (सीढ़िया - 1964) आदि उपन्यासों में प्रेम मुख्य विषयवस्तु है। प्रेम की अभिव्यक्ति सबसे अधिक की जाने के कारण प्रत्येक रचनाकार के लिए प्रेम के साधारणत्व में असाधारणत्व सिखा देना एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। उस चुनौती को स्वीकारने में ही कलाकार की प्रतिभा की पहचान संभव होती है। इस कोटि के सफल इने-गिने रचनाकारों में एक हैं - तकषि।

तकषि के उपन्यासों एवं कहानियों में प्रेम की अनेक अवस्थाओं का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रांकन किया गया है। प्रेमियों के स्वभाव, बर्ताव, जीवन-दृष्टिकोण, जाति, धर्म, संपत्ति, अधिकार, वगैरह प्रणय-भावना में व्यवधान उत्पन्न कर देते हैं। तकषि मनुष्य के मन को मढ़ने में माहिर हैं। धन कमाने हेतु वेश्या के कृत्रिम प्रेम से लेकर अपना प्राण एवं ज़िन्दगी तक का सौदा करके बदले में प्राप्त प्रेम तकषि के उपन्यासों में स्पंदित है। प्रेम की सफलता के लिए प्राण तक छोड़ने की संवेदना है 'चेम्मीन' उपन्यास में। प्रेमियों की निस्वार्थता तथा प्रेम की दृढ़ता का ही प्रदर्शन यहाँ नहीं है बल्कि विधर्मी होने के कारण वैवाहिक रिश्ते को ठुकरा देने वाली जाति व्यवस्था, औरत के पतित होने से समाज का सवर्नाश हो जाने का अन्धविश्वास, बेटी के प्रेम-संबंध का शोषण करके, उसके प्रेमी से रुपये वसूल करने वाले पिता की मानसिकता जैसे कई घटनाक्रमों के साथ एक अनुपम प्रेम-कथा का सृजन किया गया है।

3.3 चेम्मीन : कथा सार

केरल के समुद्री तट पर मछली पकड़कर जीवन-निर्वाह करने वाला एक समुदाय है अरय अथवा मछुआरे। मछुआरों के जीवन परिवेश का चित्रण है 'चेम्मीन'। आलप्पुषा इलाके के निकट के नीर्क्कुन्नम समुद्र तट पर चेम्पनकुंजु अपनी पत्नी चक्कि और दो बेटियों सहित निवास करता है। बड़ी लड़की करुत्तम्मा युवती हो चुकी है। अरय समाज में लड़कियों की शादी उनकी ग्यारहवीं उम्र में ही हो जाती है। करुत्तम्मा अब सोलह या सत्रह साल की हो गयी है। उसकी बहिन है पंचमी। छोटी-छोटी झोंपड़ियों में अरय जाति के लोग रहते हैं। चेम्पनकुंजु के बाल्यकाल सखा अच्छनकुंजु भी अपनी पत्नी नल्लापेण्णु के साथ पड़ोसी झोंपड़ी में रहता है। समुद्री तट से मछली खरीदकर बेचने के लिए एक अन्य धर्म-जाति का व्यक्ति आया करता था। उसके हाथ पकड़कर उसका बेटा परीक्कुट्टि भी समुद्री तट पर भ्रमण करता था। करुतम्मा और परीक्कुट्टि दोनों बचपन की दोस्ती के साथ-साथ बड़े हो गए। दोनों का एक दूसरे से लगाव था किंतु वे जानते थे कि दोनों का धर्म अलग होने के कारण समाज उनके प्रेम संबंध को मंज़ूर न करेगा। फिर भी दोनों प्रेम के दीवाने बन निकले। समाज के प्रतिरोधों का अनुसरण करके, मर्यादा की सीमाओं का उल्लंघन किये बिना मुलाकातों के ज़रिए दोनों की दोस्ती और दृढ़ बनने लगी।

अन्य जाति के सभी आदमियों को अपनी नाव और जाल के मालिक बनना संभव नहीं था। बहुत विरले थे जिनके पास अपनी नाव और जाल हो। किसी और की नाव में मल्लाह बन के ही आम लोग जाया करते थे। समुदाय का यह भी एक विश्वास था कि अरय-जाति के सभी लोग नाव नहीं खरीदते थे। मछुआरों की पाँच जाति होती है अरय, धीवर (जालिया), मछुआ, पोतकार (नाविक) और पंचमजात। इनमें धीवर जाति को ही नाव और जाल खरीदने का अधिकार है। सब लोग नाव के मालिक बन बैठे तो समुद्र में काम कौन करेगा? धीवर को भी समुदाय के मुखिया की अनुमति मिलनी चाहिए। तभी वह अपनी ओर से नाव और जाल खरीद सकता है। चेम्पनकुंजु मछुआरा है। वह एक चतुर नाविक भी है। सामाजिक नीतियों के विरुद्ध वह अपनी एक नाव खरीदना चाहता है। एक नाव का मालिक होने की

अपनी तीव्र अभिलाषा उसने प्रिय पत्नी से प्रकट भी की। और प्परीक्कुट्टि से जो कि एक सफल मछली व्यापारी है, नाव खरीदने के लिए रुपये उधार लेने की अपनी इच्छा भी व्यक्त की।

माँ-बाप की आपसी बातचीत सुनकर करुत्तम्मा ने परीक्कुट्टि से नाव और जाल खरीदने हेतु रुपये उधार माँग लिए।

'बप्पा नाव और जाल खरीदने जा रहे हैं। "

'अच्छा , नाव और जाल खरीदने के बाद नाव में जो मछली आएगी उसे व्यापार के लिए मुझे देने को अपने बप्पा से कहोगी?"

'अच्छा दाम दोगे तो मछली क्यों न मिलेगी?"

फिर जोरो की हँसी हुई। हाँ यह हँसी-मज़ाक सच निकल गया। मछली का सफल व्यापार करने के बाद संपत्ति आने पर भी चेम्पनकुंजु ने परीक्कुट्टि को पैसा नहीं लौटाया। इतना ही नहीं एक दूसरी नाव खरीदने के लिए उसे और रुपये उधार ले लिए। प्परीक्कुट्टि के ही डेरे से सूखी मछलियाँ बोरों में भरकर चेम्पनकुंजु बिक्री करता था। इस तरह वह परीक्कुट्टि का कर्ज़दार बन जाता था। दोनों नावों से खूब व्यापार तो हो गया। पर परीक्कुट्टि का धन उसने नहीं लौटाया। उसे लौटा देने की इच्छा भी उसके मन में लेश-मात्र नहीं रही। करुत्तम्मा ने एक बार माता से पूछा - "दूसरों को धोखा देने से समुद्र तट का सर्वनाश हो जाएगा कि नहीं?" 'उस बेचारे को धोखा देकर नाव और जाल नहीं लाना चाहिए। यह तो अन्याय है।' कर्ज़ वसूल करने के बहाने परीक्कुट्टि घर आ जाए, वह क्या कर सकती है? औरत के पतित हो जाने पर समुद्र तट पर उजड़ जाने का विश्वास सिखाने वाली माँ चक्कि के सम्मुख अब कोई जबाब नहीं था। 'मछुआरों का जीवन वास्तव में तट पर रहने वाली उनकी स्त्रियों के हाथ में ही है।' इस विचार से करुत्तम्मा सचेत हो उठी। अपने पिता की विचार शून्यता के खिलाफ आवाज़ उठाने की दृढ़ता उसमें आ गयी।

चेम्पनकुंजु अमीर बन गया। उसके स्वभाव बर्ताव में बड़ा अन्तर आ गया। एक मालिक की मानसिकता का संचार उसमें होने लगा। सुखी होने मात्र की इच्छा मन में रह गयी। बचपन के यार अच्चनकुंजु एवं अन्य साथियों को उसका यह स्वभाव कुछ अजीब सा लगा। चेप्पन के पास इतना रुपया कहाँ से आया? इतनी बचत कैसी होती है? - समुद्री तट पर यह चर्चा बनी रही। चेंपन ही बातचीत का विषय रहा। इसी संबंध में अच्चनकुंजु और चक्कि के बीच खूब झगड़ा हुआ। अच्चनकुंजु को ईर्ष्यालु माना गया। अच्चनकुंजु ने भी एक नाव खरीदने का निश्चय कर लिया। चेम्पनकुंजु के दिली दोस्तों ने निर्णय किया कि चेंपन का कार्य कलाप समुदाय की मर्यादायों के विरुद्ध हैं। पोतकार होने पर भी उसने नाव खरीदी है। तट के मुखिया की अनुमति नहीं ली है। सयानी लडकी जब घर में है तब कौन नाव और जाल खरीदने की बात सोच सकता है। दस साल में लड़की की शादी होनी चाहिए। यही समुद्र तट के कायदे-कानून हैं।

करुत्तम्मा ने घोर विरोध तो प्रकट किया। उसे मालूम हो गया था कि उसके और परीक्कुट्टि के अवैध प्रेमसंबंध का शोषण करने पर तुले हैं - उनके कंजूस पिताश्री। चेम्पनकुंजु में नयी-नयी अभिलाषाएँ जाग उठीं। 'चाकरा' हो जाए। जायदाद ज़मीन और मकान खरीदने के बाद ही बेटी की शादी हो तो ठीक है। बाप ने मर्यादा की रक्षा करने की चेतावनी दी। चक्कि की भी यही इच्छा हुई। माँ-बाप के कटुवचनों से करुत्तम्मा का हृदय बिंध गया।

स्त्रियों की पवित्रता या मर्यादा की बात जब चक्कि ने दोहराई तब करुत्तम्मा को अपनी माँ पर यह आरोप लगाने में संकोच ज़रा भी नहीं हुआ कि पवित्रता का पालन न करने वाली औरत तो उसकी माँ ही है। ईमानदारी और सत्यवादिता चक्कि से छूट गयी है। पैसा आने से चक्कि के स्वभाव में भी भाव-परिवर्तन दीखने लगा। जो रुपये परीक्कुट्टि से उधार में लिए गए थे उसके बारे में भी चक्कि अब भूल गयी। बेटी के भविष्य के सपने मात्र वह देखने लगी।

समुद्र तट के सभी मछुआरे लोग चेम्पनकुंजु और चक्कि के विरुद्ध खड़े हो गये। लेकिन चेंपन की राय में पड़ोसी लोग ईर्ष्यालु थे। इधर चेम्पनकुंजु की नावें सागर से काफ़ी मछली भरकर लौटने लगीं/ चेम्पनकुंजु की मुख-मुद्रा में गंभीरता छा गयी। नाव किनारे लगते वक्त मिट्टी में खिसकती छोटी-छोटी मछलियों को पकड़ने के लिए अपनी बेटी पंचमी को भी वह आगे नहीं आने देता। चेंपन की नाव से सौदे की मछली सीधे मिलने की जो आशा उनके दोस्तों को थी वह पानी में बह गई। उनमें कुछ लोग चेंपन को शैतान कहकर अपना गुस्सा प्रकट करने लगे।

चेम्पन की आकांक्षाओं की सीमा नहीं रहीं। उसे अमीर घाटवार और उसकी पत्नी को भी आराम की ज़िन्दगी जीने की इच्छा हुई। लेकिन नव दंपत्तियों की हाल-चाल की जो भावना चकची में उपजी उसे वह मन ही मन छिपा गयी। घाटवार की सुंदर पत्नी के हाव-भाव, एवं सज-धज के बारे में भी चेंपन ने अपनी पत्नी को बता दिया। उनका कहना है चक्कि को थोड़ी मोटी होना है। उसकी दुबली-पतली अवस्था को बदलना वह चाहता है। उसमें सुन्दरता लाना चाहता है। इसके पहले चक्कि ने चेंपन को सुख भोगने की बातें करते कभी नहीं सुना था। पहले वह अपने पति की भावनाओं पर विरोध प्रकट करती रहती थी। पर धीरे-धीरे वह भी अरमानों की दुनिया में आ बसी।

पहले समुद्र-माता की कृपा होनी चाहिए। जब अपनी ज़मीन और घर हो जाएगा और निश्चिंत गुज़ारा करने की स्थिति हो जाएगी तब फिर से बच्चे बनकर सुख से जीवन बिताने की बात करना। तब तक लड़कियों की शादी करके उन्हें भेज देंगे। चेंपन का भी यही विचार था। लेकिन चक्कि ने कहा -

'मैं सुन्दर तो हूँ नहीं। '

चेंपन ने विश्वास दिलाया - 'उस समय तक हो जाओगी।'

'अगर तब तक मैं मर जाऊँ तो?'

'धत्त। अशुभ बात मुँह से न निकालो।'

- यों उस अमंगल भावना पर रोक लगा दी गयी।

एकाएक एक दिन समुद्र का रंग बदल गया। 'पोला' आ गया था। पानी लाल हो गया। समुद्रतट पर फाके के दिन होंगे। हरेक के पास बचत खत्म हो चुकी थी। नाव पर काम करने वाले नाविकों को मालिकों से उधार में रुपये मिलते थे। चेंपन ने नाविकों से कहा - 'तुम लोग भूखे ही रहोगे। पैसा देने का काम मुझसे नहीं होगा।'

रामनकुंजु जो एक और 'जालवाला' है, उसने भी चेम्पनकुंजु से रुपये उधार माँगे। रामन उसी घाट का था। चेंपन ने कुछ समय तक उसकी नाव पर काम भी किया था। बिना किसी हिचक के चेंपन कर्ज़ देने के लिए तैयार हो गया। रामन के चले जाने पर चेंपन चक्कि के पास जाकर पागलों की तरह हँसने लगा - 'छः महीने के अंदर उसकी चीनी नाव मेरी हो जाएगी।' लालच के चलते 'पोला' के समय में भी चेंपन ने मछली मारने को समुद्र में जाना चाहा लेकिन उसके साथ ऐसे खराब समय में मछुआरों ने समुद्र में जाने से साफ-साफ इनकार कर दिया। पर चेंपन ने उन्हें धमकाया कि वह दूसरे लोगों को काँटा डालने के लिए साथ ले जाएगा और बाद में उन्हीं को काम के लिए रखेगा। मज़बूर होकर उन्हें साथ जाना पड़ा। देर रात को एक शार्क मिली। उस दिन कई घरों में चूल्हे जलाए गए।

परीक्कुट्टि की हालत और बिगड़ गयी। अरय जाति के लोगों से भी ज्यादा उसकी हालत खराब हो गयी। रामन को दस-पाँच रुपये चेंपन बीच में दे देता था। पर परीक्कुट्टि से उधार माँगे रुपये लौटा देने की बात नहीं सोची। परीक्कुट्टि 'चाकरा' व्यापार के लिए कोई तैयारी नहीं कर रहा था। उसके बाप ने डेरा ही बन्द कर देने को कहा था। उसका कहना था कि परी समुद्र तट छोड़ दे और कोई दूसरा धंधा शुरु करे। लेकिन परीक्कुट्टि ने साफ कह दिया कि वह ऐसा कर नहीं सकता। उस सागरतट को छोड़कर और कहीं जाने को वह तैयार नहीं था।

परीक्कुट्टि की बुरी हालत से करुतम्मा विचलित हुई। परीक्कुट्टि के साथ प्रेम संबंध तथा अपने ही अनुरोध पर परीक्कुट्टि से रूपए उधार लिए जाने की बात को लेकर माँ-बेटी में झगड़ा होने लगा। करुतम्मा ने माँ पर ज़ोर डाला कि परीक्कुट्टि का पैसा लौटा दिया जाए। बेटी के प्रेम संबंध की बात पिता से न करने की प्रार्थना तो चक्कि ने मान ली। मगर परीक्कुट्टि के रुपये लौटा देने के अनुरोध पर कोई ध्यान नहीं दिया।

'चाकरा' के समय ही मछुआरों की इच्छाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाती है। 'कुजी' के बदले मुट्ठी भी अन्न मिलना, मलमल और महीन कपड़े खरीदना, घरेलू चीजें लाना - आदि इच्छाओं की पूर्ति इसी समय संभव होती है। समुद्र तट पर यह एक पर्व है। चक्कि करुतम्मा के लिए सोने के आभूषण खरीदना और उसकी शादी की बात पक्की करना चाहती है। लेकिन करुतम्मा के मन में परीक्कुट्टि का ऋण चुकाने हेतु पैसा कमाने की अभिलाषा इच्छा मात्र बनकर रह गई। एक सीधी-सादी मल्लाहिन की तरह जीना वह चाहती है। सत्य के संरक्षण से ही समुद्र तट में और मल्लाह के जीवन में समृद्धि आएगी। पंचमी के मन में भी छोटी-छोटी आकांक्षाएँ हैं। परीक्कुट्टि के मन में प्रबल आशा जागने लगी कि इस बार व्यापार में जरूर सफलता मिलेगी। अच्चन कुंजु और नल्लपेण्णु को एक नाव और जाल खरीदने की चाह हुई। समुद्र में तरंगें उठीं। पानी खूब मथा गया। नीर्कुन्नम समुद्र तट पर 'चाकरा' होगी। सब लोग आनन्द से उछल पड़े। सबों के हृदय में इच्छाओं की कलियाँ अंकुरित होने लगीं। समुद्र तट एक शहर बन जाएगा। चाय की दुकानें, कपड़े, दर्जी, सोने-चाँदी सब तरह की दुकानें सज गई। इस समय 'डायनामा' लगाकर बिजली की बत्ती का इन्तजाम करने की भी सूचना मिली थी।

समुद्र में उथल-पुथल के बाद पानी जब शान्त हो जाएगा तब मछुआरों की समृद्धि का उदय होगा। समुद्र एकदम एक तालाब जैसा शान्त हो गया। दूर-दूर से कई नावें आने लगीं। चेंपन की नाव सबसे पहले समुद्र की ओर गयी। पीछे अन्य सब नावें। पहले दिन मछली कम ही मिली। पानी की स्थिरता देखकर मछलियों ने आना अभी शुरु ही किया था। चेंपन को अधिक मछलियाँ मिलीं। थोक माल लेने वाले व्यापारी लोग इकट्ठे हो गये। परीक्कुट्टि के हाथ में पैसा कम था। फिर भी वह चेंपन की नाव के पास दौड़ा आया। उसने प्रार्थना के स्वर में कहा - 'माल मुझे दो'। चेंपन ने निर्दयतापूर्वक उसकी ओर देखा और पूछा - 'पास पैसा है, नहीं है तो जाओ!'

परीक्कुट्टि निराशा हो गया। समझकर कि चेंपन की नाव की मछली नहीं मिलेगी वह दूसरी नावों की तरफ़ दौड़ा। उसने किसी दूसरे की नाव से एक तिहाई माल मोल लिया। उसके पास उतना ही रुपया था।

चेंपन में अधिक उत्साह उमड़ आया। कमाने का अच्छा अवसर है। खाना खाकर एक और बटोर के लिए वह तैयार हो गया। पास खड़े अच्चन कुंजु ने कहा - 'पैसा मिलेगा, यह सोचकर समुद्र ही खाली कर दोगे क्या? एक ही दिन में दो बार मछली पकड़ने के लिए जाने का कार्य इसके पहले कभी नहीं हुआ था। ऐसा होना भी नहीं चाहिए।' चेंपन ने उनकी बातों पर ध्यान भी नहीं दिया। खाना खाने के बाद वह समुद्र तट पर आ गया। लेकिन सहयात्रियों के न आने के कारण वह समुद्र जा नहीं सका।

उस रात घनघोर वर्षा हुई। दूसरे दिन प्रकाश होने के बाद ही नावें समुद्र में उतरीं। बड़े सबेरे ही नाव न निकलने के कारण चेंपन काम करने वालों पर खूब बिगड़ा। उस दिन भी चेंपन की नाव आगे थी। लेकिन एक और नाव भी तेजी से आगे बढ़ रही थी। पतवार की जगह पर एक बहुत होशियार आदमी खड़ा होकर फुर्ती से नाव का संचालन कर रहा था। पता चला कि वह तृक्कुन्नपुषा की नाव है और 'पलनि' पतवार-चालक है। चेंपन की नाव और पलनि की नाव बराबर-बराबर रहीं। आगे निकल जाने के लिए दोनों में होड़ सी लगी है। बीच में ऐसा सन्देह होने लगा कि चेंपन की नाव ज़रा पीछे पड़ रही है। लौटते समय भी दोनों में होड़ लगी। दोनों का अगला हिस्सा पास-पास आ जाने पर मार-पीट भी हो सकती थी। आखिर नावें किनारे पर लगीं। किसी की न हार हुई, न किसी की जीत। चेम्पनने पलनि को गले लगाया और कहा -

'तुम सचमुच सागर के वीर बेटे हो।' पलनि चुप रहा। बिक्री में उस दिन पलनि को थोड़ा अधिक पैसा मिला। पलनि से उसके बारे में जानकारी हासिल की गयी। उसके माँ-बाप मर चुके थे। और वह अकेला था।

घर पहुँचकर चेंपन ने चक्कि से पलनि की होशियारी के बारे में कहा। चक्कि को भी पलनि बहुत पसंद आया।

चेंपन के नाव वालों में जिद्दीपन आ गया। समुद्र तट पर इस प्रकार की ईर्ष्या होती तो वह मार-पीट में ही खतम होती। चेंपन के मना करने के बावजूद भी खूब मार-पीट हो गई। मामला खतम करने के लिए पुलिस की मदद लेनी पड़ी। एक हफ्ते तक मछली पकड़ना बन्द रहा। अब तक की बचत खतम हुई। इसी बीच पलनि की नाव में काम करने वाले छुट्टी लेकर स्वदेश लौटे। पलनि नहीं गया। चेंपन ने पलनि को भेजने के लिए निमंत्रण दिया। पलनि ने निमंत्रण स्वीकार किया। चेंपन के घर में एक बढ़िया भोजन की तैयारी हुई। पलनि को माँ-बाप की याद ही नहीं थी। वह सिर्फ अपने लिए कमाता था। उसके लिए चिन्ता करने वाला कोई नहीं था। जब वह छोटा बच्चा था तभी नियति ने उसे समुद्र में जाल की रस्सी पकड़ने हेतु ला पटका था, जिसमें खतरनाक जल-जीव भरे पड़े थे। जब वह बड़ा हुआ तब नाव जाकर कमाने लगा। पैसा हाथ में आने पर इच्छानुसार खर्च भी किया। उसके मन में भी क्या अभिलाषाएँ भरी थीं। अभी तक किसी ने आग्रह नहीं किया था कि पलनि पेट भर खाए। आज उसके लिए एक घर में माँ खाना तैयार कर रही है। उसने बड़ी प्रसन्नता से भरपेट खाया। उसे कौन-कौन सी सब्जियाँ अच्छी लगीं चक्कि ने समझ लिया और बार-बार परोसकर खिलाया। पलनि को अपनी उम्र का पता नहीं था। एक माँ की तरह चक्कि ने चेतावनी दी - फिजूल खर्च नहीं करना चाहिए। पलनि सिर्फ 'हाँ' बोला। माँ की आत्मीयता से चक्कि ने उपदेश दिया - 'देख-भाल के लिए एक साथी हो। घर होना चाहिए।' उसने मन में तय कर दिया था कि पलनि के लिए करुत्तम्मा ठीक है। यह सन्देह भी था कि यदि कोई पूछे कि बेटी को कहाँ भेजा, तो क्या उत्तर दिया जाएगा? वह किस जाति का है? पर चेंपन ने दृढ़ निश्चय प्रकट किया - लड़की की शादी पलनि से ही होगी।

लगातार पानी बरस रहा था। नाव नहीं खोली गई थी। डेरों में सुखाई हुई मछलियाँ पड़ी थीं। अधसुखी भी थीं। डेरों की हालत तकलीफदेह थी। परीक्कुट्टि को एक और आफत का सामना करना पड़ा। सेठ जी ने कहला भेजा कि परी का माल उसे नहीं चाहिए। क्योंकि उसका माल काफ़ी सुखाया नहीं गया था।

पलनि के साथ करुत्तम्मा की शादी की बात पक्की हो गयी। करुत्तम्मा की सहमति से बात बनी नहीं। करुत्तम्मा ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि परीक्कुट्टि का पैसा लौटा देना है। वह बेचारा बड़े संकट में है। चक्कि का भी यही विचार था। परीक्कुट्टि और करुत्तम्मा के प्रेम संबध को चक्कि ने चेंपन से छिपा रखा था।

'उस कर्ज़ को चुकाने के बाद ही....।' आगे की बात करुतम्मा नहीं कह सकी। लेकिन चक्कि समझ गई। चेंपन के पैसे की तिजोरी से करीब पचहत्तर रुपये भी चक्कि ने इस उद्देश्य से चुरा लिये थे कि शादी के पहले ही वह कर्ज़ चुकाएगी। चुराने की बात अगर चेंपन जान गया तो हत्याकांड हो सकता है। एक दिन पूरे पैसे गिनकर हिसाब लिया गया और बक्सा बंद किया गया। चेम्पन को बहुत खुशी इस बात से थी कि पलनि बिना स्त्री-धन (दहेज) लिए ही करुतम्मा से शादी करने को तैयार है। चक्कि ने पूछा - 'उसने न लेने की बात कही होगी, तो भी हमें तो देना ही चाहिए न।'

करुतम्मा ने कहा - मुझे स्त्री-धन नहीं चाहिए। वह पैसा छोटे मालिक परीक्कुट्टि को दे दिया जाए।

शादी हो जाने के बाद पलनि को अपने यहाँ ही रख लेने की इच्छा चेंपन में हुई। बेटे का अभाव तो दूर हो जाएगा। लेकिन चक्कि के मन में शंका उठी - पलनि को यह स्वीकार होगा क्या? करुतम्मा को चेंपन की योजना का पता लग गया था। उसने इस का विरोध प्रकट

किया। बेटी का विरोध देखकर माँ को आश्चर्य हुआ। उसने कहा - जैसे ही तेरे लिए एक मल्लाह के आने के बात उठी, वैसे ही तुझे न माँ की ज़रूरत रही, न बाप की। तू बडी कृतघ्न मालूम होती है।

अपनी बात स्पष्ट करने के लिए करुतम्मा ने कह डाला - मैं यहाँ रहूँगी तो यह समुद्र-तट ही अपवित्र हो जाएगा। बेटी की उक्ति का अर्थ माँ समझ नहीं सकी। एक विजातीय युवक के साथ प्रेम करने के बाद एक और ही व्यक्ति से शादी पक्की की जाने वाली अभागिन औरत की दुख कहानी ही उसने माँ को बताई थी। वह जानना चाहती थी कि उसके - जैसी, किसी अन्य जात के साथ प्रेम करने वाली मल्लाहिन उस तट पर कभी हुई है कि नहीं। चक्कि को बेटी के भग्न-हृदय की वेदना अनुभूत करने में बड़ी कठिनाई न हुई। शादी के दिन ही उसे ससुराल भेजने का उसने वचन दिया।

शादी तय हो जाने पर पड़ोस कि स्त्रियाँ ही वधु को भार्या-धर्म का उपदेश दिया करती हैं। एक पुरूष को रखने की जिम्मेदारी उस पर पड़ने जा रही है। समुद्र की उमडती तरंगों के बीच मर्द के जीवन की रक्षा उसकी औरत पर निर्भर है। पतित नारियों की दुखद कथा भी उस समुद्र तट पर प्रचलित थी। आज कल पुराने ज़माने की शादी और पवित्रता नहीं है। उस पुराने आचार-विचार से लोग कट रहे हैं। लेकिन सागर की बेटियों को अपने चरित्र की रक्षा तो करनी ही है।

करुत्तम्मा ने पड़ोस की छोटी लड़कियों को चेतावनी दी कि हवा में उड़ने वाले सूखे पतों की तरह वे सागर-तट पर विचरण न करें। करुतम्मा का, विदा लेने का समय आ गया। अपने जन्म स्थान को उसे छोड़ना ही होगा। यहाँ की हवा, चाँदनी, प्रकृति, सर्वोपरि अपने प्रेमी की प्यारी - प्यारी मीठी आवाज़। परीक्कुट्टि को भी मालूम है कि अब उसी जगह पर करुतम्मा एक रात के लिए मात्र रहेगी। उसने एक शोक गीत गया। गीत सुनकर, गीत से अभिभूत होने के लिए वह तट पर रखी हुई नाव की ओट में अन्तिम बार जाने को प्रेरित हो उठी। करुतम्मा को परी से बहुत कुछ कहना था। पर उसे डर भी था। हो सकता है कि वह गलती कर बैठे और अपवित्र हो जाए। फिर भी वह घर से बाहर निकली। चाँदनी फैली हुई थी। दोनों की मुलाकात हुई। स्नेह निर्भर विदाई हुई। स्वार्थ विचार लेशमात्र नहीं रहा। एक दूसरे की भलाई का आशीर्वाद लेकर दोनों अलग हो गए।

आखिर विवाह का सुदिन आ गया। चक्कि की इच्छा थी कि शादी धूमधाम से की जाए। सोने के कुछ गहनें बना लेने के कारण चेंपन का थोड़ा पैसा खर्च ही हो गया। इसलिए खूब खर्च करने के लिए वह तैयार नहीं था। घटवार पहुँच गए। तृक्कुन्नप्पुषा से वर के लोग आए। वर पक्ष की तरफ़ से कोई स्त्री नहीं आई है, यह शिकायत की बात रह गई। बहुत वाद-विवाद के बाद रिवाज़ के मुताबिक पचहतर रूपए की रकम देने को वर के लोग सहमत हो गए। शादी की प्राथमिक रस्म पूरी हो गई। ठीक मुहूर्त के समय चक्कि बेहोश हो गई। भोज के समय यह गड़बड़ी हुई। पलनि की जात के बारे में न जानने के कारण कुछ लोग बिना खाना खाये ही चले गए। शादी तो ठीक मुहूर्त में हुई। चेंपन ने अनुरोध किया की पलनि करुतम्मा के साथ उनके यहाँ ही रहे। पर पलनि ने इस का खूब विरोध किया। काफ़ी समय तक वाद-विवाद हुआ। शादी के बाद तो पति के साथ जाना ही धर्म है। माँ-बाप को छोड़कर जाने की बात सोचते ही करुतम्मा रो पड़ी। सब लोग उसके जवाब की प्रतीक्षा कर रहे थे। उसी को बात तय करनी है। चक्कि को आलिंगन करके वह कहने लगी - मैं नहीं जाऊँगी, अम्मा। चक्कि ने डाँटते हुए यह कहकर उसे जाने को बाध्य किया - क्या, तू उस मुसलमान छोकरे को छोड़कर जाना नहीं चाहती? माँ की फटकार सुनते ही उसने पलनि के साथ जाने का विचार बना लिया। चेंपन का चेहरा लाल हो उठा था और रौद्र रूप में बदल गया। करुतम्मा ने चेंपन के दोनों पैर पकड़े। लेकिन चेंपन पैर झाडकर मुँह फेरकर खड़ा हो गया। करुतम्मा कुछ समय वैसी ही पड़ी रहने के बाद उठी। वर पक्ष के साथ विदा लेनेवाली करुतम्मा को देखकर चेंपन गरज़ पड़ा - वह मेरी बेटी नहीं है।

तृक्कुन्नप्पुषा में आ बसने पर करुतम्मा को वहाँ का जीवन कुछ अजीब सा लगा। वहाँ की स्त्रियाँ एकत्र होकर नव वधू के बारे में बातें करने लगीं कि एक जाल वाले ने जिसके पास नावें भी हैं अपनी बेटी को एक ऐसे लड़के के साथ क्यों भेज दिया ? लड़के के पास न कोई घर है, न सगे - संबन्धी ही ?

पड़ोसी औरतों को सन्देह हुआ कि लड़की में कुछ गड़बड़ी है। उनकी बातों पर करुतम्मा ने ध्यान नहीं दिया। उसने एक प्रेमिका के तौर पर नहीं, वरन एक गृहिणी, एक घर की मालकिन के तौर पर अपना जीवन शुरू किया। करुतम्मा पति को चाहने लगी। दोनों ने एक - दूसरे को बहुत कुछ बातें सुनाई। चेंपन के प्रति पलनि के मन में कोई आदर भाव नहीं था। उसका स्वभाव पलनि को अच्छा नहीं लगा। माँ की तारीफ करुतम्मा ने की। एक अच्छी पत्नी होकर रहने का वचन दिया। उसने चाहा कि उसका पति उससे प्यार करे। शादी के दूसरे दिन सुबह पति को नहलाकर ही उसने समुद्र तट पर भेजा। समुद्र में जाने वालों को पवित्र होकर जाना चाहिए। पलनि जब सागर-तट पर पहुँचा तब नाव के मुखिया का पहला सवाल था, 'नहा लिया रे?' शादी के पहले ही करुतम्मा को पड़ोस की औरतों ने ऐसी कई बातें समझा दीं थीं।

एक दिन अप्रत्याशित रूप से खूब मछली मिली। करुतम्मा से कहे बिना पलनि निकट के हरिप्पाड शहर गया। करुतम्मा का मन उदास रहा। खूब मछली या पैसे मिलने से अरय जाति के लोग आलप्पुषा शहर जाकर पैसे फिज़ूल खर्च करते हैं। दो-तीन घण्टे रात बीतने पर पलनि लौटा। उसके हाथ में कागज़ की एक पोटली थी। पोटली में महीन कपड़ा था। पानी पीने के लिए जब घर में बरतन नहीं हैं तब इस कीमती कपड़े की क्या ज़रूरत थी ? लेकिन बाद में करुतम्मा को मालूम हुआ कि जीवन में ज़री का महीन कपड़े भी एक ज़रूरी चीज़ है और जीवन सिर्फ घरेलू बरतन और माल से पूर्ण नहीं होता।

करुतम्मा ने पलनि को एक सुव्यवस्थित जीवन-पद्धति के बारे में समझाया। पलनि ने कहा 'यह विस्तृत जल-राशि ही उसकी संपति है' ।

शादी के बाद माँ-बाप वर-वधू को निमंत्रण देकर न बुलावें तो यह बड़ा अपमान माना जाता है। यह एक रिवाज़ है। मज़ाक में करुतम्मा ने यों कहा - लड़के के यहाँ से संबन्धियों ने बिलकुल निमंत्रण नहीं दिया है। यह वाक्य सुनते पलनि रुष्ट हुआ -'हाँ पलनि के कोई नहीं है। उस के लिए दुखी होने वाला कोई नहीं है। तट पर रहने के अयोग्य एक लडकी थी। उसे पलनि के मत्थे मढ दिया गया। समुद्र में जाकर वह मर भी जाय तो उसके लिए रोने वाला कोई नहीं है।'

'तट पर रहने के योग्य वह नहीं थी' - यह आरोप करुतम्मा कैसे सह सकती थी ? फिर भी उसमें थोडी सच्चाई तो थी ! वह सिसक-सिसक कर रोने लगी। पलनि का मन पिघला। उसने कहा - यहाँ के सभी लोग यह कहते हैं ..... ।

करुतम्मा ने उस पर विश्वास करने को कहा। उसने वचन भी दिया कि वह एक पतिव्रता मल्लाहिन होकर रहेगी। पलनि ने सन्देह प्रकट किया कि करुतम्मा को खुद अपने ऊपर विश्वास नहीं है। करुत्तम्मा के सवालों पर पलनि ने 'ना' या 'हाँ' कुछ नहीं कहा था।

करुतम्मा को लगा कि उस पर एक और वज्रपात हो गया है। उसके रहस्य-प्रेम के बारे में पलनि को कोई सन्देह हो गया है। करुतम्मा के भावुक मन के सामने भीगी आँखें सहित निराश खड़े परीक्कुट्टि की मूर्ति खड़ी हो गयी। आजकल वह पुरानी स्मृति खो गई थी। आज वह मधुर स्मृति ताज़ी हो जाती है। स्वप्न में वह बोली - 'मैं तुम्हें प्यार करती हूँ।' पलनि ने पूछा - किस से प्रेम करती है? सहसा वह जाग गई और उसने जवाब में एक कच्चा झूठ कह दिया, 'अपने पति को '।

अगले दिन समुद्रतट पर पहुँचने में पलनि को बड़ी देरी हो गई। ऐसा इसके पहले कभी नहीं हुआ था। दोस्तों का मज़ाक पलनि को अच्छा नहीं लगा। वह नाव को आवेश में बढ़ाता

रहा। सब को लगा कि पलनि पर एक भूत सवार हो गया है। क्षितिज की रेखा ही उसकी सीमा है।

कुमारन डर गया और उसने पलनि से कहा, 'तू जाकर मर जा। एक भ्रष्टा को लाकर तुझे डूब मरना ही चाहिए। तेरे भाग्य में वही लिखा है। लेकिन हम लोगों के बाल-बच्चे हैं।' वेलायुधन ने पलनि के हाथ से पतवार ले ली और नाव को घुमा दिया।

शादी के बाद चौथे दिन रिवाज के मुताबिक वर-वधू दोनों को बुला ले जाना चाहिए। लेकिन बुलावा नहीं आया। क्यों नहीं बुलाया गया - यह सवाल दोनों सागर तट के लोगों ने करना शुरू कर दिया। न बुलाने का यही कारण हो सकता है कि करुतम्मा पतित हो गई है। लोगों ने उसे घर से बाहर कर दिया है। अपनी बेटी को घर बुला लेने की बात चेंपन को अच्छी नहीं लगी। कारण पूछने वालों से वह झगड़ा करने लगा। उसने बेटी को त्याग दिया है। चक्कि ने करुतम्मा की शादी के दिन से ही खाट पकड़ ली थी। उसके बाद उठी ही नहीं। बीमार पत्नी की ओर चेंपन ने कोई ध्यान नहीं दिया। इसलिए परीक्कुट्टि को बुलाकर चक्कि ने अपना दुःखड़ा बता दिया। यह भी बता दिया कि परीक्कुट्टि को करुतम्मा का सगा भाई होकर रहना है। - 'बेटा तुम्हें उससे प्रेम था। लेकिन अब उसे बहन समझना'।

चेंपन को अपनी नाव पर पतवार थामने में दिलचस्पी न रही। कई दिन बाद उसको नाव पर जाते देखा। पहले - जैसी तेज़ी नहीं थी। एक बार पतवार फिसलने से वह पानी में गिरा भी था। उस दिन चेंपन बीमार पडी चक्कि के पास खाट पर बैठ गया। वह एक हारे हुए व्यक्ति की तरह बैठा था। चक्कि ने अपनी बिगड़ती तबीयत के बारे में बता दिया और इस प्रकार सांत्वना भी दे दी कि 'किसी दूसरी से शादी कर लेना।' इतना कह चुकने पर चक्कि की छाती की घड़कन धीमी पड़ने लगी और धीरे-धीरे एकदम बन्द हो गयी।

माँ की मृत्यु की खबर तक बेटी को न देने का हठ करने लगा चेंपन। चेंपन के विचार में करुतम्मा ही चक्कि की अकालमृत्यु का कारण थी। करुतम्मा और चक्कि के सामने अपने को दोषी न ठहराने के लिए परीक्कुट्टि पलनि के घर पहूँचा। 'पलनि की स्त्री की माँ मर गई है।' परीक्कुट्टि ने एक मछुआरे को बताया। लेकिन पलनि के घर की राह बताने वाले उस मछुआरे ने एक उलझन भरा सवाल पूछ लिया - मरने की खबर लेकर तुम कैसे आए? वहाँ कोई मल्लाह नहीं मिला क्या'? चक्कि मरने के बाद का समाचार परी ने करुतम्मा को कह सुनाया। सुनते ही वह रोने लगी। पलनि ज़रा पहले ही लौट आया। रोती हुई करुतम्मा की तरफ़ पलनि ने ध्यान भी नहीं दिया। उसका मन बिलकुल विचलित नहीं हुआ।

एक मल्लाहिन के मरने की खबर देने के लिए एक मुसलमान के आने के कारण पलनि के यारों ने उससे सन्देह प्रकट किया। पलनि को नाव पर आने नहीं दिया। पलनि चिंतामग्न हो गया। आखिर सब कुछ कह डालने के लिए करुतम्मा तैयार हो गई, वह पति से अपनी प्रेम कहानी सुनाने लगी। सब सुन चुकने के बाद पलनि ने कहा - 'तब तो लोगों को यह कहना कि उन लोगों ने तुम्हें नीक्कुन्नम तट पर से दूर कर दिया है, सच ही है।'

परीक्कुट्टि के जाने के बाद करुत्तम्मा के जीवन में बहुत कुछ फेर-बदल आ गया पलनि नाव में जा नहीं सका। टोकरी खरीदकर मछली बेचने चली करुतम्मा को पड़ोसिनों ने भला-बुरा सुनाया। फलतः उसने मछली बेचने जाने का काम छोड़ दिया।

करुतम्मा गर्भवति हो गई। एक कमरा और रसोईघर वाले मकान बनाने की चाह उसे हुई। इसी विचार के बीच में ही आकस्मिक घटनाएँ उत्पन्न हुई। पर पलनि हारने को तैयार नहीं था। 'समुद्र में जो कुछ भी है, वह सब मेरा भी है' - पलनि का मन अपने अधिकार - वोध से भर गया। करुत्तम्मा को भी आश्वासन दिया। लेकिन एक बात ज़रूरी है कि करुतम्मा को अपनी मर्यादा का पालन करना होगा। करुतम्मा की बचत से बारह रूपए लेकर और उसके सोने का गहना बेचकर पलनि ने काँटा और एक छोटी नाव खरीदी। पति-पत्नी के

जीवन में ज़रा तसल्ली हुई। कुछ दिन बाद करुत्तम्मा ने एक बच्ची को जन्म दिया। माँ बन जाने पर उसे अपनी बहन की याद आई। उसे पता चला कि उसके पिता चेंपन ने दूसरी शादी की है। बहिन पंचमी के करुण जीवन के बारे में सोचते वक्त उसके मन में अपार दुःख का अनुभव होने लगा। पर पति पलनि ने उसे अपने मायके जाने की अनुमति नहीं दी। ज़ालिया कंडन कोरन की मृत्यु हुई। उसकी पत्नी को ही चेंपन घर ले आया। पाप्पी के एक बड़े बेटे थे गंगादत्त। एक नये पति की ज़रूरत पाप्पी को नहीं थी। लेकिन अब उसकी पारिवारिक स्थिति अच्छी नहीं थी इसलिए जीने के उपाय हेतु वह चेंपन के यहाँ आई। गुज़ारे लायक संपति बच गई होती तो वह ऐसा कभी नहीं करती।

पंचमी ने पाप्पी का सम्मान नहीं किया। अनामंत्रित मेहमान की तरह पाप्पी को वह देखने लगी। छोटी माँ को समझती ही नहीं थी। पाप्पी ने जब पंचमी के नटखटपन के बारे में सुनाया तो चेंपन ने गुस्से में बेटी को दो थप्पड़ लगा दिए। पड़ोसिन नल्लपेण्णु दौड़ी आई और पंचमी को अपने घर ले गई। पाप्पी को दोषी भी ठहराया गया। 'यह भी अपनी बड़ी बहन जैसी ही होगी। किसी मुसलमान छोकरे के साथ लग जाएगी' - पाप्पी के कथन सुनकर चेंपन के मस्तिष्क में बिजली कौंध आई।

चेंपन को कहानी स्पष्ट मालूम होने लगी। परीक्कुट्टि का पैसा लौटा देने की व्यग्रता ! चक्कि ने भी उसकी मदद की होगी। - चेंपन पर एक पागलपन सवार हो गया।

उसने दौड़कर नल्लपेण्णु के यहाँ खड़ी पंचमी को खूब पीटा। वह पंचमी से पूछता जाता था कि क्या वह मुसलमान के साथ जाएगी ? उस दिन चेंपन को चक्कि के शव - संस्कार की जगह को खोदते हुए देखा गया। कुछ दिन बाद उसका पागलपन उतर गया।

चेंपन की दोनों नावों में मरम्मत की ज़रूरत थी। बिना मरम्मत के वे काम के लायक नहीं बनी। जाल भी बेकार हो गए। कर्ज़ लेकर नाव तथा जाल की मरम्मत करने का उसने निश्चय किया। ऋण ली हुई रकम से कुछ रुपए चुराकर पाप्पी ने बेटे गंगादत को दिए। जब चेंपन को यह रहस्य मालूम हो गया तब गरजकर पाप्पी को घर से मार भगाया। आखिर घटवार के यहाँ समझौता हो गया।

पाप्पी चेम्पन के ही घर लौट आई। दूसरे दिन पंचमी वहाँ दिखाई नहीं पड़ी। परीक्कुट्टि की रकम लौटा देने का विचार लिए हुए चेंपन उसके निवास-स्थान की ओर गया। 595 रूपये देने के पहले उसने कहा - 'यह है तेरा ऋण। मुझे बरबाद करने के लिए, मेरी बच्ची को पथ - भ्रष्ट करने के उददेश्य से, तुम ने जो पैसा दिया था, ले, वह वापिस ले।' चेंपन चला गया और अपनी नाव के पास खड़े होकर उसे ज़ोर की हँसी आ गयी।

पंचमी तृक्कुन्नपुषा में आ गयी। वह बहन करुतम्मा की झोंपड़ी में ठहरने लगी। घर में एक काली छाया फैल गयी। घर का वातावरण कुछ गंभीर होने लगा। पलनि के समुद्र जाने के बाद दोनों ने अपने पूर्वकाल जीवन का खूब स्मरण किया। 'कोच्चुमातलाली मेरी बात अब भी तुमसे पूछता था' - करुतम्मा के भावुक प्रश्न का उत्तर पलनि ने ही दिया - 'हाँ पूछता था।' करुतम्मा के प्रेम-नाटक का रहस्य खुल गया। लेकिन पलनि के प्रश्नों के उत्तर देने में करुतम्मा में अब एक मज़बूती आ गई। विवाह पूर्व प्रेम-संबन्ध रखने के किसी दोष का अनुभव उसको नहीं हुआ था। एक सच्चे व निश्छल प्रेमी के रूप में परीक्कुट्टि उसको प्रिय ही था।

उस दिन भी रोज़ की तरह पलनि समुद्र गया। उसकी नाव उस अनन्त जल-राशि में दक्खिन की ओर बढ़ी। वह उमंग में डाँड चला रहा था। लगता था कि उधर कहीं एक भँवर है। उसकी वजह से समुद्र की तह के खिंचाव से बचने का प्रयत्न वह करने लगा। बीच में एक शार्क को पकडने के लिए पलनि ने काँटा डाला।

वह रात करुतम्मा को भी अजीब सी लगी। उसे नींद नहीं आई। चिरपरिचित स्वर में 'करुतम्मा' - पुकारने की आवाज़ सुनाई दी। पलनि ही समुद्र से आकर उसे रात मे यों पुकारता है। इस बार दरवाज़ा खोलने के लिए नहीं कहा गया। फिर भी करुतम्मा दरवाज़ा

खोलकर बाहर आ गई। हवा चल रही है। वह समुद तट की ओर चली। स्वच्छ चाँदनी में वहाँ परीक्कुट्टि खड़ा था।

परीक्कुट्टि पहले के जैसा नहीं था। बहुत थका हुआ था। करुतम्मा को लगा - 'मेरे कारण इस पुरूष का सवर्नाश हो गया' ।

अब दोनों को डर नहीं लगा। कुछ ही क्षण में वह अपने जीवन की सब विफलताएँ भूल गई। दोनों एक दूसरे को चाहने वाले। प्रेम की तीव्रता में परी ने पुकारा - 'मेरी करुतम्मा' अर्धचेतनावस्था में करुतम्मा ने जवाब दिया। फिर दोनों एक हो गए। उस गाढ़ आलिंगन से अलग होने की शक्ति उनमें नहीं थी।

दूर समुद्र में उस बड़े शार्क ने पलनि की नाव को भँवर की और खींचा। समुद्र की स्थिति क्षुब्ध हो गई। मेघ का भयानक गर्जन हुआ। ज़ोर से बिजली कड़की। नाव भँवर में डूब जाने को हुई तो पलनि चिल्लाया - 'करुतम्मा' । अब वही मल्लाह की रक्षा कर सकती है। मगर वह अपनी मर्यादा खो चुकी थी। पलनि की नाव एक क्षण उल्टी हुई दिखाई पड़ी और फिर डूब गयी।

उस रात को आँधी, तूफान, बिजली, मेघगर्जन सब के एक साथ मिलने से संहार का काम पूरा हो गया। दूसरे की सुबह शान्त थी। करुतम्मा दिखाई नहीं दी। पलनि भी नहीं लौटा। पंचमी तट पर उस बच्ची को गोद में लिए खड़ी-खड़ी रो रही थी और बच्ची माँ-बाप के लिए चीख-पुकार मचाये हुये थी। दो दिन के बाद आलिंगन बद्ध स्त्री और पुरूष के मृतशरीर वहाँ किनारे लग गए। वे करुतम्मा और परीक्कुट्टि के शरीर थे। कुछ दूर पर 'चेरियषिक्कल' समुद्र तट पर काँटा निगला हुआ एक शार्क भी किनारे लगा था।

एक असाधारण प्रेम-कहानी यों समाप्त होती है।

3.4 कथानक

साधारणतया उपन्यास का सार आदि से अन्त तक की घटनाओं के क्रमिक विवरण द्वारा दिया जाता है। लेकिन घटनाओं का विवरण मात्र कभी उपन्यास नहीं होता। लबोक पेर्सी ने कहा है कि उपन्यासकार का दायित्व जीवन का कथोपकथन मात्र नहीं है बल्कि उसको अनुभवयोग्य बनाना है। मतलब यही कि उपन्यास के लिए कथानक के साथ अनेकानेक घटनाओं का सम्मिश्रण होता है। ई. एम. फास्टर ने कहा है कि घटनाओं के क्रम में परिवर्तन लाना उपन्यास की रसनीयता के लिए आवश्यक है। मलयालम के उपन्यासकारों ने प्रारंभिक काल से इसी रीति का अनुकरण करके उपन्यासों की सरसता को बनाए रखा है। प्रारंभ काल की रचनाएँ होते हुए भी ओ.चन्तुमेनाने की इन्दुलेखा और सी.वी.रामन पिल्लै की मार्ताण्डवर्मा नामक औपन्यासिक रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। उपन्यास में कथानक इस प्रकार रहे कि अद्भुत रस के द्वारा पाठक को आकर्षित कर सकें। आसाधारण घटनाएँ हों। कथानक के लिए आद्यान्त भविष्य कथा की सूचनाएँ हो, ताकि वे कथा के अन्त में ही सामने आएँ। कथापात्रों से संबधित होने पर ही घटनाएँ स्थाई बन सकेंगी। इसलिए घटनाओं के आधारभूत और नियामक कथापात्र ही आवश्यक हैं। इन सारी बातों को समायोजित करते हुए विख्यात समीक्षक एम.पी. पोल ने लिखा है- 'उपन्यास ऐसी एक गद्य रचना है जो मनुष्य के भाव विचारों को प्रकाशित करने योग्य एंव संभाव्य कथानक के विवरण द्वारा काव्यानुभूति की सृष्टि करती है। '

चेम्मीन एक असाधारण प्रेम कहानी है। विशेष प्रकार के कथापात्र, अपूर्व घटनाएँ एंव परिस्थितियाँ, मिथक, समूह मन आदि एक मिलकर यह असाधारण प्रेम कहानी बनती है। कथानक के केन्द्र में कथाकार ने करुत्तम्मा एंव परीक्कुट्टि के प्रेम को प्रतिष्ठापित किया है। एक ऐसा प्रेम जो सामाजिक आचार विचारों की परवाह नहीं करता है। अरय स्त्री करुतम्मा और चतुर्थ वेदानुयायी (इस्लाम) परी कुट्टी के बीच का प्रेम। दो

धर्मविश्वासियों का प्रेम जिनके बीच वैवाहिक संबन्ध स्वीकार्य नहीं होता। फिर भी, खास बात यही है कि दोनों दिल से दृढ़तापूर्वक प्रेम करते हैं। करुतम्मा एवं परीक्कुट्टि के बाल्य की सूचना दी जाती है तो भी प्रथम अध्याय का आरंभ उनके विशुद्ध की मधुरिमा से भरी जवानी का चित्र खींचते हुए है। नीरकुन्नम के प्रशान्त एवं भावपूर्ण सागर की पृष्ठभूमि में उनके लिए योग्य निवासस्थान को उपन्यासकार ने ढूँढ़ निकाला है। अठारह बरस की उमर तक समुद्र के साथ खिलखिलाते और परीक्कुट्टि से रसभरी बातें करते रहने वाली करुतम्मा को उपन्यास के प्रथम अध्याय में प्रस्तुत करते हुए भी उसकी जीवन-गाथा को आच्छादित रखने की प्रतिभाशक्ति तकर्षि ने दिखायी है। करुतम्मा के पिता चेम्पनकुंजु, माँ चक्कि, छोटी बहन पंचमी आदि कथापात्रों की सहायता लेकर उपन्यासकार ने ऐसा किया है। करुतम्मा ने परीक्कुट्टि से उपालंभ किया, रूठने का अभिनय किया, क्योंकि उसने अपने शरीर पर आँखें लगायी थी। खिलखिलाते हुए उसने यह भी कहा कि पिता मछली जाल और नाव खरीदने जा रहे हैं, लेकिन पैसे की कमी थी। किसी भी गरीब अरय की यही आशा थी कि अपनी एक नाव और जाल हो जाए। उस तथ्य को समझनेवाली करुतम्मा ने परीक्कुट्टि से खेल-खेल में उधार माँगा। उसकी प्रतिक्रिया थी - मछली दोगी तो उधार दूँगा। करुतम्मा ने उत्तर दिया योग्य दाम दोंगे तो मछली दूँगी। यह संवाद उनके भविष्य जीवन को नष्ट करने वाला सत्य बन गया।

अरय की जीवन-शैली को नियंत्रण में रखनेवाली एक मिथक है। उसे तकषि ने प्रथम अध्याय में जोड़ दिया है। पंचमी ने अम्मा को सूचना दी कि दीदी, 'छोटे मियाँ' से खिलखिलाती बतियाती रहती है। उस प्रसंग को लेकर चक्कि ने अरय-जीवन को नियंत्रित करनेवाली मिथक बेटी को सुनायी। उस मिथक के अनुसार स्त्री की चरित्र शुद्धि का मूल्य जीवन है - इस तथ्य को प्रत्येक माता अपनी बेटी को सुनाती है। इसे पुरूष भी जानता है। लहरों एवं जल धाराओं से होड़ करते हुए अरय जब सागर की गहराइयों में जाता है तो उसकी पत्नी को व्रतशुचिता का पालन कर तट पर तप करना होता है। तभी पुरूष निरापद लौट आएगा। पत्नी का व्रत टूट जाता है तो वह सजीव लौटता नहीं है। करुतम्मा के प्रेम को और मिथक को प्रथम अध्याय में निवेशित करते हुए उन्यास की संपूर्णता को तकषि ने मिथक की सूचिका से बांधे रखा है।

धनराशि के प्रति चेम्पनकुंजु का अदम्य लालच, बेटी के भविष्य पर आशंकित होते हुए भी माता चक्कि की सुख लोलुपता आदि को प्रारंभ ही में तकषि ने व्यक्त किया है। ये दोनो रीतियाँ करुतम्मा के जीवन के निर्णायक घटक हैं। सूक्ष्मता से देखने पर कथानक को आगे ले जाने वाला घटक चेंपनकुंजु को पैसे का लालच है। नाव खरीदने और नाव को जल में उतारने की साज सज्जाओं के लिए वह परीक्कुट्टि से उधार लेता है। लेकिन चेंपनकुंजु को इस तथ्य की जानकारी अन्त में हो जाती है कि करुतम्मा के प्रेम के कारण पैसे दिये गये थे। समुद्रतट पर अनेक लोग इस की चर्चा करते रहते थे। यह चर्चा चेम्पनकुंजु के कानों नहीं पड़ी- यहाँ स्वाभाविकता है। बच्चों के समान सुखी जीवन बिताना है - इस महामोह से भरे मन में दूसरा कोई प्रवेश नहीं पा सकता है। चक्कि ने पूर्व सूचना दी थी 'छोकरी किसी' 'म्लेच्छ ' के साथ भाग जाएगी। इस संदर्भ में उस म्लेच्छ को परीक्कुट्टि समझने योग्य वातावरण की सृष्टि की गयी है। लेकिन चेंपनकुंजु ने उनकी अनुसनी की। कथानक की प्रगति की स्वाभाविकता को लक्ष्य कर ऐसा किया गया है। चक्कि की इच्छा के अनुसार करुतम्मा को दृढ वैवाहिक संबन्ध प्राप्त हो जाता तो कथानक की तीव्रता नष्ट हो जाती। करुतम्मा के प्रेम संबन्ध को दुःखान्त अथवा त्रासदी बनाने के लिए जान बूझकर लेखक ने चेम्पनकुंजु, चक्कि आदि की मनोदशाओं की सृष्टि की।

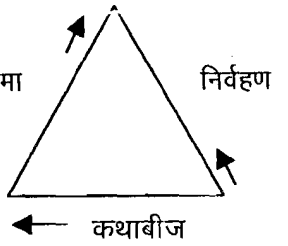

फ्रेटग के पिरामिड के अनुरूप कथाबीज को चरम सीमा तक विकसित कर निर्वहण पर पहूँचाने की रीति का तकषि ने अनुसरण नहीं किया है। प्रेम कहानी मुख्य वर्ण्य विषय है जिसकी दो चरम सीमाएँ हैं। नवम अध्याय में करुत्तम्मा, परीक्कुट्टि से विदा लेती है जो प्रथम चरमसीमा है। इतना भावोज्वल चित्रण मलयालम साहित्य में दूसरा नहीं है। चेम्पनकुंजु ने दो नावें खरीदीं, फिर भी परीक्कुट्टि का कर्ज़ नहीं चुकाया। कर्ज़ा लेने की याद तक उसमें शेष नहीं थी। भंडार नष्ट हुआ जिससे हाथ खाली, प्रेमसंबन्ध टूट गया जिसमें आशाओं पर पानी फिर गया, सब कुछ नष्ट कर सागर तट पर भटकनेवाले प्रेमी की दुर्दशा करुत्तम्मा को सहन नहीं थी, वह उसकी सहायता कर न सकी, उसको आश्वस्त न कर सकी। वह सोचती है कि इस दुर्दशा के लिए वह ही जिम्मेदार है। इसकी चिंता उसका दम घुटाती है और वह परीक्कुट्टि से विदा लेती है। यह चिन्ता उसकी जान लेने लगती है। इसी प्रतीक्षा से वह विदा लेती है कि मृत्यु के पश्चात् दोनों आत्माएँ समुद्र तट की चाँदनी में उड़ती फिरेंगी। उस विदाई के दृश्य में अरय नारी की चरित्र शुद्धि की संकल्पना उभरती है। गले से गला मिलाकर, आँसू बहा-बहाकर प्रेमियों के बिछुड़ने के दृश्य साहित्य में अनेक हैं। पतिव्रता की शरीर शुचिता को संरक्षित करने के लिए तकषि ने उन दोनों को एक हाथ की दूरी पर रख दिया। परीक्कुट्टि को मन में प्रतिष्ठापित करते हुए भी वह इसी मनोबल के आधार पर अपनी माता और अपने पति से कहती है - 'मैं गिरी नहीं हूँ।'

दूसरी चरमसीमा तब आती है जब अन्तिम दो अध्यायों में करुत्तम्मा और पलनि का संवन्ध टूटता है। अब तक उसको दिए विश्वास को बनाये रखने का वह मन से परिश्रम करती है। लेकिन, तब दुरन्त वार्ताओं का भाण्ड लेकर पंचमी लौट आती है तो तृक्कुन्नपुषा के मानव जीवन में भारी विस्फोट होता है। माता की मृत्यु के बाद पिता ने दूसरा संबन्ध जोड़ा, उसने पिता का धन चुराकर अपने पुत्र को दिया। पिता ने उसकी पिटाई की, पिताजी पागल बन गये, आदि बातें उस तक पहुँची। करुत्तम्मा पूछती है - 'छोटे मियाँ कभी मेरी याद करते हैं ? इसका उत्तर पलनि देता है तो दूसरी चरम सीमा शुरू होती है। करुत्तम्मा ने तब तक जिस विश्वास को हँसते-रोते, प्यार एंव विवाद करते हुए बनाये रखने का प्रयास किया था वह एक ही पल में चकनाचूर हो गया। वह दृश्य एकदम संघर्षपूर्ण एवं नाटकीय है। घटना प्रधान कथानक का आवश्यक गुण है नाटकीयता। उसको उन्नीसवें अध्याय में निबन्धित किया है। जो शेष रह जाता है, वह उसका निर्वहण है।

दूसरी श्रेणी के कथापात्रों में मुख्य चेम्पनकुंजु को केन्द्रबिन्दु बनाकर कथानक का मुख्य मार्गान्तर शुरू होता है। परीक्कुट्टि के कर्ज़ चुकाने की बात को वह जान बूझकर टाल देता है। युवकों के समान मदमस्त रहना, नई शादी के अनुभवों से सुखी रहना, आदि स्वार्थ मोह ही उस के लिए सब कुछ है। पलनि के साथ करुतम्मा का विवाह संपन्न करना अपने रास्ते को साफ करने के लिए था। अपार मछली संपदा प्राप्त होने पर भी परीक्कुट्टि का स्वागत करती है। अपने ही कारण वह बर्बाद हुआ, इसलिए उसके मन में सहानुभूति से मिश्रित प्रेम भर आया। ऊपर से पलनि का अविश्वास। इन कारणों ने उसे अन्तिम समागम की प्रेरणा दी। उस समागम दृश्य का बीज चेंपन कुंजु की लालच से भरी मनोवृति में तकषि ने छिपा रखा है।

चेम्पनकुंजु की कथा में दुःखान्त की दो चरमसीमाएँ हैं। एक उसका ही दुःखान्तजीवन और दूसरे उसकी पुत्री का दुःखान्तजीवन। एक दुःखान्त को दूसरे के कारण के रूप में संबन्धित किया है। चक्कि की मृत्यु, दूसरी पत्नी की स्वार्थता, उसके द्वारा की गयी चोरी, करुत्तम्मा

के पतन की जानकारी, आदि को तकषि ने चेम्पनकुंजु को गिराने का जाल बनाया है। जब उसको मालूम हुआ कि करुतम्मा से प्रभावित होकर ही परीक्कुट्टि ने धन दिया था तो उसको वापस करने का इरादा मन में किया। इस ज्ञान को उपन्यास के अन्तिम भाग तक ले जाकर तकषि उसको एक शक्तिशाली दुःखान्त प्रदान करने में सफल हुए।

चेम्मीन इसका एक उत्तम उदाहरण है कि जब सभी सूक्ष्मताओं को अवधानतापूर्वक समायोचित कर कथानक का संगठन किया जाता है उपन्यास अतीव शक्तिशाली एवं आह्लादकारी बन जाता है। प्रथम अध्याय में सहजता से फूट निकलनेवाला तालमेल और परिणाम अन्तिम अध्याय में परिलक्षित होता है। एक ही सिक्के के दो पक्षों के समान वे मिले-जुले रहते हैं। यहीं पर प्रथम अध्याय की मिथक का अर्थ अभिव्यक्त होता है। वास्तविक जीवन में मिथक उतना प्रभावशाली नहीं है तो भी उसका परिपालन अभिकाम्य है। इसका सन्देश बीसवें अध्याय में है। उसके समानान्तर एक और बात भी है। मनुष्य के जन्म जात भावों से सर्वसाधारण और अति तीव्र रतिभाव की अनन्तविचित्रताओं की अभिव्यक्ति । शक्तिशाली और विशिष्ट मनोदशावाले कथापात्रों की सृष्टि करते हुए मिथक की शक्ति के तिरस्कार की क्षमता दिखायी गयी है। सामान्य रूप से समझा जाता है कि करुत्तम्मा का नाम लेते हुए भँवर में फँसे पलनि को बचाने के लिए तपस्यालीन अरय स्त्री की मिथक पर कथानक आधारित है। लेकिन चेम्मीन का कथानक इसके ठीक उल्टा है जिसमें विलोमी विचिन्तन के अनेक अवसर उपलब्ध कराये गये हैं। करुतम्मा के ज़रिये एक नये मिथक की तकषि ने सृष्टि की है जिस के अनुसार सहज रतिभाव की शक्ति को स्थायी बनाया गया है और उसके सफलीकरण के लिए सर्वस्व को त्यागने की रीति बतायी गयी है। प्रतिभा के धनी ही मिथकों की सृष्टि कर सकते हैं। इसलिए चेम्मीन की रचना के द्वारा तकषि को विश्वविख्यात उपन्यासकारों की पंक्ति में बैठने की योग्यता मिली। उसकी कलापूर्णता एवं सुन्दरता के कारण ही वह विश्व की सभी प्रमुख भाषाओं में अनूदित हुआ है।

3.5 पात्र सृष्टि

उपन्यास का स्वरूप इतना स्वच्छन्द है कि उसमें जीवन का समग्र चित्रण साध्य हो सका। उपन्यासकार को रचना का सीमा निर्धारण बाधक नहीं है। कथानक, क्रियाओं का प्रबन्धन हो तो कथापात्र उसके कर्ता हैं। उनकी सृष्टि को सफल बनाने के लिए उपन्यासकार को मानवजीवन का सूक्ष्य निरीक्षक और जीवन - सत्यों का अन्वेषक बनना होगा। उस अन्वेषण की नियंत्रक शक्ति के अंग हैं लेखक का व्यक्तित्व और मानवता का अवबोध। लेखक के लिए उपन्यास से बढ़कर दूसरा माध्यम नहीं है जिस के द्वारा अपने व्यक्तित्व की सत्यतापूर्ण, प्रौढ़ एवं विश्वास्यपूर्ण प्रस्तुति हो सके। मानव जीवन को सत्यता से एवं समग्रता से चित्रित करने की सशक्त विधा भी उपन्यास है। सभी भाषाओं के सभी उत्कृष्ट उपन्यासकारों ने इसका प्रयोग किया है। मलयालम की बात भी इससे भिन्न नहीं है। सी.वी. रामन पिल्लै, ओ.चन्तुमेनोन, पी.केशवदेव, तकषि, बशीर, पोट्टेक्काट, उरूब जैसे अनेक प्रतिभाधनी उपन्यासकारों ने मानव-जीवन की सत्यतापूर्ण एवं समग्र अभिव्यक्ति की है।

उपन्यास में अनेक प्रकार के कथापात्र होते हैं। उन्हें दो भागों में बाँट सकते हैं जैसे पूर्ण कथापात्र और अपूर्ण कथापात्र। उपन्यास की कथा के मुख्य व्यक्ति ही पूर्ण कथा पात्र हैं। केन्द्र कथा की सहज प्रगति और परिणति के लिए अप्रधान कथापात्रों की आवश्यकता पड़ती है। उनकी कथा का पूर्ण विवरण आवश्यक नहीं है।

तकषि को कुट्टनाड का कथाकार कहा जाता है। वहाँ के मनुष्यों के प्रतीकस्वरूप अनेक पात्रों की सृष्टि उन्होंने की। एणिप्पड़िकल, चेम्मीन, कयर आदि उपन्यास कुट्टनाड के धरातल पर रचे गये हैं। एणिप्पडिकल में सरकारी कर्मचारी गण, चेम्मीन में अरय जात के लोग और कयर में केरलीय समाज कथापात्र बन कर आते हैं।

पात्रसृष्टि में तकषि का दृष्टिकोण प्रेमकल्पना में परिवर्तित होता है। त्याग का फल, पतितपंकज, परमार्थ आदि प्रारंभकालीन उपन्यासों में वासना (lust) पर आधारित स्त्री-पुरूष संबन्ध को स्थान दिया है। चेम्मीन में उसे उन्होंने उदात्त प्रेम (love) परिवर्तित किया है।

उस काल में तकषि ने जब कहानी लिखना शुरू किया था तब केरल में साम्यवाद का प्रचार द्रुत गति से हो रहा था। सामंत सभ्यता के अन्तिम कड़ी बन कर रहने वाले राजाओं एवं ज़मीन्दारों की कथाएँ प्रारंभिक रचनाओं में बतायी गयीं। लेकिन क्रान्तिकारी विचार धारा ने उन्हें यह समझने को बाध्य किया कि गरीबों, भिखारियों एंव पतित जनों की भी अपनी कथाएँ होती हैं। समाज के निचले तबके के लोगों को नायक एवं कथापात्र बनाने की धीरता साहित्यकारों ने दिखायी। तकषि नामक उपन्यासकार ने निचले तबके के लोगों को केन्द्र बिन्दु बनाकर अनेक उपन्यासो एवं कहानियों की रचना की। इस प्रकार के कथापात्र रंडिडंगषि, तोटिटपुटे मकन, चेम्मीन आदि उपन्यासों में प्रत्यक्ष होते हैं।

पात्रसृष्टि की दृष्टि से चेम्मीन की एक विशिष्टता है। रंडिडंगषि एवं तोटिटयुडे मकन नामक उपन्यासों में समाज नीति पर बल दिया गया तो चेम्मीन में व्यक्ति मन की विचित्रता को स्थान दिया है। स्त्री-पुरूष संबन्ध के खुरदरे भौतिक तल की अपेक्षा इसमें तकषि ने सूक्ष्म मानसिक तल को प्रस्तुत किया है।

विद्यार्थी एवं कर्मचारी के रूप में सागर तटवर्ती स्थानों में रहने का अवसर तकषि को प्राप्त हुआ है। सागर के साथ मछुआरों का संघर्ष, कठिन परिश्रम के बावजूद सहचारी बननेवाली गरीबी, उनकी आचार रीतियाँ, अशिक्षित होने के कारण सामने आनेवाली शोषण नीति आदि का तकषि ने प्रत्यक्ष दर्शन किया है। चेम्मीन के अप्रधान कथापात्र तकषि के सामने प्रत्यक्ष हुए मछुआरों के प्रतीक हैं। मच्छीघाट का अरय (मुखिया) परीक्कुट्टि, अच्चनकुंजु, नल्ल पेण्णु, पंचमी आदि पात्र किसी भी सागर तट पर दिखायी देने वाले हैं। लेकिन मुख्य पात्रों की बात कुछ अलग है। वे पात्र चेम्मीन को एक उत्तम रचना का स्वरूप देते हैं।

3.5.1 परीक्कुट्टि

चेम्मीन दुःखान्त कथा का नायक है परीक्कुट्टि। तकषि दृढतापूर्वक मानते थे कि कथापात्र चलते-फिरते सहज मनुष्य हों। इसका मतलब यही कि जीवन की परिस्थितियों में प्रकट होनेवाली सहजता उसमें हो। चेम्मीन के ही नहीं, तकषि की सभी रचनाओं के कथापात्र इस प्रकार के हैं; दिन प्रतिदिन सामने दिखाई देनेवाले मनुष्यों के समान सहज एवं सरल।

परीक्कुट्टि का जन्म नीर्कुन्नम के सागर तट प्रदेश में नहीं हुआ था। उसका ख़्बाबा रू उसी प्रदेश का झींगा व्यापारी था। बाबा की हथेलियों में झूलकर बचपन ही में तट प्रदेश में पहुँचा था। उसी दिन उसे करूत्तम्म से एक भेंट मिली थी - सागर तट से चुनकर सुरक्षित रखा गया एक बड़ा गुलाबी शंख। उस स्नेह-प्रकटन के पश्चात् दोनों उसी तट प्रदेश में मित्रता से रहे और बड़े हुए। फिर उनके मैत्री बंध में प्यार का नया रंग चढ़ा। लेकिन परीक्कुट्टि ने कभी अरय स्त्रियों के रीति-रिवाज़ एवं तमीज़ को तोड़ने की प्रेरणा नहीं दी। नाव की छाँव में बैठकर बहुत कुछ हँसते थे, जिसमें दूसरों को हँसी नहीं आती थी। इसबीच, एक दिन उसने पूछा - नाव और जाल खरीदने का पैसा दोगे ? पिताजी की बातों को सुनकर ही उसने यह माँग की थी; उसमें प्रेम का स्वर नहीं था; एक साधारण वाक्य। लेकिन उस वाक्य ने परीक्कुट्टि के ही नहीं दूर प्रदेश तृक्कुन्नप्पुषा के पलनि के जीवन को भी बदल डाला। करुतम्मा का परिवार शिथिल हुआ। परीक्कुट्टि एवं करुतम्मा के जीवन टूट गये। सर्वत्र दुरन्त फैलने लगा।

वह प्रश्न दुरन्त का बीज था। उस प्रश्न की प्रेरणा स्त्रोत परीक्कुट्टि का प्यार भरा हृदय था। लैला-मजनू के मजनू के समान, उसका एकमात्र ध्येय प्यार था। उसके प्रमाण स्वरूप जब-जब चेम्पनकुंजु ने चाहा तब-तब उसने पैसे दिये। नाव खरीदी गयी जब अच्छी 'पकड़' मिली, उसका माल परीक्कुट्टि को न बेचकर उसने धोखा दिया। उसकी परवाह किये बिना परीक्कुट्टि ने अपने भंडार की सूखी मछलियाँ चेम्पनकुंजु को दे दीं जिससे दूसरी नाव

खरीदी गयी। 'चाकरा' के मौसम में असीम धन - राशि मिली तो भी उसने परीक्कुट्टि के पैसे वापस नहीं दिये। परीक्कुट्टि चकना चूर हो गया। तब 'चाकरा' के सिलसिले में आये पलनि के साथ अपनी प्रेयसी के विवाह बन्ध पक्का करने की बात मालूम हुई। उनके भावोज्वल विदाई के समय परीक्कुट्टि ने कहा - तृक्कुन्नप्पुषा में रहनेवाली करुतम्मा की याद में नीर्कुन्नम में बैठकर गाते गाते मैं जान दे दूँगा। प्रेम के लिए प्रेमवाली धारण को दृढ करने वाला मुहूर्त।

करुतम्मा जब पलनि के साथ गयी तो अस्वस्थता से चक्कि गिर पड़ी। तब उसने परीक्कुट्टि को बुला भेजकर अनेक दुःख भरी बातें बतायी और चेम्पनकुंजु की लालच की शिकायत की। उसके बाद उसने यह माँग की कि उसे करुतम्मा को बहन मानना चाहिए। चक्कि की मृत्यु की खबर देने गया। चतुर्थवेदी (इस्लाम) जब मृत्यु की खबर देने गया तो करुतम्मा के जीवन में समस्याएँ बढ़ी। तृक्कुन्नपुषा के लोगों ने अफवाहें फैलायीं। पलनि अपनी पत्नी पर शक करने लगा। 'गिरी नारी के पति पर विपदा आ पड़ती है -' इस विश्वास से प्रेरित होकर कोई भी पलनि को अपनी नाव में ले जाना नहीं चाहता था। पलनि अकेले छोटी नौका में काँटे में मछली फाँसने जाता था। समस्याएँ बढ़ी। तब भी करुतम्मा एक धर्मनिष्ठ पत्नी बनकर रही। करुतम्मा की छोटी बहन पंचमी ने आकर 'छोटे मियाँ' की कष्ट-दशाएँ बतायी तो करुतम्मा ने पूछा - छोटे मियाँ कभी मेरी याद करते हैं? पलनि ने यह प्रश्न सुना तो उसका सन्तुलन नष्ट हुआ। वह अपनी पत्नी के विश्वास को समझने की कोशिश कर रहा था। गुस्से में आकर पलनि अपनी छोटी नौका लेकर समुद्र में गया। उसी रात को परीक्कुट्टि ने आकर करुतम्मा को बुलाया। उस आश्रय हीन पुरूष को, जो अपनी ही कारण सभी प्रकार से चकनाचूर हो गया था, एक पल का आश्वास प्रदान करना चाहा, करुतम्मा के अन्दर की प्रेमिका ने। वह, बाकी सब भूल गयी। समुद्र में गये पलनि को भी भूल गयी। चाँदनी बिछी वह रात कालीरात बनी। परीक्कुट्टि का बुलावा स्वीकार कर करुतम्मा उसके साथ चली। दो दिन बाद सागर तट पर उनके शव दिखाई पड़े।

करुतम्मा एवं परीक्कुट्टि के प्रेम सम्बन्ध में अपूर्व कल्पना शक्ति एवं चारूता है। इसी दशा में परीक्कुट्टि साधारण पुरूष एवं नायक बन जाता है। लगता है एक साधारण व्यक्ति, दूसरों के ही समान; लेकिन सबसे भिन्न है। अपनी प्यारी प्रेयसी दूसरे की पत्नी बनी, माता बनी। तब भी उसके प्रति जो मनोदशा थी, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यही अपूर्वता है। करुतम्मा के ही कारण परीक्कुट्टि की अजीविका, जीवन पारिवारिक संबन्ध सब नष्ट हुए यही साधारण धारणा हो सकती है। लेकिन इस असाधारण नायक के मन में ऐसी धारणा नहीं थी। वे दोनों, विशेषकर परीक्कुट्टि चाहता था कि जीवन में साथ-साथ मिलन न हो पाए तो मृत्यु के बाद हो जाए। धन,कर्ज़, घाटा, चेम्पनकुंजु का धोखा - इन में से एक भी उसके लिए समस्या नहीं। सभी भौतिक परिवेश में वह प्रेमी था केवल एक प्रेमी।

करुतम्मा के परिचय से प्रेरित होकर परीक्कुट्टि ने पैसे दिये यह जानकारी जब प्राप्त हुई तब चेम्पनकुंजु ने कर्ज़ चुकाना चाहा। तब तक वह परीक्कुट्टि से कहा करता था कि 'जब पैसा तब व्यापार' यह वाक्य सुनकर चुपचाप पराजित-सा परीक्कुट्टि लौट जाता था। उसका एक ही कारण था - करुतम्मा के प्रति प्यार। पागल बनकर निराधार प्रेतात्मा की तरह तट प्रदेश में भटकनेवाला चेम्पनकुंजु, कुछ परीक्कुट्टि के हाथों थमा देता है। तब उसने सोचा हो कि इस पैसे से जीवन दुबारा हरा-भरा बन जाएगा, तो वह परीक्कुट्टि बन नहीं पाता। उसके लिए प्रेम ही सबसे मूल्यवान है। दूसरे दिन उसने करुतम्मा से मिलना चाहा। इस प्रकार के अपूर्व भावाविष्कार के मुहूर्त में उपन्यासकार सफलता प्राप्त करता है।

सब ऐसा सोचते हैं कि प्रेम का साक्षात्कार विवाह में है। परीक्कुट्टि विवाह की सोचता तक नहीं। इसलिए घर छोड़कर भागने की बात भी नहीं। जैसे जीवन की पूर्णता मृत्यु में है वैसे यहाँ प्रेम, मृत्यु से पूर्ण हो जाता है। परीक्कुट्टि के ज़रिये तकषि ने अपूर्व प्रमानुभूति को अभिव्यक्त किया है। यह कथापात्र व्यक्त कर देता है कि तकषि का प्रेम दर्शन असाधारण है।

3.5.2 करुतम्मा

मलयालम उपन्यास शाखा में करुतम्मा जैसी नायिका दूसरी नहीं है। एक अपूर्व नायिका नीर्कुन्नम तट प्रदेश में जन्मी-पली एक साधारण मछुआरिन। लेकिन उसके प्रेम ने उसे एक असाधारण नायिका का पद दिया। वह चेम्पनकुंजु और चक्कि की बड़ी पुत्री थी। उसका प्रारंभिक जीवन, तट पर उड़ते-फिरते रहने वाले एक सूखे पते के समान था। बाल्यकाल के स्वतंत्र जीवन के समय वह परीक्कुट्टि से परिचित हुई। वह उसको अच्छा लगा जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में उसने अपना गुलाबीशंख उसको भेंट किया। बाद की कहानी से यह व्यक्त हो जाता है कि वह शंख उसके जीवन का और उसके दिल का प्रतीक था। जवानी के दिनों में उस शंख के स्थान पर दिल आ गया। बंधन बढ़े। करुतम्मा को लगा कि बड़ी होना नहीं चाहिए था। हँसने, बोलने, देखने आदि सब में मनाही आ गयी। साथ साथ मछुआरिन की 'रीति नीति' की संकल्पना। यह विश्वास किया जाता था कि समुद्र में गये पुरूष का जीवन तट पर रहने वाली स्त्री की विशुद्धि पर टिका है। इस विश्वास ने उसका दम घुटाया। व्रत भंग हुआ तो एक व्यक्ति नहीं सारा गाँव मिट जाएगा। करुतम्मा उस नाश का कारण बनना नहीं चाहती थी। नाव और जाल खरीदने पर पिता को मिलनेवाला आनन्द, परीक्कुट्टि के सूक्ष्म निरीक्षण का अर्थ - दोनों की सम्मिश्रित मनोदशा में उसने परीक्कुट्टि से कुछ पैसे उधार माँगे। उपन्यास का प्रारंभ इसी वार्तालाप से होता है। सच्चाई और मज़ाक को उस वार्तालाप से अलग-अलग नहीं किया जा सकता था। 'मछली दोगी?' परीक्कुट्टि के इस प्रश्न का उत्तर हँसते हुए करुतम्मा ने दिया - 'अच्छा दाम मिले तो दूँगी।' इस वाक्य को पढ़ने पर ऐसा लगेगा कि जवानी की प्रेरणा से कहा गया खिलवाड़ । लेकिन तषकि ने अपने उपन्यास के आद्यन्त को इस छोटे वाक्य में छिपा रखा है।

तट प्रदेश की मिथक को मानकर करुतम्मा, पलनि की पत्नी बनी। यह कहते हुए वह तृक्कन्नपुषा चली गयी कि मृत्यु के बाद साथ मिलेंगे। अपने शब्द सार्थक बन गये तो अस्वस्थ बनी। व्यापार के शिथिल हो जाने पर मारा-मारा फिरनेवाला छोटा मियाँ उसके मन की नित्य वेदना बन गया। पतिव्रता बन कर रहने का उसने निश्चय कर लिया। चेम्पनकुंजु की बातों को टाल कर वह पलनि के साथ गयी तो उसका लक्ष्य शील संरक्षण था। उसके बीच जो चहल-पहल हुई और चक्कि गिर पड़ी तो चक्कि भी उसको पलनि के साथ चाहती थी। परीक्कुट्टि के पैसे वापस करने के लिए करुतम्मा एवं चक्कि दोनों ने मिल कर चेंपनकुंजु की पेटी खोलकर चोरी की थी। फिर भी, वे कर्ज़ चुका न पायी।

दोनों प्रदेशों के लोगों के बीच वार्ताएँ चली कि नाव एवं जाल का स्वामी अपनी बेटी को पलनि जैसे एक अनाथ के हाथों सौपना चाहता है तो उनके पीछे कोई रहस्य हो सकता है। उन बातों की परवाह किये बिना एक जिम्मेदार एवं स्नेहमयी पत्नी बनकर रहने का उसने निश्चय किया। उसके साथ कोई भी स्त्री नहीं चली थी, कुछ पुरूषों के साथ वह पलनि के घर पहुँची थी। चौथे दिन दावत का बुलावा देने के लिए दुल्हन के घर से कोई नहीं आया। ये दोनों बातें जब साथ-साथ मिल गयीं तो पलनि के प्रदेशवालों ने निर्णय कर लिया कि तट प्रदेश के लिए अयोग्य एक लड़की को एक अनाथ के हाथों थमाकर उस तट प्रदेश के सत्यनाश के लिए भेज दिया है। उसके बाद जितनी भी बातें हुई, सब की सब करुतम्मा के विरोध में थी। वह मछली बेच न सकी। दूसरी मछुआरिनों ने अफवाह फैलायी कि वह पुरूषों को अपनी ओर आकृष्ट कर व्यापार को सुगम बनाती है। चक्कि की मृत्यु की खबर देने के लिए परीक्कुट्टि पहुँचा तो उसके विरोध में पलनि को नावों में ले जाने पर रोक लगी। वे दोनों तिरस्कृत होने लगे। इस बीच उसने अनुभव किया कि पलनि का प्यार ढीला पड़ता जा रहा है। लेकिन वह धीर रही, क्योंकि वह गिरी नहीं थी। इसका मतलब यही कि परीक्कुट्टि के साथ उसका शारीरिक संबन्ध नहीं हुआ था। हर समाज नारी की परिशुद्धि का निर्णय इसी आधार पर करता है। जैसे-जैसे करुतम्मा अपने विश्वास को दृढ करना चाहती थी वैसे वैसे पलनि पूछता रहता था कि तुम अपने पर भी भरोसा नहीं कर सकती हो। उस वाक्य ने उसके मन को जला दिया। पलनि का दृढविश्वास था कि करुतम्मा के पीछे कहानी है। उसने उसके बारे में पूछताछ की। पैसे के लेन-देन, गीत की वश्यता, अन्तिम विदाई आदि को छिपा

कर बाकी सारी कथाएँ उसने सुनायी और उसने वचन दिया कि तट प्रदेश की लायक मछुआरिन बनकर जीवन बिताएगी। पलनि ने करुतम्मा पर विश्वास किया ; फिर भी उसके मन में एक काला धब्बा शेष रह गया कि उसको नीर्कुन्नम से निकाला गया था।

एक बच्ची जनी तो उनके जीवन की गति बदल गयी। आज जीवन का एक लक्ष्य है। बच्ची का पालन पोषण करना है। बगैर किसी संघर्ष के जीवन चलता रहा तो सौतेली माँ से झगडा कर छोटी बहन पंचमी वहाँ पहुँची। उसकी उपस्थिति पलनि को अच्छी न लगी। उनके अनिच्छित कार्यो की याद दिलानेवाली उपस्थिति। पलनि को जिसका डर था वही हुआ। इधर उधर की बातें करते करते करुतम्मा और पंचमी का वार्तालाप परीक्कुट्टि तक जा पहूँचा। करुत्तम्मा और आकांक्षा को दमित नहीं कर सकी कि छोटे मियाँ उसकी याद करता है या नहीं। उस प्रश्न का उत्तर देने वाला पलनि था। सारे आच्छादन हट जाते हैं। वह सोचने लगती है कि शादी के पहले किसी से प्यार किया तो इस में क्या गलती है? यह जानकर कि करुतम्मा के मन में अब भी परीक्कुट्टि जी रहा है, पलनि भावाविष्ट होकर सागर में नाव खेने चला गया। करुतम्मा तट पर तपोलीन नहीं रही, परीक्कुट्टि की स्मृति में लीन रही। झकझोरने वाला तूफान और भारी वर्षा जैसे करुत्तम्मा और पलनि की मनोदशा के प्रतीक हो।

रात बीत गयी तो परीक्कुट्टि वहाँ पहुँचा जैसे करुत्तम्मा ने अपने मन से उसे आवाहित किया हो। उसने आवाज़ दी तो करुतम्मा बाहर निकली। उसके बाद उनका समागम हुआ, जो लंबे काल से दोनों चाहते थे। उस समय करुत्तम्मा के मन में न पलनि था, न बच्ची थी, और न छोटी बहन थी। उसको यह पता भी नहीं लगा कि सागर में गया मच्छुआरा तूफान एवं भँवर में फँसकर सुरक्षा के लिए करुतम्मा को बुला रहा था और पराजित होकर भँवर में डूब गया था। इस धारणा को उसने मूल्यवान नहीं समझा कि पुरूष को एक स्त्री के हाथों सौंपा जाता है। उससे बढ़ कर उसने अपने प्रेम को अधिक मूल्यवान समझा। जो सफलता उसे जीवन में प्राप्त नहीं हुई उसे मृत्यु के ज़रिये प्राप्त किया।

तकषि ने सागर तट की एक साधारण स्त्री के मन में प्यार भर दिया और उसे एक आसाधारण नारी बना दिया। करुत्तम्मा में अनेक प्रकार के गुण हैं जैसे सत्य, नीति, विश्वास, उत्तरदायित्व भाव, सहोदर स्नेह, चिन्तन शक्ति, युक्ति विचार आदि। परीक्कुट्टि को प्राणों से भी अधिक प्यारा माना तो भी उसमें मछुआरिन की 'रीति नीति' को सुरक्षित रखने का नैतिक मनोभाव था। तब भी तृक्कुन्नप्पुषा के लोगों ने उसे गिरी हुई मानकर पीड़ा दी। करुतम्मा ने यह प्रश्न किया किया क्या तुम लोग उतनी पवित्र हो? तपोलीन मछुआरिन' की मिथक को भी पूर्ण रूप से वह स्वीकार कर न सकी। उसमें यह युक्ति मौजूद थी कि तट प्रदेश में ऐसी स्त्रियाँ नहीं है जिन्होंने व्रत भंग न किया हो। उसको यह सत्य भी मालूम था कि तट प्रदेश की कोई स्त्री किसी पुरूष को प्यार करे तो सागर, तट पर चढ़ आएगा और तट प्रदेश नष्ट हो जाएगा। फिर भी उसने उस विश्वास की निन्दा न कर उसका अनुसरण किया। तकषि ने साबित किया कि प्राणी सहज यौन प्रेरणा का काल्पनिक नाम है प्रेम। अति शक्तिशाली उस प्रेरणा को दबान की शक्ति नैतिक विचार, संस्थापित पत्नी धर्म, प्रत्युत्पादन किया आदि में नहीं है। करुत्तम्मा एवं परीक्कुट्टि की किया ने यही सिद्ध किया। जातिगत आचारों के नाम पर बिछुड जाने और दो वर्षो तक अपरिचित जैसे रहने पर भी बढती रही उनकी मनोदशा उनके प्रेम को कल्पना का परिवेश देती है।

करुतम्मा के पात्र चित्रण में स्त्री के अधिकार और आवश्यकताएँ प्रत्यक्ष लक्ष्य क रूप में परिलक्षित नहीं होते हौ। फिर भी उसके व्यक्तित्व की समझदारी के रूप में उसके विचार को व्यक्त किया गया है कि अपराध कुछ भी न करने पर समाज उसको दण्डित कर रहा है 'विवाह के पहले मैंने एक पुरूष से प्यार किया। उसमें दोष क्या है? यह प्रश्न वैयक्तिक स्वतंत्रय बोध का प्रकटीकरण है। इस प्रकार की दुर्घटनाओं का दायित्व उस समाज का है जो जाति - धर्म के परे होकर जीने को तैयार होने वालों को जीने नहीं देता है। नवजात नन्ही बच्ची पंचमी आदि भविष्य दुर्घटना के सूचकों के रूप में बच जाती हैं। पात्र सृष्टि में तकषि की असामान्य क्षमता को व्यक्त् करनेवाली है करुतम्मा।

3.5.3 पलनि

नब्बे प्रतिशत उपन्यासों में 'त्रिकोण प्रेम' पाया जाता है। यह अतिपुरातन समस्या है। इसलिए उसके चित्रण को उपन्यासकार की प्रतिभा का निकष माना जाता है। चेम्मीन का पलनि साधारण खलनायक नहीं है। वह जान बूझकर परीक्कुट्टि और करुतम्मा के प्रेम संबन्ध में बाधा नहीं डालता है। अनजाने में वह खलनायक बन जाता है।

वह एक अनाथ था जो तृक्कुन्नपुषा तट प्रदेश में पला था। बड़ा हुआ तो काम किया, मन भर खाया, सोया। एक शक्तिशाली मच्छुवारा बन गया। स्वच्छंद, किसी के प्रति किसी भी प्रकार का दायित्व नहीं। उसको चाहनेवाला कोई नहीं था। पलनि 'चाकरा' के काल में नीर्कुन्नम तट प्रदेश आ पहूँचा।

नीर्कुन्नम का शक्तिशाली और दक्ष मच्छुआरा था चेम्पनकुंजु। उसकी अपनी नाव थी। उस गर्व भाव को लेकर खेवैया बनकर आगे निकलने वाले चेम्पनकुंजु को पीछे करने की शक्ति केवल एक व्यक्ति में थी और वह व्यक्ति था पलनि। उस शक्तिशाली युवक को अपनी नाव तक पहुँचाने के प्रयत्न को सरल बनाने के लिए पलनि को अपनी पुत्री का पति बनाया। चेम्पनकुंजु का विश्वास था कि अनाथ होने के कारण पलनि घर ज़माई बनकर रहेगा। उसकी सारी प्रतीक्षाओं पर पानी फेरते हुए विवाह के ही दिवस में वह पत्नी को साथ लेकर अपने घर चला गया। पलनि पत्थर जैसा दृढ था तो भी पत्नी उसको अच्छी लगी। चाकरा पकड़ के लिए गया तो पलनि ने कभी न सोचा था कि शादीशुदा होकर लौटेगा। वह शान्त और प्रेमी पति के रूप में बदल गया। पत्नी को खाना परोसकर देने का सद्भाव उसमें था। पहले दिन करुतम्मा से कहा कि उसके पिता को वह नहीं चाहता है।

करुतम्मा और पलनि के जीवन में प्रदेश के लोग दखल देने लगे। लोग यह शंका प्रकट करने लगे कि नाव एवं जाल के स्वामी और धनी मच्छुआरे ने अपनी बेटी को एक अनाथ के हाथों क्यों सौंपा? अंत में वे इस निर्णय पर पहूँचे कि लड़की में कोई खोट होगा। लेकिन करुतम्मा के पक्ष से कोई अपराधी व्यवहार हुआ भी नहीं। इस बीच में परीक्कुट्टि की कथा भी वहाँ पहूँचायी गयी। फिर लोगों के चिन्तन- विचिन्तन के फलस्वरूप पलनि को नाव में ले जाना विपदापूर्ण है। पलनि के कानों तक बातें पहूँचने लगी। एक दिन उसके मित्र उसको अलग कर नाव लेकर चले गये। पलनि एक दम टूट गया। घर पहूँचकर पलनि ने करुतम्मा को खूब डाँटा - डपटा, लेकिन उसे दोषी न ठहराया। उसका विश्वास था कि वह गिरी नहीं है। 'आगे हम कैसे जिएँगे?' - करुतम्मा का यह प्रश्न सुनकर उसका पौरूष जागा। ' मैं सागर जाने योग्य नहीं हूँ - ऐसा कहने का अधिकार किसका है ? मैं सागर में जन्मा हूँ, सागर में जो कुछ है, सब मेरा है। पलनि की यही प्रतिकिया थी।

उसके बाद अकेले, छोटी नाव में सागर में काँटे से मछली पकड़ता था। उसने करुत्तम्मा से यह भी कहा कि 'रीति नीति' से चलने पर वह उसकी मछुआरिन बनकर रह सकती है। पंचमी और करुत्तम्मा के बीच छोटे मियाँ पर हुए वार्तालाप को सुनकर पलनि का मन अस्वस्थ हुआ। उस बिन्दु पर उनके जीवन में दिशान्तर होकर जीवन दो दिशाओं में चलने लगा। करुतम्मा के मन में छिपे परीक्कुट्टि को जब पलनि ने प्रत्यक्ष देखा तो करुतम्मा को लगा कि अब कुछ भी छिपाने को नहीं है। यह मानने के लिए करुतम्मा अपने मन में शक्ति संजोने लगी कि प्रेमकथा सच्ची है। पलनि में जीवन और मृत्यु का संघर्ष चला, वह रुष्ट हुआ। यह मनोभाव लेते हुए वह सागर की दूरी तक नाव खेते गया कि पत्नी अपने पति को चाहती हो तो पतिव्रति मछुआरिन रहकर उसकी रक्षा करे। उसी रात को तूफान और भारी वर्षा हुई। पलनि एक भारी तिमि (शार्क) के पीछे चलकर भँवर में फँस गया। वह 'करुतम्मा, करुतम्मा' चिल्लाता रहा। लेकिन वह अपने प्रेमी के साथ मिलकर प्रथम और अन्तिम समागम में लीन थी। दो दिनों के बाद दो प्रेमियों के शवों के साथ एक तिमि का मृत शरीर भी तट पर लगा, लेकिन पलनि का कुछ पता न लगा।

पलनि अनाथ होकर भी स्वाभिमानी था, अशिक्षित होकर भी अधिकारों का जानकार, पत्थर - दिलवाला था तो भी स्नेहधनी था, धोखे के प्रति असहिष्णु था। परम्परागत खलनायक

संकल्पना से भिन्न व्यक्तिवाला पात्र। जब विलोमी परिस्थितियाँ उसे दण्ड देती हैं, तो सहानुभूति होती है। एक साधारण मच्छुवारे से जिन-जिन अच्छाइयों की अपेक्षा कर सकते हैं, वे सब उसमें मौजूद थीं। धोखा देने ही के कारण हुई मनोवेदना और हठधर्मिता के अलावा और कोई बुराई उसमें नही थी। एक पति के लिए आवश्यक परिपक्वता, सहिष्णुता एवं आत्मधैर्य उसमें मौजूद था। परीक्कुट्टि जैसा एक नायक कहीं भी दर्शित हो सकता है। लेकिन पलनि जैसा खलनायक अन्यत्र पाया नहीं जा सकता है। अपनी मिथक की सार्थकता के लिए तकषि द्वारा रूपायित एक अपूर्व कथापात्र है पलनि।

3.5.4 चेम्पनकुंजु

उपन्यास के प्रारंभ में करुतम्मा के शब्दों में तकषि चेम्पनकुंजु को प्रस्तुत करते हैं। अपनी एक नाव और जाल - इसी आशा को मन में थामे हर मच्छुआरा दूसरों की नाव में काम करने जाता है। चेम्पनकुंजु के मन की आशा अदम्य थी। परीक्कुट्टि से उधार लेकर उसने अपनी आशा की पूर्ति की। जब एक नाव हाथ में आयी तो वह लालची बन गया। दूसरी नाव अपनाने की आशा को भी उसने सफल किया। उसकी इच्छा यहाँ तक बढी कि नन्हे बच्चों की तरह सुखी रहना है। इसलिए परीक्कुट्टि का कर्ज़ न चुकाया। इतना ही नहीं वह परीक्कुट्टि के सर्वनाश का कारण बना। नाव भर मछली लेकर वह तट पर पहूँचा तो वह शैतान बन गया। नीचे गिरी मछली चुनने के लिए उसकी छोटी पुत्री पंचमी पहूँची तो उसने उसे धकेल दिया। मछली खरीदने के लिए जब परीक्कुट्टि उसके निकट गया तो उसने कहा - 'पैसा हो तो मछली दूँगा। चक्कि की सहेली मछुआरिनों को भी मछली नहीं दी।

पैसे की प्यास से ही उसने पलनि को अपनी पुत्री का पति बनाया था। पलनि को उसने कुछ न दिया। इतना ही नहीं प्रदेश मर्यादा का उल्लंघन कर उसने भारी रकम 'दुल्हिन शुल्क' के रूप में माँगी और शादी के दिन झगड़े की परिस्थिति बनाई। इसे सुनकर चक्कि बेहोश हो गिर पड़ी। पलनि को घर जमाई बनाने की आशा असफल बनी तो पति के साथ जाने को उद्यत पुत्री को तिरस्कृत किया। चौथे दिवस की दावत के लिए उन्हें बुलावा न देकर उसने प्रतिकार किया। चक्कि का स्वास्थ्य गिरा तो सुख भोगने का मोह टूट गया। पत्नी की मृत्यु के बाद उसने दूसरी शादी की तो भी सुख दूर ही रहा। सौतली माँ के प्रति पंचमी की नफरत, अपने पुत्र के लिए दूसरी पत्नी द्वारा पैसे की चोरी आदि से चेम्पनकुंजु पागल सा बन गया। पागल की तरह उसने परीक्कुट्टि के हाथों कुछ रूपये थमा दिये और समुद्र तट पर घूमता रहा। चेम्मीन उपन्यास में जितनी भी दुर्घटनाएँ घटती हैं, सब उसके लालच की वजह से।

दूसरी श्रेणी के कथापात्रों में प्रमुख है चेम्पनकुंजु। उस पात्र को प्रधान कथापात्रों की पूर्णता एंव उज्वलता दी गयी है। उसकी दुर्गति को भी उपन्यास की प्रधान घटना के रूप में जोड़ा गया है। चेंपनकुंजु ऐसा एक साधारण मच्छुवारा नहीं है जो काम करता है, ताड़ी पीता है और पत्नी को पीटता है। उसकी सबसे बडी संपदा उसकी इच्छाशक्ति है। इसी इच्छाशक्ति से प्रेरित होकर वह मच्छुआरा अपनी नाव एवं जाल खरीद लेता है जबकि दूसरे मछुवारे उसका सपना मात्र देखते रहते हैं । त्रासदी नायके के लिए आवश्यक कमज़ोरी को दृष्टि में रखकर तकषि ने उसे लालची बनाया। उसके लालच ने ही उसके दुरन्त का जाल बिछाया। तटीय प्रदेश के जीवन का अत्यपूर्व प्रतीक है चेंपनकुंजु नामक पात्र।

3.5.5 चक्कि

दूसरी श्रेणी के पात्र चक्कि का महत्व नायिका करुत्तम्मा की माँ मात्र के रूप में नहीं है। उपन्यास के प्रथम अध्याय से तेरहवें अध्याय तक अपनी सजीव उपस्थिति से तथा बाद के बीसवें अध्यायों में एक अपूर्व आत्मीयता की उपस्थिति से इस पात्र का दर्शन होता है। लालच और स्वार्थ की पूर्ति करके 'चेम्मीन' को एक दुरनत कथा का रूप देने वाले चेम्पनकुंजु की पत्नी है चक्कि। मल्लाह की असली संपति मल्लहिन की पवित्रता ही है - 'प्रस्तुत जीवन-सिद्धांत प्रथम अध्याय में ही चक्कि बेटी करुतम्मा को बताती हुई उपन्यास में

प्रवेश करती है। पवित्रता का पालन वह करती भी है। वह पति परायण और सती साध्वी स्त्री है। मालिक बनने की इच्छा में व्यग्र चेंपन के जीवन से न जुड़ जाए तो समुद्रतट के साधारण मल्लाहिन के जीवन निर्वाह कर वह गुज़र ही जाएगी। चेंपन की पत्नी के पद ने उसके जीवन को संघर्षपूर्ण तथा असाधारण बना दिया।

सुख-लोलुपता का आग्रह ही चेंपन के जीवन को नियंत्रित करनेवाला तत्व रहा। घटवार और उसकी पत्नी का सुखी जीवन चेंपन के सामने था। बुढापे में भी वे सुख भोगते हैं। पति-पत्नी बच्चें की तरह हैं। चेंपने ने चक्कि को प्रलोभन दिया। इसी प्रेरणा से परीक्कुट्टि से कर्ज़ लेने तथा उसके डेरे से सूखी मछलियाँ खरीदकर बेचने को वह तैयार होती है। वास्तव में करुतम्मा के पूछने पर ही परीक्कुट्टि धन कर्ज़ देने को राज़ी हो गए। इस निर्णय के मूल विचार से चक्कि भली भाँति परिचित थी। परी का कर्ज़दार बनना ठीक नहीं था। शीघ्रातिशीघ्र बेटी की शादी कराकर वह भेज देना चाहती है। चक्कि ने अपने पति से यों भी कहा - कोई विधर्मी बेटी को ले जाएगा। 'बेटिया, तुझे अपनी मर्यादा की रक्षा करनी है।' - कहकर सीधे जाने वाले पिता चेंपन शायद चक्कि के कथन का मूल समझ गया होगा।

फिर भी वह इस्लाम परीक्कुट्टि का कर्ज़दार बनता गया। चाकरा के आने के बाद भी, परीक्कुट्टि के ऋण चुकाने का मन चेंपन को नहीं हुआ तो चक्कि को कर्ज़दार बनाने की गहराई महसूस होने लगी। पत्नी के वास्ते वह अब निस्सहाय बन चुकी थी। चेंपन की इच्छाओं के सामने वह असमर्थ हो गई। उसे मालूम था कि करुतम्मा के कथन में तथ्य है। बेटी के हठ तथ परीक्कुट्टि के पतन के कारण चक्कि पति के पैसे के बक्से से कुछ रूपए चुरा लेने को भी तैयार होती है। पड़ोसियों से जो सौहार्द बनाया रखा था वह भी टूट गया। करुतम्मा के बारे में पड़ोसिनो ने जो बुरी बाते बता दी उससे वह तंग आ गयी। पति को अफवाहों के बारे में सूचित करने से डरती थी। चेंपन के अमीर बन जाने से चक्कि के जीवन में भी अधिकार अनुशासन स्वतः शिथिलता आने लगी।

सयानी बेटी को घर में रखकर नाव और जाल खरीदना, परीक्कुट्टि का कर्ज़ न चुकाना, अनाथ पलनि के साथ करुतम्मा की शादी कराना आदि बातों पर चक्कि ने अपना विरोध तो पहले ही प्रकट किया था। फिर भी अपने विचारों पर अडिग रहने की हिम्मत उसको नहीं थी। समुद्र से धन बटोरनेवाले पुरूष के अधिकार तो मानना मल्लाहिन का धर्म नहीं। इसीलिए वह पति के व्यवहारों के अनुकूल रही। भूखी रहती थी वह। टोकरी भर मछली बेचती थी। अब सुख भोगने का जो प्रलोभन चेंपन ने दिया उसे ठुकराना वह चाहती नहीं।

करुतम्मा से संबन्धित बातें निकट के समुद्रतट के लोगों ने भी जान लीं। चक्कि दुःखी रही। विवाह के दिन किसी ने कहा - 'इस समुद्रतट का सर्वनाश न होने के लिए ही करुतम्मा को दूसरे तट पर भेज दिया गया है।' यह सुनते ही चक्कि बेहोश होकर गिर पड़ी। शादी के मुहूर्त भर संघर्ष बना रहा। चक्कि और बीमार पड़ी। खाट पर पड़ी माँ को छोड़कर पति के साथ जाने वाली करुतम्मा की उपेक्षा की गई। चेंपन ने गरज कर यह भी कहा - 'वह मेरी बेटी नहीं है।' पर चक्कि ने आशीर्वाद दिया। विवाह के दिन रूग्ण अवस्था में भी मातृ सुलभ स्नेह के कारण पुत्री को ससुराल जाने की अनुमति वह देती है।

शादी के बाद चौथे दिन वर - वधू दोनों को दावत पर बुला लेना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं हुआ जिससे चक्कि क्षोभ और दुख के कारण अधिक बेहोश हो गई। बेटी के दांपत्य जीवन में आनेवाली अमंगल घटनाओं का संकेत माँ को अनुभूत हुआ। उसकी बीमारी बढ़ती गई। माँ के पास जाने की भी अनुमति नहीं थीं करुतम्मा को। परीक्कुट्टि को देनेवाला धन वापस न दे सकी। यह चिंता भी चक्कि को सताने लगी। उसने एक दिन परीक्कुट्टि को घर बुलाकर अपनी व्यथा - कथा सुनाई। ' परी तुम करुतम्मा के भाई हो। तुम्हें उसका सगा भाई होकर रहना है - चक्कि की इस प्रार्थना पर परीक्कुट्टि कोई जवाब नहीं दे सका। चक्कि का जीवन त्रासदी और पतन परीक्कुट्टि का भी पतन सा लगा। इधर चेंपन का सब कार्यक्रम टूट गया। वह थका - माँदा घर लौटने लगा। उसके जीवन की व्यवस्था और सफलता के लिए चक्कि एक अविभाज्य अंग भी। अब उसे खाट की शरण लेनी पड़ी है। 'चक्कि को

मालूम था कि जीवन में आदमी को एक साथी की ज़रूरत होती है। उसके लिए उसने एक रास्ता भी सुझा दिया - किसी दूसरी से शादी कर लेना। इतना कहकर चक्कि निश्चल हो गई।

परीक्कुट्टि ने ही चक्कि की मृत्यु का समाचार करुतम्मा को दिया। समुद्र तट पर यह चर्चा का विषय रहा। चक्कि की मृत्यु की खबर लेकर एक मुसलमान का आना पलनि को भी अच्छा नहीं लगा। चेंपन की दूसरी शादी के बारे में तथा सौतेली माँ के कटु व्यवहार के बारे में सोचते-सोचते पंचमी अतीव दुखित हो गई। उसे अपनी माँ की खूब याद आई। दूसरी पत्नी ने जब अपने पुत्र के लिए चेम्पन के रूपए चुरा लिए तब उसे असलियत की पहचान हो गई। पहली पत्नी चक्कि के सद्गुणों का उसने स्मरण किया। उन स्मृतियों ने उसके मस्तिष्क में बिजली उत्पन्न कर दीं। उस पर पागलपन सवार हो गया। उसने चक्कि के शव - संस्कार की जगह को खोदने का प्रयास किया। चक्कि के जीवित रहते समय चेंपन के मन में उसके प्रति थोड़ा भी अनुराग नहीं हुआ था। चक्कि के मरने के बाद स्वयं चेंपन ने कहा था कि कितनी ऐश्वर्य शालिनी थी उसकी पत्नी। हाँ चक्कि के मरने के बाद चेंपन का सारा वैभव नष्ट हो जाता है।

चक्कि के साथ सुख भोगने की इच्छा चेम्पन में प्रबल होने लगी थी। पर इसके लिए जो रास्ता उसने चुन लिया था वह गलत साबित निकला। चक्कि इसी कुटिल मार्ग में फँस गई थी। चेम्पन की कुवृतियों का परिणाम चक्कि को बहुत कुछ सहना पड़ा। उसी मानसिक तनाव के कारण वह थक गयी। मछुआरों के क्षेत्र का हो या कृषक क्षेत्र का एक औसतन औरत के जीवितोत्कर्ष का मोह कर जों के बंधन में यों ही फँस जाता है। उपन्यास के प्रमुख पात्रों की तरह दूसरी श्रेणी का यह पात्र भी उज्जवल सृष्टि है।

3.6 सारांश

चेम्मीन की कहानी का सार पढ़कर और उसके प्रमुख पात्रों के चरित्रों से परिचित होकर आपने देखा कि चेम्मीन उपन्यास किस प्रकार बृहत् मानवीय संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में कितना सफल हुआ है। समुद्र तट पर रहने वाले मछुआरों के जीवन-का जीता-जागता, उनके दुख-दर्दो, खुशियों, इच्छाओं, विरोधाभासों, विश्वासों, आस्थाओं, मानवीय दुर्बलताओं की एक मानवीय कथा है - चेम्मीन। यह कथा किसी विचारधारा में बंधी हुई नहीं है। इस कथा ने परी/करुतम्मा/चक्कि/चेंपीन/पलनि जैसे अभूतपूर्व मानवीय चरित्रों की सृष्टि की है। इसी कारण चेम्मीन विश्व उपन्यासों की अग्रणी श्रेणी में बैठने का हकदार भी बना है।

3.7 प्रश्न

1 चेम्मीन की कथा का सारांश अपने शब्दों में लिखिए।

2 चेम्मीन में आपको सबसे ज्यादा किस चरित्र ने प्रभावित किया और क्यों?

इकाई 4 चेम्मीन में कथन तंत्र : मिथ और भाषा का प्रयोग

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 कथन तंत्र - मिथ और भाषा का प्रयोग

4.3 चेम्मीन में अभिव्यक्त मिथ

4.4 भाषा शैली

4.5 जीवनदृष्टि

4.6 सारांश

4.7 प्रश्न

4.0 उद्देश्य

इस खण्ड की यह अंतिम इकाई है जिसमें चेम्मीन के कथा शिल्प पर विचार किया गया है। तकषि कथा कहने का कौन सा तरीका अपनाते हैं, कथा को कैसे प्रस्तुत करते हैं, मिथ को कथा के ताने-बाने का कैसे आधार बनाते हैं - यह आप इस इकाई को पढ़कर जान सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

चेम्मीन एक मछुआरे समाज की कथा है इसलिए तकषि ने उसी समाज की भाषा को अपनी कृति में स्थान दिया है। समुद्रतटीय समाज के लिए समुद्र ही सब कुछ होता है। समुद्र ही उसकी जीविका का आधार है इसलिए उसके सारे विश्वास समुद्र से ही जुड़े होते हैं। वही उसका देवता है, माता है, पिता है। वही दाता है, वही ईश्वर है। समुद्र की अतुल शक्ति से बचने के क्रम में जो मिथ उस समाज में प्रचलित हैं - ऐसे ही एक मिथ को कथा सूत्र में पिरोकर तकषि मिथकीय विश्वास के माध्यम से कथा कहते हैं। ये मिथकीय विश्वास समुदायों के आदिम विश्वास हैं जिनसे बंधे रहना ही वे श्रेयस्कर मानते हैं। करुतम्मा और परी अंत में ऐसे ही विश्वास के विरोध में प्रेम की शक्ति का प्रदर्शन करते हैं। मिथ के सहारे तकषि ने कथा का ताना-बाना कैसे बुना, भाषा, शैली का कैसा प्रयोग इस उपन्यास में किया है - आइए देखें!

4.2 कथन तंत्र - मिथ और भाषा का प्रयोग

अमूर्तता ही विचारों और भावों का मूल तत्व है। अमूर्त को मूर्त बनाने की किसी भी अवस्था में कथन तंत्र (narration)आवश्यक हो जाता है। आख्यान संकेतों (sign) की व्यवस्थापित बनावट भी होती है। उपन्यास में चिह्नों की जगह शब्द समूह होते हैं। वही भाषा है। रचनाकार कथा को भाषा के रूप में संक्रमित करता है। टालस्टाए की मान्यता है कि यह प्रकिया प्रत्येक कलाकार की अपनी होती है। कथन-तंत्र प्रत्येक कृति में विभिन्न हो सकता है। उपन्यास के वर्णन में भाषा माध्यम का कार्य मात्र नहीं करती। आख्यान विषय का प्रस्तुतिकरण ही नहीं, वह एक दृश्य का आविष्कार भी है। बार्थ (Barthes) का उपरोक्त मत यह स्मरण दिलाता है कि भाषा का प्रयोग जीवित-दृश्य सा होना चाहिए।

जीवन के अनुभूत स्तर जिसमें वह किस प्रकार दिखाया जाता है तथा उसके भाव स्तर जिस में जीवन कैसा होना चाहिए - इन दोनों का समन्वित जीवंत चित्रण ही उपन्यास में वर्णित है।

यथार्थमूलक उपन्यासों में भी जीवन के पहलुओं का विशेष संयोजन कथन - तंत्र में ज़रूरी है। देशकाल, वातावरण, घटनाएँ, कथापात्र तथा उनके यथार्थ अनुभव को पुनः संमजित करके रचनाकार उसमें फेर - बदल करते हैं। साहित्यकार इस सर्गात्मक विनियमिता से जीवन को उपन्यास के परिप्रेक्षय में बदलने की चेष्टा करता है। (कथानक, कथापात्र - सृष्टि ये भी कथन तंत्र के भाग हैं।)

उपन्यास का आख्यान से प्राप्त एक बाहरी स्वरूप (Surface) तथा एक आन्तरिक (deep) स्वरूप भी है। प्रथम अध्याय से बीसवें अध्याय तक के संयोजन से 'चेम्मीन' का बाह्य शिल्प रूपायित होता है।

विषय प्रस्तुति में तकषि की सर्ग शक्ति दूसरे उपन्यासकारों में शायद विरले ही है। अठारह साल की सयानी लड़की करुतम्मा और नायक परीक्कुट्टि के चित्रण् में पूरे कथानक को उपन्यासकार पाठक के सामने खुला रख देता है। उन दोनों की उमर, उनके सहज प्रेम, आर्थिक अभाव, कर्ज़दार बनना, ऋण न चुकाना व्यापार में घटनेवाली दुस्थिति, प्रियजनों के द्वारा धोखा खाना, जीवन का सर्वनाश होना, उन सब की ओर प्रथम अध्याय में ही संकेत कर दिया गया है। उपन्यास के दूसरे पृष्ठ पर दिये गये वार्तालाप देखिए-

परीक्कुट्टि : 'नाव और जाल खरीदने के बाद नाव में जो मछली आएगी उसे व्यापार के लिए मुझे देने को अपने बप्पा से कहोगी ?'

करुतम्मा ज़ोर से हँसी। हँसी-मज़ाक की इस पंक्ति में पूरा उपन्यास प्रतिफलित होता है जैसे हिमबिन्दु में संसार का प्रतिफलन हो - पाठक पूरा उपन्यास पढने पर ही इस सत्य का अनुभव कर सकेगा। उम्र की चपलता कहें या प्रणय की चंचलता उससे उद्भूत मज़ाक का क्या अर्थ रहा। यह वार्तालाप पाँचवें अध्याय में है। प्रथम 'चाकरा' के बाद आए चेम्पनकुंजु ने परीक्कुट्टि से पूछा - 'नकद पैसा है? मुझे नकद चाहिए। '

(परी ने पूछा - मछली मेरे हाथ बेचोग' - के उत्तर में) करुतम्मा के लिए अपने प्रथम वार्तालाप की क्रूर प्रतिध्वनि है दूसरे वार्तालाप में। करुतम्मा की खुली हँसी में भी एक आसुर ध्वनि गूँजित की गई है। सर्वस्व नष्ट-भ्रष्ट होकर पागल बनकर, अपनी दूसरी बीवी की चोरी की शेष बची कुछ रकम परीक्कुट्टि के हाथ में देकर, ठहाके मारकर (कभी रोकर) थकामाँदा चलता फिरता चेम्पनकुंजु का दृश्य- हाँ वह जीवन्त दृश्य दिखाना ही आख्यान-कला है (Barthes) तो तकषि आख्यान तंत्र के सर्वोच्च पीठ पर विराजने योग्य हैं।

यथार्थ, स्थल काल को किस प्रकार फेर-बदल करके उसको पुनः अवतरित किया जा सकता है वह प्रयोग आख्यान कला में उल्लेख्य है। दो समुद्र-तट और समुद्र से करुतम्मा का जीवन-परिवेश जुड़ गया है। नीर्कुन्नम का समुद्र शान्त है। चन्द्रिका में स्निग्ध समुद्रतट में प्रणय भाव को उद्दीप्त करने की शक्ति है। लेकिन तृक्कुन्नपुषा (पलनि का देश) के समुद्र का रौद्र भाव ही दृष्टव्य है। प्यार में, नाराजगी में, विश्वास व अविश्वास में साथ रहे करुतम्मा और पलनि के जीवन को दिखाने के लिए वहाँ की लहरें हीं पर्याप्त हैं । दोनों समुन्दर सामांतर रूप में चित्रित हुए हैं।

करुतम्मा के जीवन के अंतिम दिन 'तृक्कुन्नपुषा' के समुद्रतट पर 'नीर्कुन्नम-तट' की चाँदनी ही फैल गयी थी। उसी भरी चाँदनी में 'नष्टभ्रष्ट जीवन की प्रत्यक्ष मूर्ति' के समान परीक्कुट्टि को खडा कर दिया गया है। मल्लाहिन की पवित्रता के विश्वास को बनाए रखने के कारण 'नीर्कुन्नम' तट पर जो अपूर्ण संयोग - मिलन मुहूर्त पहले हुआ था उसकी परिपूर्णता के लिए - उपन्यासकार ने इस प्रकार की पृष्ठभूमि तैयार की है। यहाँ पर भी तकषि सविशेष वातावरण रचकर पाठकों के लिए हृद्य 'दृश्य' प्रस्तुत करते हैं।

नीर्कुन्नम तट से परीक्कुट्टि का तथा तृक्कुन्नप्पुषा तट से पलनि के संबन्ध का जो पारस्पर्य है उसे तकषि ने अपनी आख्यान - कला में खूबी से प्रकट किया है। वह कथन - तंत्र का उद्घोषक पहलू है। परीक्कुट्टि एक काल्पनिक प्रेमी है जिसे यथार्थ का बोध तक नहीं है।

प्रणय के परे और किसी संबन्ध की परवाह वह करता नहीं। पिता ने उसे जो व्यापार कार्य सौंप दिया उसके भविष्य को, अपने ही घर के आर्थिक अभाव को, गुज़ारा करने की कमाई को, जाति-पाँति से उत्पन्न क्रूर अनुभव को यानि कि जीवन के यथार्थ को प्रेम के शान्त समुद्र में परीक्कुट्टि ने डुबो दिया। नीर्कुन्नम के चाकरा मौसम में उसका प्रेम भी मस्त बनता गया। चेंपनकुंजु ने जब उसे धोखा दिया और करुतम्मा जब पलनि की पत्नी बन गई तक उपन्यासकार ने उस शान्त-समुद्र को दुखी समुद्र बना के परीक्कुट्टि को उसके किनारे मूक खड़ा कर दिया। फिर समुद्र मात्र रहा दोस्ती के लिए। अपना व्यापार कार्य भी छूट गया। वह अकेला रह गया।

नायक के सीधे विरोध करने की परंपरा में प्रतिनायक का संकल्प नहीं किया गया है। तृक्कुन्नप्पुषा तट पर रौद्र तरंगों से ताडित अनाथ था पलनि। माँ-बाप के बारे में उसे कुछ भी ज्ञात नहीं है। समुद्र-माता से वह आभारी है। उसे स्नेह दिलाने वाला कोई नहीं था। 'बेटा, थोडा और खाओ' - चक्कि के स्नेह पूर्ण कथन में एक ममताई माँ का दर्शन करने का मन भी उसे नहीं था। इसीलिए चक्कि की बीमारी व उसकी मृत्यु का समाचार पलनि में कोई असर नहीं डालता। पर जन्म-वासना के बल पर उसने करुत्तम्मा से प्यार किया। रौद्रमुखी समुद्र को वश में लाने की ताकत उसमें थी। 'समुद्र की संपति से पलनि का गुज़ारा होगा' - पलनि का दृढ विश्वास यही था। करुतम्मा के प्यार ने उसे अधिक शक्तिशाली बना दिया। मगर करुतम्मा के ,मन में परीक्कुट्टि के निवास की बात जब उसे मालूम हो गई तब वह अपने को पुनः अनाथ समझने लगा। तब भी उपन्यासकार पलनि के मित्र के रूप में समुद्र को ही उसके सामने प्रस्तुत करते हैं। समान-दुखी (हम सफर) के मन की गहराइयों की ओर जाने की भाँति पलनि समुद्र की तह में डाँड चलाता रहा। पलनि के दुखः को समेकित कर के, उन्माद में उसे सदा के लिए खतम करनेवाले समुद्र का दृश्य बिम्ब उपन्यासकार खींचता है। तृकुन्नम तट के साथ पलनि के मृतशरीर को भी समुद्र ने बाहर फेंका नहीं। सचमुच पलनि समुद्र माता का बेटा ही है। आख्यान में उसकी एक और संकल्पना नहीं चाहिए।

तकषि की आख्यान-कला ने 'चेम्मीन' उपन्यास के बाहरी शिल्प पर कई कलात्मक चमत्कार दिये हैं। सूक्ष्म वाचन में इससे पाठक अभिभूत हो जाते हैं।

4.3 चेम्मीन में अभिव्यक्त मिथ

मिथकीय प्रयोग मनुष्य के सामूहिक बोध की सृष्टि है। मिथ का न्यूक्लियस् सुदूरभूतकाल में घटित किसी घटना से संबन्धित होगा। शायद किसी प्राचीन भावुक मनीषी की संकल्पना होगी। विश्वास के धरातल पर प्रयुक्त प्रासंगिक Phenomena है मिथ। प्रकृति की अज्ञेय अवस्थाओं को, आकस्मिताओं को अर्थ एंव युक्ति प्रदान कर देने में प्रकृति का ही अंश मानव कभी समर्थ नहीं हो सकता। यही पहचान मिथ का प्रभव स्त्रोत है। मिथकों की रोज़मर्रा ज़िन्दगी के व्यवहार क्षेत्र में मिथ का प्रस्तुतीकरण होता है। साहित्य में नियोजित करते समय वे आख्यान के चिह्न रूप में रूपान्तरित होते हैं।

'बार्थ' के अनुसार मिथ चिह्न व्यवस्था का दूसरा क्रम है। सहज साधारण क्रम से भिन्न एक असाधारण परिवेश उसे आख्यान में मिलना चाहिए। व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगाकर समाज के सामूहिक दायित्व को निभाने में तथा सामाजिक सौहार्द कायम रखने हेतु मिथ का प्रयोग किया जाता है तो वह एक 'अधिकार चिह्न' में बदल जाता है । 'चेम्मीन' का मिथ भी एक अधिकार चिह्न है। धर्म, सदाचार, दर्शन सब के अस्तित्व में मिथ का महत्वपूर्ण योगदान है। परिवार, समूह, राष्ट्र आदि अपने अपने अधिकार की बेड़ियों से व्यक्ति को बाँध देते हैं।

मछूआरों के समाज के लैंगिक सदाचार को बनाए रखने और उसी के द्वारा अपने सामाजिक अस्तित्व को मज़बूत बनाने में ऊर्जा प्रदान करना ही 'चेम्मीन' में अभिव्यक्त मिथ का सामूहिक उद्देश्य है। उसकी प्रस्तुति के लिए अनुकूल वातावरण का सृजन प्रथम अध्याय में ही उपन्यासकार कर चुका है। समुद्रतट पर जन्म लेने वाली हर औरत के पास परंपरा से प्राप्त जीवन-दर्शन होता है। उनके विश्वासों तथा अंधिविश्वासों के आधार पर तकषि ने

उपन्यास में मिथ का प्रयोग किया है। पहले-पहले लकड़ी के एक टुकडे पर चढ़कर क्षितिज की ओर गए उस प्रथम मछुआरे की पत्नी ने तट पर व्रत शुद्धि से तपस्या की होगी। समुद्र में तरंगें तेज़ उठीं। ज्वार-भाटे का आक्रमण हुआ। शार्क खुले मुँह से क्रीडा करने लगे। मछुआरे पर प्रहार हुआ होगा। बहाव में एक भँवर की गहराई में वह फँस भी गया होगा। मगर खतरों से वह बच निकला। यह कैसे हुआ? मल्लाहिन पतिव्रता थी। उसने पति की रक्षा हेतु तपस्या की थी। यह मिथ समुद्रतट की सभी औरतें जानती हैं। पवित्रता का पालन न करें तो मल्लाह नाव सहित भँवर में पड़कर खतम हो जाएगा। 'मल्लाह की असली संपति मल्लाहिन की पवित्रता ही है।'

> चक्कि ने बेटी को इस परंपरागत तत्व - ज्ञान का स्मरण दिलाया। आदि - मल्लाह - मल्लाहिन के मिथ में शायद वंशीय या सामूहिक अर्थ हो तथापि तकषि की स्वीकृति में इस तत्व ज्ञान के अर्थ -परिवेश को असंगत मान लिया गया है। यहाँ करुतम्मा और परीक्कुट्टि के व्यक्ति-स्वातंत्र्य में अड़चन बना डालने का अधिकार चिह्न है मिथ। युवक-युवति की सहज संवेदनाओं को तिरस्कृत कर देने का अधिकार यह मिथ देता है। अनुशासित रहने के लिए यह मज़बूर करता है। समाज के यह हथियार यथार्थ हथियारों से अधिक प्रभावोस्पादक हैं। इस मिथ को रूपायित करने वाले समाज के कारण करुतम्मा और परीक्कुट्टि का जीवन एक न हो सका। मिथ को विश्वास के धरातल पर प्रतिष्ठित करते वक्त उसका विरोध न करने से यह दुरन्त हो जाता है। चेम्पनकुंजु के लालच के कारण कथा में त्रासदी होती है। इस विश्लेषण के पीछे निहित सत्य यह है कि जाति-धर्म, आचार-विचार से संबन्धित नियमों के उल्लंधन करने से मनुष्य ज्यादा डरता है। मानवता का सत्यानाश करने वाली जाति-धर्म व्यवस्था परोक्ष रूप से उपन्यास के केन्द्र में बनी रहती है ।

स्त्री के पतित हो जाने से समुद्र सूख जाएगा - वाले विश्वास-प्रमाण को उपन्यासकार तकषि हू-ब-हू स्वीकार नहीं करते हैं। उस तट की स्त्रियों ने जवानी में किसी से प्रेम किया होगा। क्या यह संभव है कि इन सबों ने घाट की पवित्रता नष्ट की है ? ऐसी कहानियों के रहते हुए समुद्र पहले की तरह है। करुत्तम्मा की प्रस्तुत शंका के पीछे सहज युक्तिबोध है। औरतों में वाक्-युद्ध बढ़ते समय इस प्रकार की कई कहानियाँ उभरकर आती हैं। जाति, धर्म, मिथ आदि का उल्लंधन जवानी में ही हो सकता है। 'चेम्मीन' की कथावस्तु के अंतिम भाग में जवानी की जीत होती है । जब करुतम्मा को परीक्कुट्टि से उसका नाम पुकारने की आवाज़ जैसी लगी तुरंत सहजता से वह दरवाज़ा खोलकर बाहर आ गई। पति पलनि के द्वारा दी गयी जीवन सुरक्षा - प्रेमी परीक्कुट्टि के द्वारा दिये गये प्रेम - एक क्षण दोनों विचारों से आत्मसंघर्ष होने लगा। उसको किसी एक को चुनना चाहिए। हाँ उसने प्रेम को चुन लिया। उस समय उसके मन में मिथ विचार नहीं आया। उसने अपने पति का, माँ-बाप का, बहिन का या अपनी बच्ची का भी स्मरण नहीं कया। वह स्त्री मात्र रह गई। पुरुष से प्यार करने वाली स्त्री ।

'चेम्मीन' में तकषि का जीवन दृष्टिकोण पक्का है, स्पष्ट है । वह प्रकृति सहज है। मनुष्य की सहजता को जाति, धर्म, आदि मानव सृजित कृत्रिमताओं की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है । मिथ के सृजन से मिथकीय विश्वासों की असलियत पर प्रहार किया जाता है। आख्यान में बिंब का महत्वपूर्ण स्थान है। समाज के (कथापात्र के) सांस्कृतिक, आर्थिक, पारिस्थितिक एवं समकालिक जीवन को अत्यधिक ध्वन्यात्मक बना लेने में बिंबों की भूमिका उल्लेख्य है। 'चेम्मीन' उपन्यास में सामुदायिक, आर्थिक एवं पारिस्थितिक क्षेत्र का विशेष संबन्ध है। सामूहिक बिंब के वास्ते वहाँ मिथ का चमत्कार है। 'चेम्मीन' को एक अपूर्व रचना की संज्ञा मिथ के कारण मिली।

मनुष्य जीवन के सभी क्षेत्रों से संबन्धित बिंबों का प्रयोग प्रस्तुत उपन्यास में हुआ है। उनमें सबसे अधिक अर्थवान बिम्ब हैं -'कडलम्मा ' (समुद्री माता) - शीर्षक मातृबिंब और 'नाव - जाल' शीषर्क आर्थिक चिह्न। इन्हीं संकेतों के संयोग तथा वियोग से मछुआरों के जीवन में अर्थ और अनर्थ संभव होता है। प्रकृति की अतिशय उपस्थित से परिचित होने पर ही मनुष्य

प्रकृति की उपासना करने लगे। हर एक समूह अपने प्रकृति-तत्वों की पूजा करता है। पेड़, पहाड़, समुद्र, साँप, हाथी, जल वायु आदि जीवन के प्रेरणादायक एवं आधारभूत साधनों की गणना उन्हीं तत्वों में की जाती है। मछुआरों का अपना जीवन 'समुद्र' को समर्पित है। उनके जीवन-निर्वाह की संकल्पनाएँ, उनके सदाचार बोध एवं जीवन-दर्शन समुद्र को केन्द्र करके रूपायित हैं । प्रकृति की ममता की उपस्थिति का निकटतम अनुभव माँ की संकल्पना से है। इसलिए उन लोगों ने समुद्र को माता का पद दे दिया । यह सुरक्षा बोध समुद्र-माता देती है कि अनाथ पलनि के भी एक माता है। जन्म देना, पालन-पोषण करना, दंड देना - इन्हीं अभिभावक धर्मों का संरक्षण समुद्रीमाता कर देती है। 'समुद्री-माता क्रोध आ जाने पर एक साथ सब नष्ट कर डालेगी। वही तो अपनी संतान के लिए सब-कुछ देती है। इसमें सोने की खान है बेटी, सोने की खान'। चक्कि के उपरोक्त कथन से यह विदित है कि मछुआरों की जीवन-शैली एवं उनके जीवन-दर्शन समुद्री माता को केन्द्र में रखकर विकसित हुए हैं।

मछुआरों के आर्थिक स्वप्न के केन्द्र में प्रत्यक्ष हैं नाव और जाल । नाव का मालिक हो जाना बहुत गर्व की बात समझी जाती है। अपनी ज़मीन, अपना घर, संतानों की शादी, जीवन सुख, सब कार्य आर्थिक स्वप्न के साक्षात्कार से संबद्ध हैं। चेम्पनकुंजु जैसा एक महत्वाकांक्षी मछुआरा अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए सदा प्रयत्नशील भी रहा। मछुआरों की दुर्बलताओं से उनका शोषण करनेवाले महाजनों का भी यहाँ उल्लेख है। सूद में रूपए देकर, नाव भर मछली उन्हीं व्यापारियों को देने की व्यवस्था की गई है। नाव बेचने पर भी इन थोक व्यापारियों का कर्जा कभी नहीं चुकता। ऋण-मुक्त होना साधारण मछुआरे के लिए मुमकिन नहीं होता। महत्वाकांक्षी मछुआरे का जीवन, पतन की ओर जाने लगता है। चेंपन की ज़िन्दगी में यही हुआ। समुद्र की गहराई से सोने लाने वाले मछुआरे की अपेक्षा बीच का दलाल ही आर्थिक लाभ वसूल करता है। मछुआरे समाज का आर्थिक पाठ पढने के लिए नाव और जाल समान दूसरा कोई सहायक बिंब नहीं। उपन्यास की समस्याओं को व घटनाओं को नियंत्रित रखने वाले ये बिंब तकषि की सर्ग प्रतिभा की देन हैं।

4.4 भाषा शैली

उपन्यास में चित्रित और कई बिंबों का विश्लेषण करना चाहिए था फिर भी हम आख्यान-कला के ही एक और अंग - शैली की ओर विचार करें । सात दिन में 'चेम्मीन' की रचना पूर्ण हुई थी। शुरुआत के समय कथापात्रों का नाम भी उपन्यासकार के मन में नहीं था। (तकषि का अपना बयान है) समुद्रतट की किसी माँ की पुकार 'करुत्तम्मा' - तकषि के मन के भीतर कहीं गूँजती रही । छिपी पड़ी उस आवाज़ से उपन्यास का बीजवपन हुआ। उपन्यास की शैली में सहजता लाने में यह सहायक सूचना है।

'चेम्मीन' में अभिव्यक्त काल्पनिक शैली में नाटकीयता, काव्यात्मकता एवं ध्वन्यात्मकता समन्वित है। प्रसंगानुकूल इनमें चारुता लाई गई है। शैली यहाँ स्वाभाविक बनी हुई है। उसके निर्माण के बारे में तकषि ने संकेत भी दिया है। ग्रामीण जनता की भाषा को तकषि ने अपना माध्यम बनाया। ग्राम के वृद्धजनों एवं ग्रामीण स्त्रियों के मुँह से सुनी गयी कहानियों की जो शैली है उसकी जड़ें तकषि के मन में पनप रही थी। पिता कथकलि के अभिनेता थे। पुराण-कथाओं को बताने की शैली का प्रभाव भी भाषा-संस्कार में उपलब्ध है। मलयालम के मूर्धन्य आलोचक मुंडश्शेरी का मत है -'उन्होंने जीवन का व्याकरण सीखा था । जीवन की भाषा में उन्होंने लिखा था। उत्कृष्ट कृतियों के सृजन में रत उनकी कलम को भाषा की जानकारी तक नहीं थी। ललित-साधारण सी भाषा। '

साधारण आदमी को भी परिचित पदों का प्रयोग, लिखित भाषा संपदा में प्रायः न आनेवाले शब्द समूह, बहुत कम संस्कृत शब्द, ललितवाक्य संरचना, आडंबर रहित, अकृत्रिम रचना स्वच्छता - तकषि की भाषा शैली की खूबियाँ हैं। प्रत्येक रचना में प्रत्येक शैली का प्रयोग किये जाने से पाठक के लिए कृति का आस्वादन सुखद अनुभव बन जाता है। दुरूहता बिलकुल नहीं होती।

एक उपन्यासकार की शैली की विवेचना करते समय चार धरातल दिखाई पडते हैं - युग का, साहित्यिक विधा का, भाव का और कृतिकार का। इनके अतिरिक्त भाषा भेद के धरातल भी हैं। तकषि को पूरा ज्ञान है कि रचना किस के लिए रचित की जाती है। भाषा का सवाल बनता भी नहीं। एक वाक्य में सात-आठ शब्दों का संगठन मात्र रहता है। कभी-कभी एक ही शब्द का या अपूर्ण वाक्य का प्रयोग किया गया है।

तकषि की भाषा के लालित्य, उसकी ऊर्जा, तीव्रता एंव शक्ति का परिचय पाने के लिए तूफान में फंसे पलनि का चित्रण पर्याप्त होगा। 'ज़ोर से बिजली कड़की । भयानक मेघ - गर्जन हुआ। ऐसा लगा मानो आसमान टूट पड़ा। ऐसा मालूम होता था कि समुद्र का सारा पानी सिमटकर एक ही जगह जमा हो रहा है। आँधी और तूफान का ऐसा रंग-ढंग था कि मानो सर्वनाश करके ही दम लेगा। बिजली की चमक में एक तरंग के ऊपर पलनि की नाव का छोर दिखाई पड़ा। उस तरंग के नीचे आ जाने पर नाव से चिपटा पलनि भी दिखाई पड़ाः वह नाव को मज़बूती से पकड़े हुए था।' 'बार्थ' के अनुसार आख्यान कला ने यहाँ एक आकर्षक 'दृश्य' का आविष्कार प्रस्तुत कर दिया है।

वार्तालाप में बहुत सरल स्वाभाविक भाषा का प्रयोग किया गया है। परीक्कुट्टि के कर्ज़ लौटा देने के संबंध में चक्कि और करुतम्मा का वार्तालाप देखिएः-

करुतम्मा :- 'उसका पैसा लौटा देना है ।'

चक्कि :- 'मेरा भी यही विचार है ।'

करुतम्मा :- 'कहने को तो तुम कहती हो, माँ लेकिन देती नहीं । मैंने क्या-क्या उपाय नहीं सुझाए। तुम ने एक को भी काम में नहीं लिया।

(एक क्षण के बाद उसने कहा) - 'उस कर्जे को चुकाने क बाद ही ..... ।'

चक्कि (खुशी से) - 'बेटी, तो यह शादी तुझे मंजूर है न ! लड़का बड़ा होशियार है बिटिया, बडा अच्छा है।'

करुतम्मा :- 'ज़रा चुप भी क्यों नहीं होती माँ।'

व्यक्तिगत भाषा से लेकर प्रादेशिक भाषा तक की भिन्नता यहाँ खूब दर्शित है। उच्चारण में एक खास रीति है , विशेषकर दीर्घ स्वर प्रधान उच्चारण में। तात्पर्य है जहाँ दीर्घ स्वर का उच्चारण नहीं होना चाहिए वहाँ तकर्षि दीर्घ स्वर की ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति प्रस्तुत करते हैं। मछुआरों के भाषा भेद (dialect) इसी तकनीक पर चित्रित किए गए हैं। तकषि ने जिस भाषा की सृष्टि की है वह केरल में सभी मछुआरों की प्रचलित भाषा नहीं थी। लेकिन ऐसी एक धारणा को प्रस्तुत करने में तकषि सफल हुआ। 'चेम्मीन' की विशिष्टताओं में इनकी अपनी भाषा की महती भूमिका है।

कथा-विवरण में संस्कृत शब्दों का थोड़ा सा प्रयोग देखा जा सकता है। आदर्श पत्नी के रूप में जीने की कोशिश करुतम्मा करती तो है। उसने पलनि को चावल परोस दिया। खाना खाके पलनि ने कहा - 'अब मैं तुझे खाना परोस दूँ। पलनि जब करुतम्मा के पास आ बैठा, उसकी अवस्था का वर्णन यों दिया गया है :-

'आनन्द की दुनिया की ओर विकसित होने के लिए उसके हृदय दल तरस रहे थे। स्नेह की मन्दोष्ण किरणें उस कली को प्रस्फुटित करने लगी।'

यहाँ रेखांकित शब्द संस्कृत के हैं । तकषि इस प्रकार लिखें तो उनकी रचना में कृत्रिमता आ जाएगी।

4.5 जीवन दृष्टि

तकषि के सृजन के बारे में यह आरोप भी है कि उन्होंने रचना में सनसनी की प्रचुरता की है। स्त्री-पुरुष संबंधों के वर्णन में तकषि थोड़ा आगे ही हैं। लेकिन कपट सदाचार बोध का विरोध करना उनका लक्ष्य नहीं रहा। यह भी नहीं कि जो गाली - गलौज शब्द - प्रयोग हुआ है, वह तो नाट्य रहित साधारण मनुष्य की सहज भाषा है। चेम्मीन के बाहरी शिल्प पक्ष की खूबियों के बारे में बहुत-कुछ कहा जा चुका। इन विशेषताओं को नियंत्रित करने का कार्य आन्तरिक पक्ष का है- भाव पक्ष और जीवन-दृष्टिकोण। प्रेम के भाव पक्ष को केन्द्र में रखकर ही तकषि आख्यान करते हैं। उससे संबद्ध एक जीवन-दृष्टिकोण 'चेम्मीन' में अभिव्यक्त हुआ है। स्त्री - परूष संबंध प्रकृति सहज है। उसे रोकने की शक्ति जाति, धर्म आदि मनुष्य निर्मित विभागीय तत्वों में नहीं है। यह 'चेम्मीन' का उद्‌बोध्न-मंत्र है। प्रेमसंबंध में भी 'काम' की अभिव्यक्ति की गई है। तकषि के प्रस्तुत विचार (मांस बद्ध अनुराग) का निषेध वे लोग ही कर सकते हैं जो कपट सदाचार बोध के वक्ता हों। मानवता की स्थापना एवं उसके अस्तित्व की प्रबलता के लिए उपन्यासकार प्रयत्नशील रहे। मनुष्य को मनुष्य की भाँति देखने की एक सुन्दर सामाजिक व्यवस्थिति में करुतम्मा को इस प्रकार की दुःस्थिति नहीं प्राप्त होनी चाहिए। ऐसी व्यवस्थिति का स्वप्न प्रस्तुत कथन-तंत्र को एक सीमा तक मार्गदर्शन देता रहेगा।

रचनाकार का दृष्टिकोण (Point of view) ही आख्यान का प्रमुख तत्व है। 'चेम्मीन' में रचनाकार एक 'दृश्य' का बयान कर रहा है । बीच-बीच में प्रत्यक्ष होकर विवरण देकर पाठक का सहयात्री बन जाता है। सन्देह के (द्वन्द्वात्मक) अवसर पर आवश्यक चर्चा व विवेचना भी की जाती है।

'चेम्मीन' के बारे में समग्र रूप से आलोचनात्मक अध्ययन मलयालम में संपन्न नहीं हुआ है। साहित्य के इतिहास में, उपन्यास साहित्य के अध्ययन में, तकषि साहित्य के अध्ययन में तथा तकषि से संबंधित संस्मरण में विचार संगोष्ठी में रूपायित विचारों में एवं चिन्तन - मनन में ही इस कृति की विशेषताएँ स्पष्ट की गई हैं।

मलयालम उपन्यास का इतिहास (के.एम.तरकन) उपन्यास - सी.जे. परिसंवाद समारोह (निबन्ध संग्रह) उपन्यास के द्वारा (के.पी.शरतचन्द्रन) उपन्यासकार की शिल्पशाला (टी.एन.जयचन्द्रन) उपन्यास मलयालम में (के.अशोकन) तकषि और मलयालम उपन्यास (निबन्ध संग्रह) तकषि से होकर (निबंध संग्रह) - इन्हीं पुस्तकों में उपरोक्त सोच-विचार संकलित हैं । इनमें तकषि की रचना-पद्धति के विरोध में गणनीय मत प्रकाशित नहीं हुए हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि खंडन करने योग्य विचार उन रचनाओं में नहीं है। प्रसिद्ध आलोचक जोसफ मुंडश्शेरी ने तकषि के 'मिथ' का खूब खंडन किया है। 'पुस्तकालय में'- शीर्षक अपने ग्रन्थ में उन्होंने यह आरोप लगाया कि उपन्यास में 'अन्धविश्वास' का प्रचार किया जा रहा है। तकषि ने प्रस्तुत मत पर विरोध प्रकट भी नहीं किया। उनका विचार था कि समाज में एक महान कायर् को बनाए रखने हेतु अन्धविश्वास का थोडा सहारा लेना पडे तो उस में भलाई की ही बात बनी रहेगी।

'कुट्‌टनाड' इलाका तकषि की शक्ति - सीमा है । जीवन - परिवेश की विभिन्न अभिव्यक्ति इसका परिचायक जवाब है ।

तकषि की सर्ग प्रतिभा के सामने सभी खंडन निष्प्रभ लगते हैं। उनके जीवन को सब प्रकार से पोषित करने वाली कृति रही 'चेम्मीन' । विश्वप्रसिद्ध, फ़िल्मी-दुनिया में ख्याति, संपत्ति, सहृदय पाठकों में चिर-प्रतिष्ठा जैसी। 'चेम्मीन' रचना ने तकषि को 'काव्यम् यशसेअर्थ कृते' आदि काव्यशास्त्रीय सभी प्रयोजनों के संदर्भ में सम्मानित किया।

4.6 सारांश

इस प्रकार चेम्मीन मछुआरे समाज की एक प्रचलित मिथ के सहारे कही गयी कथा है। मिथ सामूहिक मन की अभिव्यक्ति अवश्य हैं और इन मिथकों से ही आदि मन के विश्वास, भय, शक्ति, आस्था आदि का पता चलता है। चेम्मीन में प्रयुक्त मिथ मछुआरे समाज के अस्तित्व का आधार हैं। इन्हीं विश्वासों के सहारे नाविक निडर हो कर समुद्र मंथन करते हैं। लेकिन इन मिथकों के विरोध करने की शक्ति भी मनुष्य में है। आदिम चेतना के चले आ रहे विश्वासों के विरोध में खड़े होकर चेतना के विकास को रेखांकित करना पड़ता है। जहाँ तक इस उपन्यास की भाषा का सवाल है तो मूल उपन्यास की भाषा का अंदाजा लगाना तो मुश्किल है किंतु अनुवाद की भाषा से ही ऐसा लगता है कि भाषा पात्रानुकूल एवं उसी समाज की है जिस समाज को इसमें लिया गया है।

4.7 प्रश्न

1 चेम्मीन की भाषा-शैली की विशेषताओं पर प्रकाश डालें।

2 कथा कहने के लिए इस उपन्यास में तकषि ने किन किन उपकरणों का इस्तेमाल किया है?

इकाई 5 'चेम्मीन' का मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रस्तावना

5.3 मलयालम उपन्यास साहित्य में तकषि का स्थान

5.4 चेम्मीनः विशुद्ध रूमानी प्रेम का अंकन

5.4.1 चेम्मीन के नारी, चरित्रों का विश्लेषण

5.5 भाषा–शैली

5.6 तकषि का साहित्य–दर्शन

5.7 'चेम्मीन' पर समीक्षकों की टिप्पणियाँ तथा आरोप

5.7.1 कथानक

5.7.2 चेम्मीन को प्राप्त सम्मान

5.8 'चेम्मीन' के विश्लेषण का निष्कर्ष

5.9 सारांश

5.10 प्रश्न

5.1 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई, खंड की अन्तिम इकाई है। इस इकाई में आप 'चेम्मीन' उपन्यास पर की गई समीक्षाओं, आलोचनाओं एवं टिप्पणियों का अध्ययन करेंगे। इस इकाई को पढ़ने से आपः

- मलयालम उपन्यास साहित्य में तकषि के महत्व का प्रतिपादन कर सकेंगे;
- 'चेम्मीन' की विषयवस्तु तथा चरित्रों पर विविध समीक्षकों के मतों एवं विचारों से परिचित हो सकेंगे;
- 'चेम्मीन' की भाषा–शैली की विशिष्टता के विविध बिन्दुओं को जान सकेंगे;
- तकषि के संपूर्ण उपन्यास साहित्य के महत्व की जानकारी पा सकेंगे;
- समग्र रूप में 'चेम्मीन' उपन्यास पर विविध समीक्षकों की टिप्पणियों तथा समीक्षकों से अवगत हो सकेंगे;
- 'चेम्मीन' तथा अन्य उपन्यासों के संदर्भ मे तकषि के विचारों से परिचित हो सकेंगे, और
- विविध मतों के आधार पर 'चेम्मीन' का विवेचन कर सकेंगे।

5.2 प्रस्तावना

मलयालम के विश्वविख्यात कहानीकार के रूप में तकषि का उल्लेख हुआ है, इस पर केरल के लोग गर्व करते हैं, लेकिन उनके नाम पर समग्र अध्ययन नहीं के बराबर हैं। चेम्मीन की भी यही दशा है। निबंध संकलनों में, साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में, मलयालम उपन्यास समीक्षाओं की सूचनाओं में तकषि की और विशेषकर चेम्मीन की समीक्षा सीमित रह जाती है। इसलिए यह कहना पड़ता है कि यह मलयालम उपन्यास शाखा के अध्ययन की एक कमी है कि तकषि एवं चेम्मीन पर समीक्षाएँ समाहृत करने योग्य अधिक नहीं हैं। जितनी भी समीक्षाएँ इस उपन्यास पर उपलब्ध हैं उनका विवेचन एवं विश्लेषण हम इस इकाई में करेंगे और चेम्मीन का समग्र मूल्यांकन करने का यत्न करेंगे।

5.3 मलयालम उपन्यास साहित्य में तकषि का स्थान

1934 में तकषि ने अपना प्रथम उपन्यास लिखा और 1999 में उनकी मृत्यु तक के छप्पन वर्षों के अन्तराल में अड़तालीस उपन्यास लिखे। उनमें सर्वाधिक लोकप्रिय उपन्यास है चेम्मीन। केरल में और भारत में ही नहीं, विश्व भर में उस प्रेम कहानी की चारुता स्वीकृत हुई और उसका आस्वादन हुआ। तकषि इस पर गर्व करते थे कि वह रचना उनके जीवन को परिवर्तित कर सकी। इसी रचना के कर्ता के रूप में तकषि भारत के बाहर अधिक जाने जाते हैं। चेम्मीन की कथावस्तु, कथापात्र, वस्तुविन्यास रीति आदि साधारण पाठकों को अधिक आकर्षक लगती थी। उसकी लोकप्रियता इसका प्रमाण है।

नेडियम वीट्टिल बालकृष्णमेनन नामक समीक्षक ने उपन्यासकार के गुणों का विवरण देते हुए एक लेख 'भाषापोषिणी' (1916) में उस समय प्रकाशित किया था, जिस समय मलयालम में उपन्यास एक नई विधा के रूप में प्रचलित होने लगा था। एक अच्छे लेखक को यही कार्य करना है कि "मनुष्य अपने सामाजिक सहवर्तन में जो–जो करता है, उसको यथार्थ गरिमा के साथ, स्पष्ट करा दे। इस कर्तव्य को निभाने के लिए उसको अवलोकन का गुण चाहिए।" उस काल में तकषि उपन्यास रचना से संबन्धित नहीं थे, तो भी बालकृष्णमेनन द्वारा सूचित गुण तकषि ने अर्जित किया था। तकषि की सभी रचनाओं में अवलोकन क्षमता द्वारा संप्राप्त प्रथम श्रेणी के कथा संदर्भ एवं कथापात्र अनेक हैं।

तकषि ने जब उपन्यास लिखा शुरू किया था, तब मलयालम उपन्यास ठिठुरे पौधे के समान था। 1888–1922 के काल में ओ. चन्तुमेनन और सी. वी. रामनपिल्लै ने उपन्यास विधा की सुगठित एवं सुदृढ़ नींव डाली। उन्हें अलग कर देखा जाए तो प्रो. एन. कृष्णपिल्लै के मतानुसार 1933 तक का काल निराशाजनक है। वे कहते हैं "तीस–पैंतीस को छोड़कर बाकी गाड़ी–भर उपन्यासों को और दस–पन्द्रह लेखकों को छोड़कर बाकी सारे लेखकों को नगण्य कर दें तो भी साहित्य के इतिहास की कुछ हानि नहीं होगी।" लेकिन कहानी विधा जीवन्त, अर्थपूर्ण और सुबोध रही। प्रो. एन. कृष्णपिल्लै ने एक सीमा रेखा यहाँ खींची है। यह तो शायद यादृच्छित हो सकता है कि तकषि के प्रथम उपन्यास 'त्याग का पारिश्रमिक' के प्रकाशन वर्ष (1934) के पिछले वर्ष में यह सीमा रेखा पड़ती है। एन. कृष्णपिल्लै का रेखांकित एक कथन है– कहानी के क्षेत्र में उपलब्धियों एवं सफलताओं के धनी वैक्कम मुहम्मद बशीर, पी. केशवदेव, तकषि आदि जब से उपन्यास की ओर मुड़े तो उपन्यास क्षेत्र में एक नवीन युग का उदय हुआ। 1934 से तकषि उपन्यास लिखने लगे, लेकिन तकषि के प्रारंभिक उपन्यास साहित्य को आगे ले जा न सके। 1947 में 'तोट्टियुटे मकन' 1949 में 'रंटिडंगषि' 1956 में 'चेम्मीन' जैसी रचनाएँ क्रमानुगत गुणोत्कर्षों के साथ प्रकाशित हुई। यह मत एन. कृष्णपिल्लै का है। तोट्टियुटे मकन एवं रंटिडंगषि में दर्शनशास्त्र की नोक से पिरोकर ऊपर उठाने और मुट्ठी उठवाने का असीम साहस तकषि दरसाते हैं। उसी प्रकार असीम सामाजिक अवबोध पर अधिष्ठित प्रेम संबन्ध भी दिखाया गया है। इस प्रकार की सारपूर्ण विकलता से चेम्मीन विमुक्त हो गया है। यह उसकी सबसे बड़ी विशिष्टता है। तकषि के चेम्मीन में निम्नलिखित विशिष्टताएँ हैं। साहित्य रचना शैली के प्रति दास्य भाव, सामाजिक विचारधाराओं के प्रति पक्षधारण, विशृंखलित जीवन दर्शन एवं कलामूल्य की धारणा आदि से अलग होकर मानव को मानव के स्थायी पते पर पहचानने और साहित्य को हृदयहारी बनाने लायक किसी भी कार्य को स्वतंत्रतापूर्वक प्रयोग में लाने को वे तैयार हो गये।

5.4 चेम्मीन : विशुद्ध रूमानी प्रेम का अंकन

सामाजिक एवं आर्थिक समानताएँ, जिन्हें स्वतंत्रता संग्राम के अन्तिम चरण के भाववेश के साथ परिहृत करना चाहिए था, तकषि को ही नहीं बल्कि नवोत्थान के तत्पर सभी साहित्यकारों को प्रभावित कर रही थीं। इस प्रकार के तत्वों को प्रचार लक्ष्य के साथ जब साहित्य में समावेशित कर देते हैं तो साहित्य की सर्व जन प्रियता को किस प्रकार सुरक्षित किया जा

सकता है, यह समस्या साहित्य की सर्वकालिक समस्या है। ऊपर लिखे मत से यह व्यक्त हो जाता है कि इस समस्या में तकषि भी स्खलित हुए हैं। लेकिन जब चेम्मीन की बात आती है तो पूर्ण रूप से तकषि का रूमानी कलाकार दृष्टिगत हो जाता है। त्रिकोण प्रेम की कथावस्तु अतिपुरातन है। उसको अपनाने में तकषि को किसी भी प्रकार की हिचक नहीं है। यथातथ्य चित्रण में तकषि की क्षमता अद्वितीय है। लेकिन विशुद्ध रूमानी प्रेम के चित्रण से वे एक नवीन सरणि में प्रवेश करते हैं। एन. कृष्णपिल्लै इस रीति की भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं।" परीक्कुट्टी का प्रेम जैसा एक प्रेम, करुतम्मा के आत्मशोध जैसा एक आत्मशोध, कल्पना सृष्ट समुद्रदेवी की दंड दक्षता आदि हमारे हृदय में प्रवेश कर पाते हैं। ये सब यथार्थ से बहुत–बहुत दूर है। समुद्रदेवी की कर्कश दंड नीति का विवरण बड़ी धीरता से लेखक करते हैं तो ऐसा लगता है कि तकषि एक अंधा विश्वासी या लकीर का फकीर है। तकषि को यह धीरता इसलिए मिली जब उन्हें लगा कि कथा के ऊपर क्रान्ति की पताका का आच्छादन डालने की अपेक्षा विषय एवं परिसर की उचितता के अनुरूप समग्र सौन्दर्य का सृजन करना नव्यावबोध का सूचक है। अज्ञान एवं अनाचारों में उलझे रहे एक समाज के परिसर में घटित एक लंबी कहानी के कथापात्रों की जीवनचर्या में सागर–सन्तानों द्वारा शताब्दियों से अनुवर्तित दर्शन ही उचित हो सकता है। उस दर्शन रूपी धुरी में घूमने वाली प्रेमकथा में करुत्तम्मा की क्रान्तिकारी आत्ममुक्ति के स्थान पर असहायता एवं उसके फलस्वरूप उत्पन्न आत्मबलिदान सहज एवं स्वाभाविक होता है। चेम्मीन की सफलता का मुख्य कारण यह है कि तकषि ने इस आधार – आधेय मेल से और पिटे – पिटाये मार्ग से स्वतंत्र होकर स्वच्छन्द संचरण करने की ताकत दिखायी।

चेम्मीन की प्रशस्ति, आस्वाद्यता, जनस्वीकृति आदि के कारण सर्वाधिक समीक्षकों ने उसकी अधिकाधिक प्रशंसा की। चन्तुमेनन और सी. वी. रामनपिल्लै के बाद इतनी आत्मीयता से एवं असाधारण रीति से एक रूमानी प्रेमानुभूति पाठकों को प्रदान करने वाले वैक्कम मुहम्मद बशीर और तकषि थे। वैक्कम मुहम्मद बशीर ने 'बाल्यकाल सखी' (1944) के द्वारा और तकषि ने 'चेम्मीन' के द्वारा। इन दोनों लेखकों ने उनकी कहानियाँ कहीं, जिनके पास, भूख की कर्कशता में अपनी जिस्म के सिवाय बेचने के लिए और कुछ नहीं था। उन कहानियों की नायिकाएँ उदात्त प्रेम नहीं कर सकती थीं। लेकिन करुत्तम्मा की कहानी बिलकुल भिन्न है। आख्यान की शैली तो जस की तस है तो भी, चेम्मीन में तकषि अत्यन्त रूमानी भाव – परिसर को स्थायी बना सका। "आधुनिक मलयालम साहित्य का इतिहास" का लेखक पी. के. परमेश्वरन नायर, तकषि की इस उपलब्धि के बारे में कहते हैं – "आज तक प्रकाशित तकषि के उपन्यासों में चेम्मीन प्रथम है। इस रचना में तकषि की यथातथ्य रीति चरमसीमा तक पहुँच गयी है। लेकिन कहानी का आरंभ और विकास एक रूमानी कथा के रूप में है। उनके इतर उपन्यासों की भाँति वर्ग–संघर्ष की तरंगों की गर्जना उसमें प्रतिध्वनित नहीं होती। जीवन के अधिकाधिक गहरे मनोभावों ने लेखक को प्रभावित किया है।" उन्होंने तकषि के उपन्यासों की कथावस्तु, कथा कथन रीति, लक्ष्य आदि का भी विवेचन किया है।

मलयालम के विख्यात हास्य साहित्यकार ई. वी. कृष्णपिल्लै ने कहा – " तकषि के उपन्यासों को अतिशयकारी प्रचार प्राप्त हो रहा है।" उपन्यास रसिकों की संख्या तब बढ़ सकती है जब कथा, कथापात्र, वर्णन की शैली आदि अपूर्व एवं आकर्षक बन जाती है। इस प्रकार की एक लहर की सृष्टि करने में तकषि एवं उनके समकालीन उपन्यासकार सफल बने। केरल के प्रथम साम्यवादी मंत्रिमंडल के शिक्षा मंत्री और मलयालम के सुप्रसिद्ध समीक्षक जोसफ मुण्डशेरी ने चेम्मीन के गुण–दोषों का विवेचन किया है। अन्य समीक्षकों द्वारा उल्लिखित गुणों जैसेः रूमानी प्रेम कथा का यथातथ्य चित्रण, सामान्य जनता की भाषा, जीवन्त कथापात्र, की मुण्डशेरी ने भी प्रशंसा की है। उन्होंने यह शिकायत भी की है कि इससे अंधविश्वास जड़ जमा लेता है।

उपन्यास विधा पर विशेष अध्ययन एवं शोध करने वाले जोर्ज इरुम्पयम ने चेम्मीन की विशिष्टताओं पर ध्यान दिया है। उनका मत इस प्रकार है – "तोट्टियुटे मकन एवं रंटिडंगषि समाज की कहानियाँ हैं। चेम्मीन के पात्र करुत्तम्मा, परीक्कुट्टि, चेम्पनकुंजु में मानसिक व्यथाएँ उभर आती हैं, लेकिन 'अरय' समाज का उभार नहीं है। वर्ग संघर्ष से वैयक्ति जीवन

की ओर का परिवर्तन ध्यान देने योग्य है।" पी. नारायण कुरुप के अनुसार – "तकषि साहित्य मौलिक प्रतिभा, अपूर्व दर्शन शक्ति, औचित्य एवं निर्ममता से अनुगृहीत है।" जिन विशेषणों से उन्होंने तकषि की रचनाओं को विशिष्ट बताया है, उनकी अधिकाधिक मात्रा चेम्मीन को प्राप्त होती है। क्योंकि वह तकषि की उत्तम रचना है।

मलयालम उपन्यासों के 'नायक संकल्पना' पर शोध कर उपाधि प्राप्त जोर्ज ओणक्कूर के मतानुसार चेम्मीन की रसनीयता का आधार उसकी रोमानी चारुता और मानव संबंधों का उज्जवल चित्रण है। मलयालम के उपन्यासकार के. सुरेन्द्रन ने 'उपन्यास : सिद्धि और साधना' नामक अपने ग्रंथ में चेम्मीन के मानुषिक संबंधों को एक 'मेटोफेर' के रूप में प्रस्तुत किया है। नालुकेट्टु, उम्माच्चु, अरनाषिका नेरम, चेम्मीन, वेरुकल आदि उपन्यासों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत करते हुए सुरेन्द्रन ने कहा है कि "यह संबन्ध एक नदी के समान है जिस के एक ओर बाह्य धारा प्रवाह और दूसरी ओर अन्तर्धारा प्रवाहित है। तरंगों में डोलायमान एक नौका की स्थिति चेम्मीन के मनुष्य संबन्धों की है। संपदा के असन्तुलित वितरण से ही उसके पात्रों के जीवन में समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

5.4.1 चेम्मीन के नारी चरित्रों का विश्लेषण

सारे समीक्षक इस बात पर एक मत हैं कि स्त्री पात्रों की सृष्टि में तकषि के अन्दर का उपन्यासकार अपनी क्षमता का प्रदर्शन करता है। के. पी. शरत्चन्द्र ने कहा है – मनोविश्लेषण तकषि की रचनारीति है, इसलिए नारी मनोविज्ञान को आत्मसात् करने में तकषि अप्रतिम हैं। पुरुषों को पिछड़ा करने की विशेषता तकषि के नारी पात्रों में है, विशेषकर ग्रामीण नारी पात्रों में। नारी स्वभाव की अनेक विविधताओं को तकषि ने अपनी विविध नारी पात्रों के द्वारा व्यक्त किया है। प्रेमिकाएँ, वेश्याएँ, पतिव्रताएँ, पतिव्रता धर्म से च्युत नारियाँ आदि विभिन्न प्रकार की नारियाँ। तकषि की नारियाँ गुलाम नहीं हैं, अपितु स्वतंत्र रूप से जीवन जीती है। चेम्मीन की चक्की, नल्लपेण्णु आदि जीवन सहयोगिनी हैं। उपदेश, सहभागिता, आश्वासन आदि से चेम्पन कुंजु की सहायता करने वाली है चक्की। जब वह रोग–शय्या पर पड़ी और उसकी सहायता न कर सकी तो चेम्पनकुंजु शिथिल बना।

यौन आसक्ति को तकषि नारीत्व के आधार भूत भावों में एक के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इससे संबन्धित विविध अवस्थाएँ हैं प्रेमिका, पत्नी और माता। चेम्मीन की स्त्रियों में सभी इन में किसी एक भाव को प्रमुखता देने वाली हैं। करुत्तम्मा अन्तिम साँस तक प्रेयेसी रही। चक्की में मातृत्व का भाव सर्वप्रथम रहा। मानव के भावों के अध्ययन में तकषि दक्ष हैं और यह दक्षता उनके नारी पात्रों में प्रकट होती है।

5.5 भाषा-शैली

प्रत्येक उपन्यास के लिए उचित भाषा शैली की सृष्टि करना तकषि की सबसे बड़ी विशिष्टता है। उनके सभी समीक्षकों ने इस विशिष्टता की ओर ध्यान दिया है। तकषि ने स्वयं कहा भी है कि ग्रामीण वृद्धजनों एवं स्त्रियों की कथावस्तु रीति मैंने अपनायी है। उन की भाषा शैली के बारे में मुण्डशेरी ने कहा है – "उन्होंने जीवन का व्याकरण सीखा है। उन्होंने जीवन की भाषा लिखी। उनकी प्रमुख रचनाओं की भाषा उनकी कलम को मालूम नहीं थी। उनकी भाषा उतनी सहज है।" विख्यात कवि एवं समीक्षक जी कुमारपिल्लै ने कहा है "उनकी भाषा सफल, ललित और साधारण है। तकषि की भाषा शैली, चक्रगति में अन्दर चुभनेवाली पेच के समान है। कथाविस्तार ज्ञान से स्वयंनियंत्रित आख्यान रीति।..... कुछ सीमित शब्दों में बड़ी से बड़ी बातों एवं कथा को कहने की यह काबिलियत मलयालम के अधिक लेखकों में नहीं है"। भाषा शास्त्रकार एन. एन. मूसत ने तकषि की ललित एवं सहज भाषा शैली पर ध्यान दिया है। उनके वाक्य सरल हैं जिसे दुबारा पढ़ने की आवश्यकता नहीं है। "वाक्य रचना में तकषि सर्वाधिक ऋजुता एवं लालित्य दरसाते हैं। तकषि द्वारा वर्णित कथा पर हम ध्यान देते हैं, न कि उसके लिए प्रयुक्त भाषा पर।" तकषि के समकालीन उपन्यासकार पी. केशवदेव ने, बशीर एवं तकषि को भी समाविष्ट करते हुए

तीनों के साहित्यिक परिप्रेक्ष्य पर लिखा है – "हमने साधारण जनता की कथाएँ साधारण जनता के लिए लिखीं। इसलिए हमने साधारण जनता की भाषा अपनायी। टेढ़ीमेढ़ी भाषा अथवा वक्रोक्ति हमारी कहानियों पर परिलक्षित नहीं होगी। इस प्रकार साहित्य साधारण जनता तक उतर आया और जनता साहित्य तक उठी सकी।"

भाषाशास्त्री एन. आर. गोपीनाथपिल्लै का मत है कि "भाषा वही है जिसे लेखक अपनी कहता है और पाठक अपनी कहता है। घटाकाश एवं चिदाकाश की तरह वह भिन्न और अभिन्न रहती है।" वे कहते हैं कि एक ही रचना में कम से कम चार प्रकार की भाषा शैलियाँ देखी जा सकती हैं। काल की भाषा शैली, साहित्य की भाषा शैली, लेखक की भाषा शैली और भाव की शैली। वे यह भी कहते हैं कि चेम्मीन की अपनी एक विशेष प्रकार की भाषा शैली है जो संदर्भ के अनुकूल अभिव्यक्त होती है।

5.6 तकषि का साहित्य-दर्शन

साहित्य के लिए अलग एक दर्शन चाहिए। जिसमें यह दर्शन नहीं होता वह साहित्य नहीं है। तकषि के समय के उपन्याकारों के प्रेरणा स्रोत थे चार्ल्स डिकेन्स, जेन आस्टन, विक्टर ह्यूगो, दास्ताव्स्की, तुर्जनीव, लियो तोलस्तोय, माक्सिम गोर्की, एमिली ज़ोला आदि जिनके अपने अपने दर्शन थे। तकषि के लिए भी अपना एक दर्शन और साहित्य दर्शन था। एक लेखक की विभिन्न रचनाओं में उस दर्शन के विभिन्न भेद व्यक्त हो जाते हैं। तकषि, (जन्म स्थान का नाम) वैक्कम, अम्पलप्पुषा, तिरुवनन्तपुरम आदि स्थानों में रहकर वहाँ के जनजीवन से तकषि ने अपना दर्शन स्वरूपित किया था। उसने उनकी रचनाओं पर अंकुश डाला।

'त्यागत्तिनु प्रतिफलम्', 'पतित पंकजम्', 'परमार्थड्ड़ल', 'तेण्डिवर्गम्', 'माँसत्तिन्टे विलि' नामक प्रारंभिक रचनाओं में तकषि व्यक्तियों के सदाचार की समस्याओं, उनसे उत्पन्न मानसिक संघर्षों को व्यक्त करने का प्रयास किया है। इस काल में उन्होंने यौन भाव के और उन्नति पर लक्ष्य रखने वाले कथापात्रों का सृजन किया। उस सीमा से 'रंडिडंगषि' एवं 'तोट्टियुटे मकन' तक की गति अद्भुतकारी है। अभिनव सामाजिक दर्शन इस काल में व्यक्त हो जाता है।' जिसका प्रेरणास्रोत गोर्की हो सकता है। केरल के इतिहास की विख्यात तथ्य पुन्नप्रा – वयलार संग्राम की पृष्ठभूमि में रचित 'तलयोटु' इस सामाजिक दर्शन की सृष्टि है, तो भी आशय प्रचारण उसका मुख्य लक्ष्य था, इसलिए वह निम्नस्तर की रचना बन गयी। अशोकन ने कहा है – "बंगाल के अकाल को पृष्ठभूमि बनाकर किशन चन्दर या भबानी भट्टाचार्य द्वारा लिखी रचनाओं की भांति जन मानस को आकृष्ट करने की शक्ति तलयोटु में नहीं थी।"

सभी प्रकार के समीक्षक इसमें एकमत है कि तकषि वर्ग संघर्ष के साहित्यकार है। 'तोट्टियुटे मकन' एवं 'रंटिडंगषि' नामक उपन्यासों में वे श्रमिकों की कहानी बताते हैं। पहले उपन्यासों में भंगियों की कहानी कही गयी तो दूसरे में कुट्टनाट के परयों एवं पुलयों की कथा है और इसलिए दलित समाज की कथा है। इन उपन्यासों में वे लोग लक्षित होते हैं, जो मानव समाज से वितृष्णा एवं शोषण का अनुभव करते हैं। तकषि ने दिखा दिया कि दूसरे जन विभागों की तरह दलितों में भी आशाएँ, संकल्पनाएँ और प्रेम संबंध है। उस काल के लेखक मानवता पर अधिष्ठित नवोत्थान के विचारधाराओं के प्रचार में उत्सुक रहते थे। 'तोट्टियुटे मकन' नामक उपन्यास में आलप्पुषा के भंगीवर्ग के लोगों के संगठनात्मक परिश्रमों को दिखाया गया है। भविष्यद्रष्टा एक मंत्री द्वारा अपने पुत्र को भंगीवृत्ति से मुक्त करने के लिए किये गये प्रयत्न पराजित हुए। फिर भी एक उपलब्धि हुई। वह पुत्र श्रमिक अभिदान का नेता बना। रंडिडंगषि में कुट्टनाड के कृषकों का जीवन चित्रित है। उनके दारिद्रयपूर्ण जीवन की शोचनीय दशा तकषि को परिचित थीं। उन्होंने उन दशाओं का मनोहारी चित्र खींचा है। भू-स्वामी का शोषण तंत्र, उसका आक्रमण, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप श्रमिकों की संगठन-शक्ति, धीरता, स्वाभिमान, अधिकारों का अवबोध आदि उपन्यासकार के चर्चा विषय हैं। समीक्षकों के मूल्याकंन के अनुसार पतितों की कहानी कहने वाला तकषि रंडिडंगषि में एक कदम आगे बढ़ गये हैं। उनका यह निर्णय है कि तकषि की प्रेरकशक्ति माक्सिम गोर्की हैं। विभिन्न दृष्टियों में, तकषि के उपन्यासों में मुख्य स्थान 'एणिप्पटिकल' को प्राप्त है। इस

उपन्यास के द्वारा उपन्यासकार केरल के राजनैतिक परिवर्तनों को शासन तंत्र में प्रतिबिंबित कराने का यत्न किया है। उसके लिए उन्होंने सर सी. पी. रामस्वामी अय्यर के शासन काल से लेकर प्रथम साम्यवादी मंत्रिमंडल (1957) तक के अन्तराल को चुना। नौकरी की खोज में तिरुवनन्तपुरम पहुँचकर राज्य के सर्वोच्च प्रशासक (मुख्य सचिव) के पद तक पहुँचने वाले एक युवक की कथा बड़ी ही अवधानता से कही गयी है। भ्रष्टाचार, पक्षपात की नीति, अनैतिकता, एकाधिपत्य की भीषण नीति जैसे प्रशासनिक क्षेत्र से संबन्धित सभी कार्य इस उपन्यास में वर्णित है। इस उपन्यास में सामाजिक अवबोध एवं ऐतिहासिक ज्ञान रखने वाले एक लेखक को देख सकते हैं।

"उपन्यास विधा को प्रगति की ओर ले जाने योग्य केवल चार या पाँच उपन्यासों की रचना तकषि ने की है, इसलिए अधिक रचनाओं के कर्ता के रूप में जैसे-जैसे बातें आती रहती हैं वैसे – वैसे लिखते जाने की आदत तकषि को प्राप्त है – "यह के. पी. शरतचन्द्र का अभिमत है। 'औसेप्पिन्टे मक्कल', 'धर्मनीति?–नहीं, जीवन है' आदि उपन्यास इसविभाग में गिने जाते हैं। इन उपन्यासों के कथापात्र जीवन बिताने के लिए और धनार्जन के लिए कुछ भी करने वाले हैं। समीक्षकों ने कहा है कि तकषि का परिचय, अभ्यास पटुता, व्युत्पत्ति, क्षमता आदि इन उपन्यासों में परिलक्षित नहीं होती।

'कयर' विशिष्ट प्रकार की एक रचना है, जिसमें ढाई सौ वर्षो का इतिहास भरा पड़ा है। डी. बेंजमिन कहते हैं – "मन्दिरों को केन्द्रित कर चली सामन्तवादी शासन प्रणाली से जनकेन्द्रित गण तंत्र शासन तक का परिवर्तन कयर में वर्णित है। असंख्य कथापात्रों एवं कहानियों में व्याप्त इस उपन्यास के द्वारा उच्च–नीच स्थिति एवं अनाचारों के विरुद्ध प्रश्न उठाये गये हैं। 'चेम्मीन' से 'कयर' तक सामाजिक दृष्टि से बड़ी दूरी है। 'चेम्मीन' मे समाज के अनुचित निचमों का पालन किया जाता है तो 'केयर' में उनका निराकरण किया जाता है।

5.7 'चेम्मीन' पर समीक्षकों की टिप्पणियाँ और आरोप

अब तक हमने जो विवेचन किया है, उससे यह ज़ाहिर होता है कि तकषि के अन्यान्य उपन्यासों से 'चेम्मीन' किस प्रकार अलग रह जाता है। चेम्मीन' की अपनी यह विशिष्टता है कि उसमें अपूर्व शोभापूर्ण कथानक है और अनश्रवर पात्र हैं। चेम्मीन की और एक विशिष्टता भी है। वह यह कि जितनी प्रशंसा चेम्मीन को मिली उससे अधिक विपरीत चर्चाएँ भी हुई हैं। इस प्रकार की एक परिस्थिति इसलिए उत्पन्न हुई इसलिए कि चेम्मीन सूक्ष्म अध्ययन के लिए योग्य एवं विशिष्ट रचना है।

आख्याता के धरातल के आधार पर उपन्यास के आख्यान का निर्णय किया जाता है। 'नोवलुकलिलूटे' नामक अपने ग्रंथ में के. पी. शरतचन्द्रन कहते हैं कि धरातल तीन प्रकार के हो सकते हैं। पहलाः–घटनाओं का यों ही विवरण देना, दूसराः विशेष संकेतों के सहारे घटनाओं का विवरण, तीसरा हैः घटनाओं के मध्य में कथापात्रों को खड़ा करके, उनकी प्रतिक्रियाओं के द्वारा कथा का प्रस्तुतीकरण। तीसरी रीति का तकषि ने चेम्मीन में पालन किया है।

मलयालम साहित्य के नवोत्थान काल के कथाकार रहे तकषि। लोगों में यह शंका उत्पन्न हुई कि क्या कही कथाकार अन्धविश्वासों एवं अनाचारों का प्रचारक होंगे? इसी शंका से अनेकानेक विरोधी समीक्षाएँ प्रारंभ हुई। चेम्मीन में तकषि द्वारा प्रयुक्त मिथक को लेकर विरोध प्रारंभ हुआ। मलयालम के विख्यात समीक्षक जोसफ मुण्डशेरी ने कहा कि चेम्मीन अंधविश्वास को फैलनेवाली रचना है। डा. वेलुक्कुट्टि अरयन की शिकायत थी कि चेम्मीन में अरय समाज का यथातथ्य चित्रण नहीं हुआ है। उन्होंने यह भी कहा कि इस कारण से चेम्मीन दूसरी श्रेणी का उपन्यास है। इस प्रश्न के उत्तर के रूप में स्वयं तकषि ने एक प्रश्न पूछा कि एक मूल्यवान तत्व के अस्तित्व के लिए एक अन्धविश्वास अस्तित्व में आ जाए तो उसमे गलती क्या है? ऐसे लोग भी थे, जिन्होंने उस मिथक को मछुआरों के जीवन का कलापूर्ण चित्रण मान लिया।

5.7.1 कथानक

के. पी. शरच्चन्द्रन और के. अशोकन, तकषि पर यह आरोप लगाते हैं कि चेम्मीन में कथानक का निर्देशन ठीक नहीं है। उनके मतानुसार मछुआरों का सामाजिक जीवन एवं त्रिकोण प्रेम का समीकरण कैसे किया जाए? इस प्रश्न के सामने तकषि चकित रह गये। इसलिए कथानक के घटकों के समायोजक में गलती हुई है। पृष्ठभूमि, उपकथाएँ, विशेषकर चेम्पन कुंजु की कथा आदि को असाधारण महत्व दिया गया है। इसका कारण भी उन्होंने ढूँढ निकाला। उनके मतानुसार रचना मर्म एवं आन्तरिक सत्ता क्या होनी चाहिए? इस प्रश्न पर भी उपन्यासकार शंकित हो गये थे। शरच्चन्द्र ने यह भी कहा है कि चक्की की मृत्यु और करुत्तम्मा का मानसिक परिवर्तन सूक्ष्मता से चित्रित नहीं किया गया है। सागर–माता के कोप पर बलि होने वाले पलनि के चित्रण में भी सूक्ष्मता हीन एक स्रष्टा लक्षित होते हैं।

यह आरोप भी लगाया गया कि सागर तट पर शवों को बिछा दिया है। आलोचक अशोकन को यह स्पष्ट नहीं हुआ है कि परीक्कुट्टी को क्यों मारा गया। आरोपों पर समग्रता से दृष्टिपात करने पर यही निर्णय करना पड़ता है कि कथावस्तु का समायोजन और कथापात्रों का चित्रण विकल बन गया है।

अनुकरण का आरोप भी चेम्मीन पर लगाया गया है। चेम्मीन पर यह आरोप भी लगाया गया कि पेर्ल बक के 'गुड एर्थ' एवं एर्णस्ट हेमिंगवे के 'दि ओल्ड मैन एन्ड द सी' का तकषि ने अनुकरण किया है। तकषि स्वयं स्वीकार करते हैं कि अंग्रेज़ी के ज़रिये परिचयसीमा में आयी अनेक रचनाओं ने उन्हें प्ररेणा दी है। सुविख्यात उपन्यासकार के सुरेन्द्रन करुतम्मा को अन्ना करेनीना की अन्ना की छाया के रूप में देखते हैं। उनका यह भी मत है कि परीक्कुट्टी का चरित्र एकरस है और उसमें करुत्तम्मा से प्रेम के सिवाय और कुछ नहीं है।

5.7.2 'चेम्मीन' को प्राप्त सम्मान

अपने ऊपर लगाये गये बहुतायत आरोपों का उत्तर तकषि ने स्वयं दिया है। प्रकाशन के दो वर्ष के अन्दर चेम्मीन के दो संस्करण निकले। मात्र चेम्मीन को प्राप्त सम्मान और भी हैं–राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त प्रथम मलयालम उपन्यास, सर्वराष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त प्रथम मलयालम रचना। जब उस पर फिल्म बनायी गयी तो मलयालम को उसके द्वारा प्रथम 'स्वर्णकमल' प्राप्त हुआ। अशोकन का यह अभिमत सही निकला है–'अनेक सविशेषताओं से चेम्मीन को मलयालम उपन्यास साहित्य की विकास यात्रा में महत्वपूर्ण स्थान है। केरल में ऐसी रचना नहीं के बराबर है, जो इतना अधिक वाद–विवादों का केन्द्र बना हो।'

उपन्यास रचना के साथ साथ तकषि ने अपनी साहित्य संकल्पनाएँ, साहित्य रचना के रहस्य, लक्ष्य आदि को व्यापक किया है। तकषि कहते है कि कहने की अनेक बातें हैं, इसलिए उपन्यास लिखता हूँ। उन्होंने यह भी कहा है कि अपने आशयों के रूपाकार हैं कथापात्र। लेखक के व्यक्तित्व की महानता के बारे में तकषि के अपने निश्चित विचार हैं। उनका दृढ़ विश्वास यह है कि एक व्यक्ति के रूप में किसी की विशिष्टता उसकी रचनाओं में प्रतिबिंबित होती है और लेखक अपनी रचनाओं की अपेक्षा बड़ा होता है। उन्हें इस सीमाबद्धता का ज्ञान भी है कि मन में जितना भरा पड़ा है उतना लेखन में उतर नहीं सकता। तकषि कहते हैं कि पूर्वायोजना करके उपन्यास लिखा नहीं जा सकता है। मानव स्वभाव एवं जीवन की धारागति के अनुसार वह बढ़ता जाता है। कहानी स्वयं अपनी गति का निर्णय कर लेती है। उपन्यास के संबन्ध में तकषि का यही दृष्टिकोण है–' कहने के लिए कुछ कार्य हो, उसको कहने की रूपरेखा हो। ये दोनों जब तैयार हैं तो अनुयोज्य कथापात्र एवं पृष्ठभूमि भी बन जाते हैं। जब ये सब एकसाथ मिल जाते हैं तो वही उपन्यास बनता है।' उन्होंने यह भी कहा है–'उपन्यास का स्वरूप, तत्व से दृढ़तापूर्वक संबन्धित है। शैली, विशिष्ट परिप्रेक्ष्य, सामाजिक अवबोध–में सब प्रधान हैं। स्वरूप अपने आप बन जाता है, उसको बनाया नहीं जाता है।' वे यह भी कहते हैं कि सामाजिक अवबोध, जीवन परिवर्तन आदि का उपन्यास रचना प्रक्रिया से कुछ लेना–देना नहीं है। केवल सात दिनों में तकषि ने चेम्मीन की रचना पूरी की। तकषि के अनुसार 'चेम्मीन की सृष्टि की असंस्कृत वस्तुएँ हैं– उनके किसी अज्ञात कोने में मुखरित

'करुतम्मा' पुकार, उधार लेकर जाल एवं नाव खरीदने पर भी पराजित होने वाला एक मछुआरा, तटीय बिरादरी को कलंकित करनेवाली एक लडकी–।– बाकी सबकुछ लिखने की क्रिया के साथ जुड़ जाते हैं।

तकषि समीक्षकों का विरोध नहीं करते। उनका यही दृढ़ विश्वास है कि मूल्यांकन, लेखकों की सहायता करता है। उनके मतानुसार मूल्यांकन से लेखकों की मज़बूती एवं कमजोरी की पहचान हो जाती है, जो समीक्षा की सबसे बड़ी उपलब्धि है। तकषि इस पर गर्व करते हैं कि 'चाहे समीक्षक जो भी कहे, चेम्मीन मेरे सामाजिक जीवन के एक विशिष्ट अन्तराल का द्योतक है।'

5.8 चेम्मीन के विश्लेषण का निष्कर्ष

तकषि के अपने और उनके समीक्षकों के मतों के प्रकाश पर हम निम्नलिखित धारणाओं पर पहुँच पाते हैं– 'चेम्मीन पर समग्र एवं सैद्धान्तिक अध्ययन नहीं हो पाया है। आज तक केवल प्रतीत्यात्मक (इम्प्रशनिस्ट) समीक्षाएँ लिखी गयी हैं। इससे यह मानना पड़ा है कि समीक्षा को नियंत्रित करनेवाली शक्तियाँ समीक्षक के विश्वास एवं अवधारणाएँ हैं। आइए चेम्मीन के आधार पर पहले इस आरोप पर विचार करें कि तकषि अन्धविश्वासों का प्रचार कर रहे हैं। करुत्तम्मा भ्रष्ट हुई, इसलिए पषनि सागर में डूब मरा। करुतम्मा के कर्म और पलनि की मृत्यु में संबन्ध माना जाएँ तो दोनों के चरित्रों का संबन्ध है। तकषि ने कहा है कि मेरे मन में भाव है, जो कथापात्रों का रूप धारण करते हैं। जब यह प्रश्न पूछा गया कि मानव जीवन का सबसे सहज एवं शक्तिशाली प्रेरणा शक्ति क्या है–तो तकषि का उत्तर था–यौन भाव। यही चेम्मीन का कथा तत्व है। इस तत्व के मूर्त रूप हैं परीक्कुट्टी, करुतम्मा और पलनि नामक पात्र। यौन भाव की काल्पनिक दशा है प्रेम। सहज प्रकृति का यह तत्व हो सकता है कि वह प्रेम किस के प्रति प्रकट किया जाता है। मनुष्य द्वारा मनुष्य के ही ऊपर लादे गये विभागगत भिन्नताएँ सहज सुखानुभूति की बाधक हैं। इस सामाजिक हस्तक्षेप का प्रतिरोध करने वाले कुछ कम लोग हो सकते हैं। वंशों के अस्तित्व का आधार है सहज प्रेम भाव। उस प्रेमभाव को धारण करनेवाले अथवा प्रतिरोध करनेवाले सबकुछ भूल जाते हैं। करुतम्मा–परीक्कुट्टी जोड़ी के द्वारा तकषि उस तत्व पर प्रकाश डालते हैं। इस रीति के लोग मानव द्वारा निर्मित जाति–धर्म बंधनों की परवाह नहीं करते हैं। समाज एवं परिवार के बंधनों को तोड़कर प्रेम के नाम पर सर्वस्व त्यागने वालों की लंबी कतार साहित्य में दिखायी देती है। मानव तो आखिर मानव है, वह न मुसलमान है और न मछुआरा। इस तत्व को अपने जीवन के ज़रिये साफ दिखाने वाले साधारण स्त्री–पुरुष हैं करुतम्मा और परीक्कुट्टी। इतने उदात्त मनोभाव को प्रस्तुत करने वाले तकषि पर यह आरोप लगाना कि वे अन्धविश्वास फैला रहे हैं तो उत्तर देना पड़ता है कि वह मत अपरिपक्व है और आधारहीन है। मिथकों का धर्म साधारणतया प्रेमकथाओं की काल्पनिक सुषमा को आकर्षक बनाना है। चेम्मीन की असाधारण लोकप्रियता का कारण भी मिथक के द्वारा उपन्यास को असाधारण और अनश्वर बनाया गया।

दूसरा आरोप यह है कि तकषि ने सागर तट पर शवशरीरों का अम्बार लगा दिया। यह आरोप और एक दूसरे दृष्टिकोण के बीच संबन्ध है। एक नायिका के दो नायक होते हैं तो साधारणतया कथाकार अपने नायकों के संघर्ष का चित्रण करते हैं। चेम्मीन उस रीति से बिलकुल भिन्न रचना है। पलनि को मृत्यु तक पहँचाने के बलवतीकारणों की सृष्टि उपन्यासकार करते हैं। अनाथ पलनि को अप्रत्यशित रूप में जीवन वापस मिला था। अपनी जीवनसंगिनी के रूप में सागर तट की सबसे 'बड़ी छोकरी' उसको मिल गयी। तब तक पलनि को किसी से प्रेम करने का अवसर नहीं मिला था। इसलिए अपनी कची रीति में सही, बड़ी तीव्रता से करुतम्मा से प्यार किया। तब वह अनाथत्व के अभिशाप से मुक्ति पा रहा था। करुतम्मा जैसी एक लड़की को पलनि जैसे एक अनाथ के हाथों सौंपने के निर्णय में तकषि ने शंका एवं विपदा के बीज को छिपा रखा। उपन्यास के प्रारंभ से ही सूचनाएँ दी गयी हैं कि करुतम्मा पर पलनि को शंका हो सके। उनके वैवाहिक जीवन का हर प्रसंग उसको बढ़ाता रहता है। पलनि जितना अधिक करुतम्मा पर विश्वास करने लगता है, उतना

अधिक उस श्रम में पराजित होता है। उसी प्रसंग में ऐसा अवसर, अंतिम दृश्य, आता है जब परीक्कुट्टी के पतन पर करुतम्मा पलनि से प्रत्यक्ष कहती हैं कि वह तब भी उसे प्यार करती है। पलनि का विश्वास था कि करुतम्मा उससे प्यार करती है। इस विश्वास की नाजुक डोरी से उसका जीवन बँधा रहा, तो करुतम्मा का यह स्पष्टीकरण जान–लेवा रहा। अपने लिए हितकारी जवाब की वह प्रतीक्षा कर रहा था। जब करुतम्मा ने अपना दिल पलनि के सामने खुला रखा तो आशा की प्रतीक्षा न रही। अनाथ बनकर पले पलनि के सगे–संबन्धी दो मात्र थे– पत्नी और बच्ची। जब वह भी उसके न रहे तो दुःख भार थामकर वह बीच समुद्र की ओर नाव खेते गया और भँवर में फंस गया। पलनि के जीवन की यह दुर्घटना, दुःख में विलीन होकर परिसर को भूलनेवाले किसी भी व्यक्ति की हो सकती है।

समीक्षकों के एक और आरोप कि परीक्कुट्टी की हत्या करनी नही चाहिए थी, पर आगे विचार करेंगे। परीक्कुट्टी ऐसा एक युवक है, जिसकी आजीविका एवं जीवन तहस–नहस हुआ था और जिसने अपने घर को एवं परिवार के लोगों को ठुकरा दिया था। करुतम्मा के प्रति उसके मन में पनपे प्रेम भाव ने उसे पतन की ओर धकेल दिया था। सपनों में रहने वाले उस रूमानी मानव को जब चेपनकुंजु धोखे से तोड़ डाला तो पतन से बच निकलने का अन्तिम रास्ता भी बंद पड़ा। उसके सामने बाकी रह गये कुछ सपने। जैसे उसने स्वयं कहा था, वैसे ही करुतम्मा की स्मृति में वह सागर तटपर गा–गा के भटकता रहा। उस अवसर की मानसिक दशा में उसने कुछ खो दिया था और वह किसी की ज़रा भी प्रतीक्षा नहीं कर सकता था। उसको एक बार देख लेने की अवश्य आशा लेकर वह उसकी झोंपड़ी में पहुँचा। वहाँ पहुँचने वाले परीक्कुट्टी को अपनाने की मानसिक सज्जा करुत्तम्मा में भी, क्योंकि उसने पलनी के सामने सत्य की गाँठ खोली थी। उस परिस्थिति में करुत्तम्मा को पलनि की पत्नी के पद में जीवन बाकी न रहा। वह परीक्कुट्टी की प्रेमिका बन चुकी थी। जीवित रहते हुए उस संबन्ध को निभाने का अवसर समाज में प्राप्त होगा भी नहीं। तो, दोनों के लिए एक ही आश्रयस्थान सागर था। काले बादलों से आच्छादित वर्ष की रात उनके दृढ़ निश्चय की सहायिका बनी रही। कथा की किसी भी घटना की एक संभाव्यता हो सकती है। जब कथापात्रों का अंत हो जाता है तो हमें देखना चाहिए कि उसके लिए आवश्यक पृष्ठभूमि तैयार की गयी है कि नहीं। कार्यों का निर्णय, उपन्यासकार की 'मोटिफ' करती है। सामाजिक अधिकार की इकाइयाँ मानी जाने वाली जाति–धर्म के हस्तक्षेप के फलस्वरूप एक प्रेमबंध में होने वाली दुर्घटना का चित्रण ही तकषि का लक्ष्य था। तकषि अपने लक्ष्य की ओर पात्रों को साथ ले जाते हैं।

चेम्मीन पर एक और शक्तिशाली आरोप यह लगाया गया है कि उपकथाओं और उनमें संबंधित कथापात्रों की गणनीयता का अनुपात ठीक नहीं हो पाया है। चेपनकुंजु कथा का उपनायक है जिसपर यह शंका होती है कि क्या वह नायक के पद तक उन्नत हो सकता है। कथापात्रों को अपनी अपनी इच्छा के अनुसार स्वच्छन्द छोड़ने के इच्छुक तकषि पर लगाये गये आरोप पर आश्चर्य होना नहीं चाहिए। अन्तिम दृश्य अतीव तनाव के साथ और बिना किसी प्रकार की शिथिलता से चित्रित किया गया है। प्रारंभिक अध्यायों के लिए भी यही रीति होनी चाहिए थी। लेकिन चेंपनकुंजु का पतन, लालची का सहज पतन है। करुतम्मा एवं परीक्कुट्टी भी जीवनधारा को नियंत्रित रखनेवाली इकाई के रूप में उसको मुख्य स्थान मिलना चाहिए। साथ साथ वह शक्तिशाली भी है। अन्यथा उस स्थान के लिए वह योग्य नहीं है। यह भी आरोप लगाया गया है कि कहानी के अंत में जहाँ करुत्तम्मा का मन परीक्कुट्टी की ओर आसक्त हो जाता है, उपन्यासकार ने सूक्ष्मता से कार्य नहीं किया। यह आरोप असंगत है। करुतम्मा में ऐसा एक मानसिक परिवर्तन नहीं हुआ है। वह हमेशा परीक्कुट्टी की प्रेयसी थी। स्वयंहत्या करने की धमकी देकर चक्की ने करुतम्मा को विवाह की हामी भरायी थी। विवाह के बाद पलनि की पत्नी बनने और परीक्कुट्टी को विस्मृत करने का उसने प्रयत्न किया। जातिधर्म के आचारों के अधीन होकर, उसका विरोध करने में अशक्त रहने वाले प्रेमी प्रेमिकाओं के वैवाहिक जीवन की यही दशा होती है। ऐसी अनेक पत्नियाँ हो सकती हैं, जो आत्मबन्ध प्रेमी से और धर्म संबन्ध पति से निभाती हैं। अन्तिम भाग में जब पंचमी आकर परीक्कुट्टी की दयनीयदशा का विवरण देती है तो करुतम्मा में निहित प्रेमिका जाग उठती है।

सहज रूप में वहाँ पत्नी पराजित होती है। प्रेमभाव की उस शक्ति को पराजित करने की शक्ति न जाति–धर्म विचारों में थी और न पति–पुत्री में भी। उस संदर्भ में नारी अतिशक्तिशाली प्रेरकशक्ति के रूप में यौन भावना को तकषि पात्र–स्वरूप प्रदान करता है। 'करुतम्मा को वर्णोज्वल परिवेश दिया गया है, फिर भी चुटकियों से उसका व्यक्तित्व भ्रष्ट हो सकता है– के. पी. शरतचन्द्रन का ऐसा अभिमत इसलिए निकला, क्योंकि वह तकषि की 'मोटिफ' के खिलाफ सोचती हैं।

यह आरोप कि परीक्कुट्टी से उधार में लिये पैसे वापस करने में चेंपनकुंजु को चक्की ने दृढ़तापूर्वक प्रेरित नहीं किया, उपन्यासकार के दर्शन से मेल नहीं खाता है। चक्की एक साधारण मछुआरिन है। कष्टों एवं विवशता में रहने वाली। पति के इस लोभ में कि उधार का पैसा ही क्यों नहीं, आज सुख मनाएँगे, चक्की फँस गयी, यह उपन्यासकार की आवश्यकता थी कि चेंपनकुंज्जु और चक्की को वैसा ही करना है। उधार वापस किया गया, जाल एवं नाव अपने बने, जीवन की सुख–सुविधाएँ इच्छानुसार प्राप्त हुई–इस रीति में चेंपनकुंजु के जीवित रहने की कथा कही जाए तो उपन्यास बन सकता है, लेकिन वह उपन्यास चेम्मीन नहीं होगा। साधारण रीति से हटकर रहने वाले कथापात्रों के योग से असाधारण कथा जन्म लेती है।

अरय (मछुआरिन) लड़की की चरित्र–शुद्धि पर समाज टिकता है–यही मिथक उपन्यास का मेरुदण्ड है। वही उपन्यास की शक्ति है। उस मिथक में करुतम्मा के प्रेम संबन्ध को पापकर्म बनाने की शक्ति है। समाज को संपूर्ण रूप से नष्ट करने की शक्ति रखने वाले पाप के स्थान पर उसने मृत्यु को स्वीकार्य माना। लेकिन अन्त में प्रेम की जीत होती है। सागर तट पर पुरातनकाल में कभी घटित एक प्रेम कथा पीढ़ियों के बाद मिथक बन गयी। उसको सनातन जीवन–तत्व के रूप में प्रतिष्ठापित करने के लिए तकषि ने कथा नहीं बनायी। अपने उपन्यास में तकषि ने मानव की दशाओं का चित्रण किया है। कोई मिथ या सामाजिक आचार–विचार कभी प्रेम–संबन्धों, या अनाथों के जन्म या आत्महत्याओं को समाप्त नहीं कर सकता। चेम्मीन के द्वारा तकषि ने उसकी अभिव्यक्ति की है। प्रकृति के और उसके अंशमात्र मनुष्य प्रकृति के अर्थ संधान करने वाले मनुष्य द्वारा निकाले गये कुछ समाधान ही मिथक हैं। उन्हें मनुष्यातीत अर्थसीमा या मान्यता नहीं है। चेम्मीन उपन्यास इस का उदाहरण है। मनुष्य मन की वासनाओं को रोकने की शक्ति किसी भी मिथक को तब तक प्राप्त नहीं होगी, जब तक मनुष्य रहता है। अन्य जीव–जन्तुओं की तरह मनुष्य की भी सबसे प्रबल शक्ति सहज चेतना है। जीव–जन्तु वर्ग के अस्तित्व की शक्ति भी वही है। जाति–धर्म आदि विघटनकारी तत्वों के अस्तित्व का भी वह निराकरण करती हैं। चेम्मीन की उदात्तता भी वही है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि मानव–सत्ता का अत्युदार संदेश चेम्मीन सुनाता है। कथा के नायक और नायिका अर्थात् तकषि नामक उपन्यासकार एवं मानव, जान देकर भी मनुष्यता की रक्षा करते हैं।

5.9 सारांश

यह खंड मलयालम उपन्यासकार तकषि के उत्कृष्ट उपन्यास चेम्मीन पर आधारित है। उपन्यासकार ने इस खंड में सामाजिक विषमताओं के साथ समुद्र तट के आस-पास रहने वाले मछुआरों की जीवन पद्धति को विभिन्न दृष्टिकोण से उभारने का प्रयास किया है।

चेम्मीन उपन्यास के पात्रों विशेष रूप से करुतमा, परिक्कुट्टी चेम्पनकुंजु के मानसिक व्यथाओं को उभारने का प्रयास किया गया है। इसमें अध्ययन के बाद आपको यह अनुभव होगा कि यह वर्ग संघर्ष से वैयक्तिक जीवन की ओर का परिवर्तन है। कुछ लेखकों का यह मत है कि उनका आपसी संबंध एक नदी के समान है जिसमें एक ओर बाह्य धारा प्रवाह और दूसरी ओर अन्तर्धारा प्रवाहित है।

चेम्मीन में नारी चरित्रों का विश्लेषण अनेक दृष्टियों के साथ किया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि तकषि की नारियाँ गुलाम नहीं है, बल्कि स्वतंत्र रूप से जीवन जीती हैं। यौन आसक्ति को तकषि नारीत्व के आधारभूत भावों में से एक के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

उपन्यास की भाषा शैली में सीमित शब्दों में अनेक महत्वपूर्ण बातों एवं कथाओं को कहने का यह कौशल मलयालम के अधिक लेखकों में नहीं है। भाषाविद् भी उनकी ललित एवं सहज शैली को अद्वितीय मानते हैं। तकषि की प्रेरक भक्ति मैक्सिम गोर्की की रचनाएँ हैं।

चेम्मीन पर अनेक आरोप भी लगाए गए हैं, जिसका उत्तर उपन्यासकार ने बड़ी ही दृढ़ता के साथ दिया है। चेम्मीन में त्रिकोण प्रेम को बड़े ही रोचक एवं मोहक रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसमें यह बताने का प्रयास किया गया है कि जाति धर्म के आचारों के अधीन होकर उसका विरोध करने में अशक्त होने वाले प्रेमी-प्रेमिकाओं के वैवाहिक जीवन की स्थिति दयनीय होती है।

अंत में यह बताने का प्रयास किया गया है कि अरय (मछुआरिन) लड़की के शुद्ध चरित्र पर ही समाज टिकता है। यही मिथक उपन्यास का मेरुदण्ड है। यही उपन्यास की शक्ति है। यह माना गया है कि प्रेम संबंध को पापकर्म बनाने की शक्ति है। इसके बावजूद प्रेम की जीत होती है।

5.10 प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 500 शब्दों में दीजिए।

1) खंड के आधार पर चेम्मीन उपन्यासों का विश्लेषण कीजिए।

2) 'चेम्मीन' अन्य उपन्यासों की तुलना में उपन्यासकार की उत्कृष्ट कृति है, सोदाहरण समझाइए।

3) निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर लगभग 250 शब्दों में दीजिए।

   1) करुतम्मा के प्यार में समर्पण भाव की चर्चा कीजिए।

   2) रुमानी प्रेम कथा क्या है, समझाइए।

   3) चेंपन कुंजु का पतन, लालची का सहज पतन है। खंड के आधार पर स्पष्ट कीजिए।

   4) चेम्मीन की भाषा शैली पर प्रकाश डालिए।

खंड

2

'संस्कार'

इकाई 6
अनन्तमूर्ति का लेखकीय परिवेश 5

इकाई 7
'संस्कार' की सामाजिक चेतना 16

इकाई 8
'संस्कार' की पात्र योजना 26

इकाई 9
'संस्कार' : एक मूल्यांकन 38

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-20/17, कुतुब एन्क्लेव,
फेज़-1, गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. असगर वजाहत
जामिया मिलिया इस्लामिया
नई दिल्ली

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय परिसर,
मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रो. ललिताम्बा
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय
इंदौर

संकाय सदस्य
प्रो. वी. रा. जगन्नाथन
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. विमल खांडेकर
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक
श्री रंजन कुमार सिंह
नई दिल्ली

इकाई संख्या
6, 7, 8 एवं 9

खंड संपादक
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग
इं.गां.रा.मु.वि.,
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक
प्रो० वी रा. जगन्नाथन
मानविकी विद्यापीठ
इं.गां.रा.मु.वि., नई दिल्ली

सामग्री निर्माण सहयोग

मुद्रण
श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

फरवरी 2004 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2003

ISBN-81- 266-0714-9

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

MAHI-09/66

खंड परिचय

एम. ए. हिन्दी (द्वितीय वर्ष) के पांठ्यक्रम-16 'भारतीय उपन्यास' का दूसरा खंड आपके समक्ष अध्ययन के लिए प्रस्तुत है। यह खंड कन्नड़ के साहित्यकार यू.आर. अनन्तमूर्ति के विशिष्ट उपन्यास 'संस्कार' पर आधारित है। इस उपन्यास का अनुवाद अंग्रेजी एवं हिन्दी के अतिरिक्त भारतीय भाषाओं यथा मलयालम, बंगला, मराठी तथा फ्रेंच, रूसी, जर्मन, बुल्गेरियाई, स्पेनिश जैसी विदेशी भाषाओं में हो चुका है। यह कन्नड़ भाषा का बहुचर्चित उपन्यास है। इस उपन्यास के लेखक डा. यू. आर. अनन्तमूर्ति को ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया है। उन्होंने उपन्यास के अतिरिक्त नाटक, कहानियों एवं कविताओं की भी रचना की है। कन्नड़ साहित्य के काव्य आंदोलन में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। उनके उपन्यास 'संस्कार' पर कन्नड़ भाषा में फ़िल्म का निर्माण किया जा चुका है।

प्रस्तुत खंड में चार इकाइयाँ हैं। इन चारों इकाइयों में हम डॉ. अनन्तमूर्ति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर चर्चा करने के साथ-साथ उनके उपन्यास 'संस्कार' संवेदना और शिल्प पर विचार करेंगे।

इस खंड की पहली इकाई, इकाई-6 'अनन्तमूर्ति का लेखकीय परिवेश' है। इस इकाई में हम अनन्तमूर्ति जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की चर्चा करने के साथ-साथ कन्नड़ साहित्य की परंपरा में अनन्तमूर्ति के स्थान और महत्व पर भी विचार करेंगे।

इकाई-7 'संस्कार' की सामाजिक चेतना' है। इकाई में संस्कार के शिल्प पक्ष पर चर्चा की गई है। साहित्य समाज का दर्पण होता है। अत: सामाजिक पृष्ठभूमि को जाने बिना किसी भी रचना का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इस इकाई में हमने संस्कार के सामाजिक परिवेश पर विस्तार से विचार किया है।

इकाई-8 'संस्कार' की पात्र योजना' है। इस इकाई में 'संस्कार' के केन्द्रीय चरित्र तथा अन्य विशिष्ट पात्रों की विशेषताओं एवं उनके चरित्र के विविध पक्षों पर चर्चा की गई है।

इकाई-9 'संस्कार' : एक मूल्यांकन' है। 'संस्कार' का कन्नड़ साहित्य के साथ-साथ आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी महत्वपूर्ण स्थान है। इस उपन्यास पर कन्नड़ भाषी विद्वानों के साथ ही दक्षिण भारतीय भाषाभाषी परिधि के बाहर के अन्य विशिष्ट विद्वानों ने भी चिन्तन-विश्लेषण किया। इस इकाई में हम उपन्यास के संदर्भ में कुछ विशिष्ट विद्वानों के विचारों की चर्चा करेंगे।

प्रत्येक इकाई के अन्त में अभ्यास के लिए कुछ प्रश्न दिए गए हैं। आप उनके उत्तर लिखने का प्रयास करें। इकाइयों का अध्ययन करने से पहले हमारी आपसे अपेक्षा है कि आप 'संस्कार' का हिन्दी अनुवाद अवश्य पढ़ें। तभी आप इस उपन्यास के महत्वपूर्ण पक्षों को समझ सकेंगे। जहाँ भी अध्ययन में कठिनाई हो, वहाँ आप अपने परामर्शदाता (काउंसलर) की सहायता ले सकते हैं।

इकाई 6 अनन्तमूर्ति का लेखकीय परिवेश

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 डॉ. अनन्तमूर्ति का व्यक्तित्व

- 6.2.1 पारिवारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि
- 6.2.2 आधुनिकतावादी बनाम परम्परावादी

6.3 कन्नड़ साहित्य की परम्परा और अनन्तमूर्ति

- 6.3.1 कन्नड़ का आदि साहित्य
- 6.3.2 आधुनिक कन्नड़ साहित्य
- 6.3.3 नव्य आंदोलन और अनन्तमूर्ति के उपन्यास

6.4 संस्कार का रचना परिवेश

6.5 सारांश

6.6 प्रश्न

6.0 उद्देश्य

स्नातकोत्तर हिन्दी के पाठ्यक्रम में भारतीय भाषाओं का साहित्य शामिल किया गया है। भारतीय भाषाओं के उपन्यासों के अंतर्गत यू. आर. अनन्तमूर्ति रचित कन्नड़ उपन्यास संस्कार को भी इस पाठ्यक्रम का अंग बनाया है। प्रस्तुत इकाई में हम आपको संस्कार के लेखक और उसके लेखकीय परिवेश का परिचय देंगे, जिसके आलोक में उपयुक्त को समझने में आसानी होगी। लेखक के परिचय के अलावा इस इकाई में कन्नड़ साहित्य का भी संक्षिप्त परिचय हम दे रहे हैं। इसके कन्नड़ साहित्य में अनन्तमूर्ति के महत्व को रेखांकित करने में आपको मदद मिलेगी।

6.1 प्रस्तावना

किसी भी उपन्यास को समझने के लिए उसके रचयिता को जानना समझना आवश्यक हो जाता है। उसी तरह किसी रचनाकार या लेखक को जानना हो तो उसके परिवेश का ज्ञान होना भी उतना ही जरूरी है। किसी भी व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके आसपास के माहौल से गढ़ा गया होता है। कोई भी लेखक इस नियम का अपवाद नहीं। इसलिए संस्कार को पढ़ने समझने से पूर्व यह समीचीन होगा कि हम उसके लेखक डॉ. यू. आर. अनन्तमूर्ति के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर नजर दौड़ाएँ और साथ ही साथ कन्नड़ साहित्य की सुदीर्घ परम्परा से भी परिचित हों।

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता डॉ. उडुपी राजगोपालाचार्य अनन्तमूर्ति का नाम सिर्फ कन्नड़ साहित्य का ही नहीं, बल्कि आधुनिक भारतीय साहित्य का भी सशक्त हस्ताक्षर है। लेखक तो वह हैं ही समीक्षक, अध्यापक और चिंतक भी वह हैं। उपन्यास के अलावा डॉ. अनन्तमूर्ति ने कविताएँ, कहानियाँ और नाटकों की रचना भी की है। कन्नड़ साहित्य के

नव्य आंदोलन के सशक्त स्तंभों में उनकी गिनती की जाती है। विश्वविद्यालय से लेकर संस्थानों तक में उन्होंने अपनी प्रशासकीय क्षमता का भी योगदान किया। देश विदेश के अनेक विश्वविद्यालय में वह विजिटिंग प्रोफ़ेसर के तौर पर जाते रहे हैं। प्रस्तुत इकाई में हम डॉ. अनन्तमूर्ति के व्यक्तित्व एवं उनकी पारिवारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि पर चर्चा करने के साथ-साथ कन्नड़ की साहित्यिक परंपरा में उनके स्थान का भी परिचय देंगे।

6.2 डॉ. अनन्तमूर्ति का व्यक्तित्व

सन् 1932 में कर्नाटक के शिमोगा जिले के तहत मेलिगा नामक गाँव में जन्मे डॉ. अनन्तमूर्ति कुल संस्कार से पारंपरिक ब्राह्मण होते हुए भी अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व में पूरी तरह आधुनिकतावादी हैं।

शैशवकाल में ही संस्कृत में दीक्षा लेने के बावजूद उन्होंने अपनी आगे की पढ़ाई के लिए अंग्रेज़ी साहित्य को अपना विषय चुना। मैसूर विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में स्नातकोत्तर करने के बाद वह राष्ट्रकुल फ़ेलोशिप पर बरमिंघम विश्वविद्यालय गए, जहाँ उन्होंने प्रख्यात मार्क्सवादी आलोचक माल्कम ब्रैडबरी तथा रिचर्ड हॉगार्थ के मार्गदर्शन में 'इंगलैंड में 1930 के दशक में लिखे गए राजनैतिक उपन्यासों' पर अपना शोधकार्य पूरा किया।

डॉ. अनन्तमूर्ति ने अपनी आजीविका मैसूर विश्वविद्यालय में शिक्षक के तौर पर शुरू की और फिर उसी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बनाए गए। बाद में उन्होंने केरल के कोट्टायम स्थित महात्मा गाँधी विश्वविद्यालय के कुलपति, दिल्ली स्थित नेशनल बुक ट्रस्ट तथा साहित्य अकादमी जैसे महत्वपूर्ण राष्ट्रीय संस्थानों के अध्यक्ष पद पर रहते हुए भी साहित्य और शिक्षण के क्षेत्रों में अपना विशेष योगदान किया। इस बीच उन्होंने अपनी सेवाओं का लाभ इंग्लैंड तथा अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों को भी दिया, जहाँ उन्हें विज़िटिंग प्रोफ़ेसर के तौर पर बुलाया जाता रहा।

हालाँकि डॉ. अनन्तमूर्ति अपने पहले कहानी संग्रह 'प्रश्न' से ही चर्चा में आ चुके थे, पर उन्हें विशेष ख्याति मिली 'संस्कार' से। मूल रूप से कन्नड़ में लिखे गए इस युगांतरकारी उपन्यास को डा. यू.आर. अनन्तमूर्ति ने फेलोशिप के दौरान इंगलैंड में रहते हुए ही पूरा किया था। इसके बाद उनकी कलम ने भारतीय साहित्य को भारतीपुर (1973), अवस्था (1978), भाव (1997) और दिव्य (2001) जैसी महत्वपूर्ण औपन्यासिक कृतियाँ भी भेंट में दीं। संस्कार का अनुवाद तो अंग्रेजी एवं हिन्दी के अलावा मलयालम, बंगला, मराठी, फ्रेंच, रूसी, जर्मन, बुलगेरियाई और स्पेनिश में हो चुका है। भारतीपुर और अवस्था भी हिन्दी में उपलब्ध हैं। उनकी कहानियाँ 'प्रश्न' (1962) के अलावा 'इंदेन्दु मुगियाद कथा' (1955), 'मौनी' (1972) 'आकाश मट्टु बेक्कू' (1981), 'इराडु दक्षकाड कथेगलु' (1981) तथा 'सूर्यणा कुडुरे' (1995) में संग्रहीत हैं। उनकी कहानियों के हिन्दी अनुवाद 'घटश्राद्ध' तथा 'आकाश' और बिल्ली में संग्रहीत हैं। उन्होंने 'हदीनायडू पदयालगू' नामक नाटक भी लिखा है। इसके साथ ही उन्होंने कविताएँ भी लिखी हैं, जो 'बावली' (1963), '15 पद्यगलु' (1970), 'अज्जन हेगल मेलिना सुक्कुगलु' (1989) और 'मिथुन' (1992) में संग्रहीत हैं। महत्वपूर्ण साहित्यकार होने के साथ ही साथ डॉ. मूर्ति प्रभावशाली आलोचक भी हैं, जिन्होंने साहित्यिक समीक्षा पर अपनी खास छाप छोड़ी है।

उनका उपन्यास 'संस्कार' एक और मायने में महत्वपूर्ण है। पट्टाभि रामारेड्डी ने इस उपन्यास पर कन्नड़ में ही फ़िल्म बनाई। उन्होंने ही इसका निर्देशन भी किया था और पी. लंकेश, गिरीश कर्नाड तथा स्नेहलता रेड्डी जैसे मँजे हुए कलाकारों ने इसमें शीर्ष

भूमिका निभाई थी। यह फ़िल्म सिर्फ़ विवादास्पद और चर्चित ही नहीं हुई, बल्कि उसने भारत में नई धारा के सिनेमा आंदोलन का सूत्रपात भी किया। इसके बाद डॉ. अनन्तमूर्ति के उपन्यास 'अवस्था' और कहानी 'घटश्राद्ध' को भी रुपहले पर्दे पर उतारा गया। फिल्म 'संस्कार' और घटश्राद्ध' दोनों के लिए ही उन्हें सर्वश्रेष्ठ कथा का पुरस्कार प्राप्त हुआ है। डॉ. अनन्तमूर्ति की साहित्यिक उपलब्धियों को देखते हुए उन्हें 1998 में पद्म भूषण से अलंकृत भी किया जा चुका है।

वस्तुत: डॉ. अनन्तमूर्ति का लेखन परस्पर विरोधी समझी जाने वाली परंपरा एवं आधुनिकता के अन्तर्संबंधों की व्याख्या करता है। चाहे वह उनका उपन्यास 'संस्कार' हो अथवा उनकी कहानी 'घटश्राद्ध' इन सभी में भारतीय समाज और खास कर, स्वातंत्र्योत्तर युग की भारतीय पीढ़ी को मथनेवाले तनावों का बेहद संवेदनशील चित्रण हुआ है। संस्कार में तो ब्राह्मणवाद, अंधविश्वासों और रूढ़िगत संस्कारों पर इतनी पैनी चोट है कि सनातन मान्यताओं के समर्थकों के लिए उसे सह पाना कहीं कहीं मुश्किल ही रहता है। दरअसल ब्राह्मण कुल में पले बढ़े और इंगलैंड में पढ़े होने की वजह से ही डॉ. मूर्ति में एक तरफ रूढ़िवादी ढकोसलों की भरपूर समझ है तो दूसरी ओर उसे उकेरने की तीखी दृष्टि भी । अंग्रेजी का अध्यापक और कन्नड़ का लेखक होने की वजह से ही उनकी रचनाओं के ग्रामीण परिवेश को वैज्ञानिक आधार मिल सका है और वे संवृद्ध हुई हैं।

6.2.1 पारिवारिक एवं सामाजिक पृष्ठभूमि

किसी भी मनुष्य के व्यक्तित्व पर उसके बचपन की शिक्षा दीक्षा और पारिवारिक संस्कारों का गहरा प्रभाव पड़ता है और यह प्रभाव किसी लेखक के कृतित्व में प्रकट हो, यह सहज ही है। डॉ. अनन्तमूर्ति इसके अपवाद नहीं हैं। स्वयं उन्होंने अपने विषय में लिखा है कि "अपने लेखन के माध्यम से मैं हमेशा ही अपने बचपन से तादात्म्य कायम करने की कोशिश करता रहा हूँ।'' और फिर वे खुद से ही सवाल करते हैं, "लेकिन जब मैं उन यादों को शब्दों में फिर से कैद करने की कोशिश करता हूँ तो क्या वे बीते हुए उन दिनों को हौले से बदल नहीं देतीं?''

यह सच है कि यादें दूर तक आदमी का पीछा करती हैं, पर साहित्य और साहित्यकार का संबंध 'क्या हुआ' से न होकर 'क्या हो सकता था' से होता है और यही वजह है कि साहित्य में उकेरे जाकर वे यादें व्यक्तिगत अनुभवों के बनिस्पत सार्वभौमिक अनुभूति का रूप ग्रहण कर लेती हैं। अनन्तमूर्ति के उपन्यासों या कहानियों के बहुतेरे चरित्र उनके बचपन से लेकर अब तक की जिन्दगी में आने वाले जीते जागते लोग हैं। कथा लेखन उनके लिए यादों की दरिया में गोते लगाने के समान है। खुद डॉ. अनन्तमूर्ति के शब्दों में, कहानी कहना अपनी मनमर्जी से काल में आगे और पीछे हिंडोले लेने की तरह है और इस अबाध गति के माध्यम से काल पर विजय पाने तथा उन तमाम चीज़ों को सँजोने का उपक्रम है, जोकि अन्यथा सदा के लिए नष्ट हो गई होतीं।

वैदिक ब्राह्मण परिवार में जन्मे उडुपी राजगोपालाचार्य का दिन अग्रहार में जप के साथ आरंभ होता था। इसके बाद वह संस्कृत पढ़ते थे। लगभग चार मील पैदल चलकर वह स्कूल पहुँचते थे। उन दिनों को याद करते हुए डॉ. अनन्तमूर्ति ने लिखा है, उपनयन संस्कार के बाद मैं एक धर्मपरायण ब्राह्मण बालक था या यूँ कहें कि वैसा होने की कोशिश करता था। उन दिनों मेरे आदर्श एक ब्रह्मचारी थे, जोकि आश्रम में रहते थे और मुझे संस्कृत पढ़ाते थे। उसी उम्र में उन्हें विभिन्न विषयों पर अनेक ज्ञानियों के विचार जानने सुनने को भी मिले। इन सब ने उनके बौद्धिक विकास में महती भूमिका निभाई और विभिन्न शताब्दियों की विश्व दृष्टि से उनका साक्षात्कार कराया।

डॉ. अनन्तमूर्ति ने अपने बचपन के विरोधाभासों को उजागर करते हुए कहा है, जब मैं पीछे मुड़कर देखता हूँ तो मुझे वह दुनिया बड़ी अजीब लगती है, जिसमें कि मैं रहता था। मेरी सुबह वैदिक रीति से शुरू होती थी। दिन में स्कूल के समय हमारे एक शिक्षक पुराण की कहानियों की सच्चाई पर सवाल उठाया करते थे, कि भागवत् गीता का लंबा उपदेश युद्धभूमि में भला कैसे दिया जा सका? स्कूल से अग्रहार वापस लौटते समय, झकझक सफेद कपड़े पहने तथा सफाचट दाढ़ी मूँछ वाला एक व्यक्ति हम बच्चों को रोककर उनसे बनार्ड शॉ की बातें किया करता था। वैसे तो वह अकसर ही वहाँ के डाक्टर की दुकान में मटरगश्ती कर रहा होता था, पर जब वह मटरगश्ती न कर रहा होता तो पढ़ रहा होता या फिर डायनमो से चलने वाले रेडियो पर बीबीसी की त्रुटिहीन अँग्रेजी सुन रहा होता था। खुद उसकी अंग्रेजी पूरी तरह मुहावरेदार थी। बहुत सालों बाद जब मैं ऊँची शिक्षा के लिए इंगलैंड जाने को हुआ तो मेरे उन आरंभिक दिनों में मेरा मार्गदर्शन करने वाले इस व्यक्ति ने मुझसे पूछा कि मैं विमान पर कब आरूढ़ हो रहा हूँ क्योंकि उसकी नज़र में यह पूछना सही नहीं था कि तुम कब उड़ रहे हो।

डॉ. अनन्तमूर्ति आगे लिखते हैं कि "इस तरह मैं पश्चिमी जगत की शताब्दियों के बराबर भ्रमण महज एक दिन में कर लेता था। जब कभी कोई आर्यसमाजी समाज सुधारक हमारे अग्रहार में आते और हमारे संस्कृत पंडितों को चुनौती देते हुए मानव विकास के सिद्धान्त के पक्ष में अपना तर्क देते। कभी यह सवाल उठता कि धरती गोल है या समतल? कभी यह सवाल उठाया जाता कि क्या कोई ब्राह्मण जाति प्रथा की प्रशस्ति कर सकता है? मैं गैलेलियो का समकालीन हो सकता था!"

अपने पिता का प्रभाव भी उन पर कम नहीं था। पिता के बारे में उन्होंने लिखा है, "उन प्रारंभिक वर्षों में मेरे पिता ने भी मेरी सोच को प्रभावित किया। कभी तो उन पर धार्मिक पूजापाठ का दौरा चढ़ता और कभी उनमें घूमने की लालसा बलवती हो जाती। जमीन जायदाद के मामलों में ज़मींदारों की ओर से वे कोर्ट कचहरी के चक्कर काटा करते तो गांधीजी की पत्रिका हरिजन के अंक लाकर अग्रहार के लोगों में बाँचा भी करते थे। मेरे पिता इन विरोधाभासों से भरे पड़े थे। वह स्वयंशिक्षित थे और पुरोहिताई का पेशा छोड़कर उन्होंने निजी तौर पर अनेक परीक्षाएँ उत्तीर्ण की, खुद से ही खगोलशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र और गणित की पढ़ाई की और फिर जीवन यापन के लिए कानून की पेचीदगियों में जा फँसे।... पूरब और पश्चिम का टकराव उनके स्वरूप में भी दिखाई देता था। कभी तो वह सिर पर बाल रख लिया करते और कभी सिर मुँड़ा लेते थे। अन्त में उन्होंने बीच का रास्ता अपनाते हुए मुँड़े हुए सिर के बीच में बाल का गुच्छ रख लिया।"

पूरब और पश्चिम के इस द्वंद्व में फँसे भारतीय मानस को स्पष्ट करते हुए अनन्तमूर्ति, गाँधीजी के जीवन का एक प्रसंग उद्धत करते हैं, "यह घटना दक्षिण अफ्रीका से गाँधीजी के हिन्दुस्तान वापसी के तुरन्त बाद की है। हिन्दुस्तान के गरीबों की सेवा के रास्ते तलाशने के ख्याल से वह गाँव देहात के भ्रमण पर निकले हुए थे। इसी बीच एक पारम्परिक पंडित ने उनसे मुलाकात की और उनके लिबास को निशाना बनाते हुए कहा कि क्या संभावित महात्मा को पूरी तरह भारतीय नहीं दिखना चाहिए? क्या उन्हें बदन में यज्ञोपवीत और सिर पर चोटी नहीं धारण करने चाहिए? गाँधीजी ने स्वीकार किया कि अंग्रेज़ी ढंग से कटे हुए उनके बाल पश्चिम की शर्मनाक नकल हैं कि कहीं वह उनकी नज़रों में जोकर न लगें, पर सिर्फ़ ऊँची जातियों के लिए स्वीकृत यज्ञोपवीत वह क्यों धारण करें? क्या नीची जातियों के असंख्य गरीब देशवासी उसे धारण किए बगैर ही सहज और पवित्र जीवन नहीं गुज़ारते हैं?... गाँधीजी लगातार इस तरह के जो चुनाव करते रहे, उससे मुझे पूरब और

पश्चिम के प्रति उनके दृष्टिकोण को लेकर हैरत होती रही है। सही मायनों में वह तह तक पहुँचे हुए आलोचक थे।''

स्वयं अपने बारे में अनन्तमूर्ति कहते हैं: लेखक के तौर पर मैं महसूस करता हूँ कि मैं भूतकाल में रह रहा हूँ। बहुत झिझक के साथ मैं अपने शैशव के ग्रामीण परिवेश से अर्द्ध शहरी परिवेश की तरफ अपने दूसरे उपन्यास 'भारतीपुर' में और फिर 'अवस्था' में शहरी के साथ-साथ ग्रामीण परिवेश की तरफ बढ़ा हूँ। यह मेरी कहानियों के लिए भी सच है। मुझे लगता है कि मैं विशुद्ध शहरी कथानक को आसानी से सँभाल भी नहीं सकता हूँ। क्या यह इसलिए है कि मैं अब भी अपनी पिछली जिन्दगी के भार से लदा हुआ हूँ? या फिर अपने भाषिक माध्यम कन्नड़ की वजह से, जोकि ग्रामीण परिवेश तथा मेरे बचपन दोनों में ही आज भी पूरी तरह जीवित है? और ये दोनों के दोनों ही अंग्रेज़ी भाषा के असर से अछूते रहे हैं। पेशेवर तौर पर मैं अंग्रेज़ी का अध्यापक हूँ और इस कारण मुझ पर हर समय खुद को अंग्रेज़ी में अभिव्यक्त करने का दबाव रहा है। इसके परिणामस्वरूप संभवत: व्यक्तित्व का विभाजन हो रहता है, जहाँ भावात्मक रूप से तो मैं कन्नड़ हूँ और बौद्धिक रूप से अंग्रेज़।

6.2.2 आधुनिकतावादी बनाम परम्परावादी

कन्नड़ साहित्य की सुदीर्घ परम्परा को आधुनिकता का जामा पहनाने वालों में डॉ. अनन्तमूर्ति की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। उन्होंने रामचन्द्र शर्मा, पी. लंकेश, चन्द्रशेखर खम्बार आदि के साथ मिलकर नव्य साहित्य की श्रीवृद्धि की। डॉ. यू. आर. अनन्तमूर्ति के लेखकीय परिवेश को जानने समझने के लिए आवश्यक है कि हम कन्नड़ साहित्य के इतिहास पर दृष्टि डालें, जोकि नव्य साहित्य आंदोलन की पृष्ठभूमि में रही है।

स्वयं डॉ. अनन्तमूर्ति यह स्वीकार करते हैं कि "इन चार दशकों के साहित्य में समय की कसौटी पर जो खरा उतरा है, वह किसी न किसी रूप में, एक नए ढंग से, परम्परा से भी जुड़ता गया है।... कालीदास के बिना पम्प कवि कहाँ? और व्यास या वाल्मीकि के बगैर कालिदास कहाँ?'' ज्ञानपीठ पुरस्कार समारोह में उन्होंने जो वक्तव्य दिया, वह परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्संबंधों की सुंदर व्याख्या करता है। उन्होंने कहा, "एक बार किसी बात पर श्रीकृष्ण ने भीम को बुरी तरह डाँट दिया। भीम इतना आहत हुए कि पलट कर जवाब दे बैठे: कृष्ण महाराज, आप तो गहरे पानी पर तैरते नाव हैं। क्या नाव कभी उस पानी की गहराई जान पाती है, जो उसे तैराए रखती है? यह तो आपके प्रति हमारा गहरा अभिमान है जो आपको डूबने से बचाए हुए है।

"मैंने यह दृष्टान्त हमारे एक महान कवि श्री पी.टी. नरसिम्हाचार (पुतिना) से सुना था, जो नब्बे वर्ष के हैं। पुतिना ने यह किस्सा मेरी पीढ़ी के एक लेखक को और शायद मुझे भी हँसी-हँसी में फटकारते हुए सुनाया था, क्योंकि हम लोग अपने आपको नव्य कहा करते थे। यह नया साहित्य हमारे महान पूर्ववर्तियों के लेखन की आलोचना करने वाला था, लेकिन उस समय एक नया रास्ता बनाने के लिए और इस तरह के वर्तमान के दबावों के प्रति सचमुच संवेदनशील होने के लिए यह आवश्यक था। अब मुड़कर देखने पर लगता है कि इन चार दशकों के साहित्य में समय की कसौटी पर जो खरा उतरा है, वह किसी न किसी रूप में, एक नए ढंग से, परम्परा से भी जुड़ता गया है।

इसीलिए मुझे यह दृष्टान्त परम्परा और आधुनिकता के बीच संबंध बताने वाला एक अद्‌भुत रूपक जान पड़ा। हमारे पूर्ववर्ती हमें तिरोए रखते हैं और उन्हीं के अनुग्रह से हम यह भूलने की हिमाकत कर पाते हैं कि उनके निरंतर विद्यमान उत्तोलन के कारण ही समय

सागर पर हम दृश्यमान हैं। इस दृष्टान्त में विशेष सीख यह है कि पूर्ववर्ती लेखकों के लिए भी एक हलकी फुलकी फटकार इसमें निहित है। कालिदास के बिना पम्प कवि कहाँ? और व्यास या वाल्मीकि के बगैर कालिदास कहाँ?

लेकिन यह भी सही है कि अगर आपका अपनी परम्परा से कोई झगड़ा न हो तो वर्तमान में कोई रचनाशीलता नहीं होती। और यहाँ मैं यह भी जोड़ दूँ कि यह झगड़ा खुद अपने आपसे भी होता है। इस तरह हर नई रचना एक प्रस्थान होती है, एक नए जीवन में तिरोधान। और साथ ही, एक समृद्ध वापसी भी, अपने उन पूर्व पुरुषों की ओर, जिन्होंने हमें पिरोए रखा।''

हालाँकि एलियट के समान ही अनन्तमूर्ति के लिए भी परम्परा कोई स्थिर वस्तु नहीं है। वह एलियट के इस कथन को पूरी तरह सही मानते हैं कि परम्परा उससे जुड़ने वाली किसी भी नई तथा मौलिक वस्तु के द्वारा लगातार बदली जा रही है। परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा के इस अन्तर्संबंध को और अधिक स्पष्ट करने के लिए अनन्तमूर्ति दृष्टान्त देते हैं।

"किसी हरिजन के हाथ में पुराना हँसुआ देखकर मैंने उस बारे में जानना चाहा तो उसने कहा-

यह हँसुआ हम अपने परदादा के जमाने से इस्तेमाल करते रहे हैं।

क्या यही हँसुआ? लेकिन क्या तुम्हें इसके लोहे की धार तेज कराने की जरूरत नहीं पड़ी?

हाँ, मैंने इसे बदल दिया।

और मूठ?

ओह, इसे भी बदलना पड़ा क्योंकि यह काफी घिस गया था। यहाँ पर छोटी सी चिड़िया का चित्र भी था। वह भी घिस गया था।

चित्र? किसने बनाया था वह?

जब मेरे पास कोई और काम नहीं होता है तो मैं यह हंसुआ लेकर उस पर चित्र बनाने लगता हूँ। और जब ये चित्र घिस जाते हैं तो मैं हंसुए का मूठ बदल डालता हूँ। और फिर उस पर नए चित्र बनाता हूँ।"

यह दृष्टान्त देने के बाद अनन्तमूर्ति कहते हैं, परम्परा के साथ भी ऐसा ही है। इसी तरह हम उसे जीवित रखते हैं, उसे बढ़ाते जाते हैं।

6.3 कन्नड़ साहित्य की परम्परा और अनन्तमूर्ति

निश्चय ही समाज और परम्परा से कटकर लेखक का कोई अस्तित्व नहीं हो सकता। परम्परा के पोषण के लिए ही नहीं, उससे विद्रोह के लिए भी अतीत को जानना समझना आवश्यक होता है। जहाँ तक कन्नड़ भाषा का प्रश्न है, संभवत: यह संस्कृत, प्राकृत और तमिल के बाद भारत की सबसे प्राचीन भाषा है। साहित्य के क्षेत्र में, नवीं शती में राजा नृपतुंग कृत कविराजमार्ग की रचना के साथ ही कन्नड़ साहित्य के बीच पड़ गए थे। कविराज मार्ग काव्यशास्त्र की प्रारंभिक रचनाओं में एक है, जिसमें काव्य की संरचना और व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

6.3.1 कन्नड़ का आदि साहित्य

इस काव्यशास्त्रीय ग्रंथ को छोड़ दें तो पम्पा को कन्नड़ साहित्य का प्रणेता कहा जा सकता है। दसवीं शती के इस महान कवि ने मूल कन्नड़ की देसी एवं मार्ग परम्पराओं का अनुसरण करते हुए भारत तथा आदिपुराण की रचना की। जैन धर्म के प्रचार प्रसार के उद्देश्य से लिखे गए होने के बावजूद इन महाकाव्यों में जीवन के विविध रूपों का व्यापक प्रतिबिंबन है और अर्से तक ये कृतियाँ, खासकर आदिपुराण, भावी साहित्यकारों के लिए मानक बनी रहीं हैं।

पम्पा के अलावा पोन्ना तथा रन्ना इस युग के महत्वपूर्ण कवि हैं। पोन्ना ने अपने ग्रंथ शांतिपुराण में सोलहवें तीर्थंकर शांतिनाथ के जीवन एवं दर्शन को रखा है तो रन्ना ने अपनी कृति अजित तीर्थंकर पुराण में दूसरे तीर्थंकर अजितस्वामी की जीवनी दर्शायी है। रन्ना की एक अन्य कृति गदायुद्ध गदाधारी भीम को लेकर है। इस ग्रंथ का महत्व खासकर इस बात में भी है कि इसमें सिंहावलोकन कर्म अथवा फ्लैश बैक तकनीक का प्रभावी उपयोग किया गया है। इस तकनीक को बाद के लेखकों ने न केवल अपनाया, बल्कि उसे और प्रांजल बनाया है। आधुनिक फ़िल्मों तथा रेडियो नाटकों में भी यह अब एक स्थापित तकनीक है। स्वयं अनन्तमूर्ति के उपन्यास संस्कार में तो इसका बेहद सुंदर उपयोग हुआ ही है, उस पर आधारित फ़िल्म में भी यह प्रभावी ढंग से सामने आया है।

हालाँकि 13वीं शती से पूर्व काव्यग्रंथों में सामान्य जनों को नायक के तौर पर प्रस्तुत नहीं किया गया। 13वीं शताब्दी के क्रांतिधर्मा कवि हरिहर ने पहले पहल आमजन को अपने काव्य में स्थान दिया। कन्नड़ साहित्येतिहास की तमाम शास्त्रीय परम्पराओं को तोड़ते हुए उन्होंने शिकारी, भिखारी, कुम्हार, लोहार, मोची, मछुआरे जैसे निम्नवर्गीय चरित्रों को अपने गीतों का नायक बनाया। उनका यह प्रयास अपने युग से आगे का तो था ही, बेहद साहसिक भी था। सच कहा जाए तो उनके काव्य 'मदरसा चन्नाहेना रागाले' ने कन्नड़ साहित्य में यथार्थवादी काव्य परम्परा के बीज बोए, जिसका पुष्पित स्वरूप आधुनिक औपन्यासिक कृतियों 'संस्कार' की चन्दरी अथवा 'भारतीपुर' की कावेरी के चरित्रों में देखा जा सकता है।

6.3.2 आधुनिक कन्नड़ साहित्य

इसके बाद इक्का दुक्का कोशिशों को छोड़ दें तो सदियों तक साहित्याकाश कुम्हलाया रहा। 19वीं शताब्दी में आकर साहित्य के प्रति नई अभिरुचि पैदा हुई। यह वह समय था जबकि भारतीय साहित्य पर अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अनुभव किया जाने लगा था और कन्नड़ साहित्यकार इस प्रभाव से अछूते नहीं थे। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह कन्नड़ का भी अंग्रेजी से जो टकराव हुआ, उसने राष्ट्रीय चेतना को जन्म दिया और कन्नड़ को उसका गौरवपूर्ण स्थान दिलाने के लिए संघर्ष आरंभ हो गया। अंग्रेज़ी के सुव्यवस्थित प्रलेखन से प्रेरित होकर कन्नड़ में भी शब्दकोश तथा व्याकरण ग्रंथों की रचना हुई, हालांकि उनका आधार भाषिक आदिग्रंथ बनाए गए। इस काल में संस्कृत ग्रंथों का ही नहीं, बल्कि अंग्रेजी कृतियों का भी अनुवाद कन्नड़ भाषा में हुआ।

इसी बीच पाँजे मंगेश राय ने कन्नड़ में पहली कहानी की रचना की। इस समय के अन्य साहित्यकारों में मुदन्ना, पुट्टन्ना तथा गुलवादी वेंकट राव के नाम प्रमुख हैं। वेंकट राव कृत इन्दिरा को कन्नड़ भाषा का प्रथम सामाजिक उपन्यास होने का गौरव प्राप्त है। 1890 में कर्नाटक विद्यावर्द्धक संघ और 1915 में कन्नड़ साहित्य परिषद की स्थापना हुई, जिससे

कन्नड़ के साहित्यकार एक मंच पर तो आए ही, उनके बीच वैचारिक आदान प्रदान भी आरंभ हो सका।

आधुनिक काल में कन्नड़ साहित्य नवोदय, प्रगतिशील, नव्य, बन्ध तथा दलित आदि धाराओं में विस्तार पा सका। भारतीय भाषाओं में जो नवजागरण का काल था, वही कन्नड़ में नवोदय के रूप में प्रतिष्ठापित हुआ। नवोदय युग गद्य और पद्य, दोनों विधाओं के लिए ही सर्वाधिक उर्वर सिद्ध हुआ। इस युग को एक तरफ जहाँ मास्ति वेंकटेश आय्यंगर जैसे शीर्षस्थ लेखक ने अपने कथा साहित्य से समृद्ध किया, वहीं डी.आर. बेन्द्रे जैसे मूर्धन्य कवि ने उसे अपनी रचनाओं से सँवारा। कन्नड़ भाषा एवं साहित्य में पुनर्जागरण का घोष करने वाली पीढ़ी के आधार स्तंभ मास्ति वेंकटेश कन्नड़ साहित्य के जनक समझे जाते हैं तो कन्नड़ में गर्व का भाव फूँकने वाले बेन्द्रे आधुनिक कन्नड़ काव्य के अगुआ। चाहे वह राष्ट्रीय चेतना हो, परिवर्तन की कामना हो, भारतीय संस्कृति के प्रति आकर्षण हो, परम्परा की शक्ति हो, रहस्यमयता का आवरण हो या फिर वैयक्तिता का भाव हो, नवोदय धारा के ये तमाम गुण बेन्द्रे के काव्य में देखे जा सकते हैं। जैसा कि स्वाभाविक था, स्वतंत्रता संग्राम ने प्रदेश के समृद्ध इतिहास के प्रति लोगों का रुझान बढ़ाया और नवोदय युग में चन्द ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे गए। मास्ति वेंकटेश आय्यंगर का चक्कवीर राजेन्द्र और चन्नबासव नायक इसी कोटि के सुप्रसिद्ध उपन्यास हैं।

मास्ति और बेन्द्रे के अलावा बी.एम. श्रीकान्तैय्या और के.वी. पुट्टप्पा का अवदान भी नवोदय साहित्य धारा को संवारने में रहा है। दरअसल, 1920 के दशक में अपने सुंदर अनुवादों से श्रीकान्तैय्या ने इस आंदोलन का सूत्रपात किया। इसके बाद बेन्द्रे और पुट्टप्पा ने अपनी रचनाओं से इसे गति दी। इसके बाद ही शिवराम कारंथ, अनन्तमूर्ति, लंकेश और भैरप्पा जैसे प्रभावशाली लेखकों की पंक्ति खड़ी हो गई। गिरीश कर्नाड तथा खम्बार जैसे शीर्षस्थ नाटककारों ने कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि ही नहीं की, उसे विविधता भी दी। इनमें शिवराम कारन्थ का प्रभाव तो खास तौर पर कर्नाटक की सांस्कृतिक चेतना पर बेहद रहा है। सही अर्थों में वह पुनर्जागरण पुरुष कहे जा सकते हैं। अनन्तमूर्ति की तरह उनकी रुचियाँ और उपलब्धियाँ भी महज साहित्य तक सीमित न रह कर शिक्षा, विज्ञान और पर्यावरण तक पसरी हुई हैं। कालजयी उपन्यासकार के रूप में ख्यातिप्राप्त कारन्थ को कनन्ड़ में यथार्थवादी उपन्यास लेखन का सूत्रपात करने का श्रेय दिया जाता है।

अपने व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर कारन्थ के प्रभाव को स्वीकार करते हुए अनन्तमूर्ति ने लिखा है, "मैं अपने अस्तित्व को तभी सार्थक बना सकता था, जबकि मैं अपने चारों तरफ़ घिरी सच्चाई को बेध सकता क्योंकि यह सच्चाई मुझे शेष दुनिया से अलग थलग कर देती थी। मैं बहुत सी पवित्र चीजों से घिरा हुआ था। इसलिए मैं पेड़ के नीचे रखे पत्थर पर गुपचुप ढंग से पेशाब कर देता था, जबकि लोग इस पत्थर की पूजा शक्तिशाली देवता के तौर पर किया करते थे। इस तरह मैं रात के अँधेरे में डर से काँपते हुए खुद को यह साबित कर दिखाता था कि पत्थर सिर्फ पत्थर और महज पत्थर है। मैं उस पवित्र समझे जाने वाले मठ का भी तिरस्कार करने लगा, जहाँ कि मेरे पिता काम करते थे क्योंकि यह मठ गरीब किराएदारों के साथ कानूनी कार्रवाइयों में ही उलझा रहता था। मुझे आदर्श और यथार्थ के बीच का फ़र्क मालूम होने लगा था। इसी समय मैंने अपने महान उपन्यासकारों में एक कारन्थ का 'चोमना डुडी' पढ़ा। यह अपनी जमीन को वापस चाहने वाले अछूत की त्रासद दास्तान है। अब तक मैं जिन रूमानी कहानियों का दीवाना था, वे मुझे बकवास लगने लगीं। मैंने जाना कि अगर अपने आस पास दिखने वाले यथार्थ को इतनी सुन्दर कहानी में ढाला जा सकता है तो फिर मुझे सिर्फ़ उन चीजों को बारीकी से

देखने-परखने की जरूरत है। मेरे अग्रज जो कारन्थ की क्रांतिकारी विचारधारा से नफ़रत करते थे, वे भी उनकी लेखकीय कला की प्रशंसा किए बिना नहीं रह पाते थे और उनके बारे में मुग्ध मन से बात करते थे।'' इस तरह अनन्तमूर्ति का रुझान यथार्थवादी साहित्य की तरफ हुआ।

साहित्य में यथार्थवाद की यह धारा प्रगतिवादी लेखन से और बलवती हुई। मार्क्सवाद से अनुप्रेरित होकर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में साहित्य की जो प्रगतिवादी धारा का प्रस्फुटन हुआ, उसका असर कन्नड़ साहित्य पर भी देखा जा सकता है। कन्नड़ में इस धारा की अगुआई ए.एन. कृष्णराव ने की। उन्होंने तथा उनके साथियों ने लेखक तथा पाठक के रिश्ते की पुनर्व्याख्या करते हुए इस बात पर ज़ोर दिया कि साहित्यकार की भूमिका शिक्षक के साथ साथ आंदोलनकारी की भी होनी चाहिए। कृष्णराव के अलावा टी.आर. सुब्बाराव, कट्टिमणि तथा निरंजन इस धारा के प्रमुख साहित्यकार हैं। यह प्रगतिशील आंदोलन से ही बाद में जाकर बन्द्या तथा दलित साहित्य नाम से दो अन्य साहित्य धाराएँ पनपीं। इन धाराओं के लेखक समाज के उन तबकों से आते थे, जिन्हें दबाया और कुचला जाता रहा था। समाज के प्रति उनका आक्रोश लेखन के तौर पर प्रस्फुटित हुआ। उनके लिए लेखन स्वान्तः सुखाय या आजीविका का ज़रिया न होकर सामाजिक क्रांति का जरिया था। इसमें संदेह नहीं कि दलित लेखन की इस परिपाटी पर हिन्दी या अंग्रेज़ी का प्रभाव न होकर मराठी का असर रहा। दरअसल मराठी में दलित साहित्य की उन्नत परम्परा देखी जा सकती है।

वैसे अनन्तमूर्ति तथा उनके साथ के नव्य आंदोलनकारियों ने बान्द्या साहित्य के विकास में महती भूमिका निभाई है। उन्होंने तथा उनकी पीढ़ी के वामपंथी रुझान रखने वाले साहित्यकारों ने कन्नड़ साहित्य में जिस विद्रोही तेवर का सूत्रपात किया, बान्द्या धारा उसकी ही पूर्ण अभिव्यक्ति है। इन लेखकों की राजनैतिक समझ ने भी भावी लेखकों को गहरी राजनैतिक दृष्टि दी, जिसके प्रभावशाली नतीजे सामने आए। उन्हीं परम्पराओं का अनुसरण करते हुए कन्नड़ में चन्द्रशेखर पाटिल से बान्द्या साहित्य को तथा सिद्धालिंगैय्या ने दलित साहित्य को आगे बढ़ाया।

वैसे तो नव्य युग का सूत्रपात सुप्रसिद्ध कन्नड़ कवि गोपालकृष्ण अडिगा के कृष्ण कोलालु तथा हिमागिरिय कान्द्रा से माना जा सकता है, पर उस साहित्य आंदोलन को कहानी एवं उपन्यास की परिधि से जोड़ने का काम कन्नड़ साहित्य की इस नई पीढ़ी ने किया। हालांकि लेखकों की इस नई पौध पर अडिगा का प्रभाव पूरी तरह से देखा जा सकता है।

श्रीरंग कृर्त 'विश्वामित्रणा सृष्टि', राव बहादुर कृत 'ग्राम्यणा' तथा शंकर मोकाशी पूणेकर कृत 'गंगवा गंगामाई' की गिनती भले ही कन्नड़ नव्य साहित्य के पहले उपन्यासों में होती हो, पर इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि अनन्तमूर्ति के 'संस्कार' तथा 'भारतीपुर' से कन्नड़ नव्य साहित्यांदोलन को पुरजोर शक्ति मिली। इसी तरह अनन्तमूर्ति की कहानी घटश्राद्ध ने नव्य आंदोलन को व्यापक आयाम दिया और इस आंदोलन की प्रतिष्ठा कहानी के क्षेत्र में भी हो सकी। नव्य आंदोलन के जरिए नया दृष्टिकोण ही सामने नहीं आया, बल्कि कथा साहित्य के स्वरूप में भी क्रांतिकारी बदलाव आया।

6.3.3 नव्य आंदोलन और अनन्तमूर्ति के उपन्यास

नव्यआंदोलन स्वतंत्र भारत के जीवन और दर्शन की एक ऐसी अन्तर्दृष्टि था, जो धरती की सच्चाई से तो उपजा ही था, मन की गहराई को भी अपने में समेटे हुए था। हालांकि नव्यकारों का जीवन दर्शन मार्क्सवाद से अथवा उनका मनोविश्लेषण फ्रायडवाद से परिचालित न होकर भारतीय जीवन दर्शन से प्रेरित था। इसीलिए तो आस्था अनास्था

का प्रश्न द्वंद्व के तौर पर अनन्तमूर्ति की रचनाओं में स्थान लेता रहा है। संस्कार में यदि वह धर्म, धर्मशास्त्र तथा इनमें निहित आदर्शों में मनुष्य की स्वतंत्र सत्ता के हरण के मसलों से जूझ रहे होते हैं तो भारतीपुर में वह ईश्वर, पूँजी तथा पाखंड की मिलीजुली और उसकी कुत्सित सत्ता का भांडा फोड़ रहे होते हैं।

हालाँकि संस्कार का अभिप्राय जिस तरह महज ब्राह्मणवाद की रूढ़ियों से विद्रोह करने वाले नारणप्पा के दाह संस्कार से नहीं है, उसी तरह भारतीपुर गोचर रूप से दक्षिण भारत की किसी बस्ती की कहानी दीखकर भी ब्याज रूप में समसामयिक भारतीय जीवन के दहशत पैदा करने वाले अनुभवों का जीवन्त दस्तावेज़ है। यह भारतीपुर नामक एक बस्ती और वहाँ स्थित मंजुनाथ के मंदिर की कहानी है। यह मंदिर महज देवालय ही नहीं, बल्कि उस बस्ती की सारी व्यवस्था का केन्द्र भी है। हालाँकि यह एक ऐसा नियामक स्थल है, जहाँ से ढोंग, पाखंड और दुराचार के अजस्र स्त्रोत फूटते हैं। इस पूरी व्यवस्था का एकमात्र मकसद है सारी बस्ती के जीवन को समेटना, जकड़ना और यथास्थितिवाद को सुरक्षित बनाए रखना। संस्कार की भाँति ही, ईश्वर, पूँजी तथा पाखंड की मिलीजुली और उसकी कुत्सित सत्ता के असली चेहरे को बेनकाब करने वाले इस उपन्यास की भी सबसे बड़ी शक्ति उसका सामाजिक संदर्भ है। यह रचना को अतिरिक्त ऊर्जा देने के साथ साथ ही उसे बेहद प्रामाणिक भी बनाता है।

6.4 संस्कार का रचना परिवेश

संस्कार की रचना की पूर्व पीठिका का उल्लेख करते हुए डॉ. अनन्तमूर्ति बताते हैं कि "जो कहानी मैं लिखना चाहता था, उसे मैं वास्तव में लगभग बीस साल बाद अपने देश से दूर इंगलैंड में लिख सका। मैं अपने मित्र और शोधकार्य में मेरे मार्गदर्शक रहे माल्कम ब्रैडबरी के साथ बर्गमैन की फिल्म सेवेन्थ सील देखने गया था। प्रो. ब्रैडबरी एक महत्वपूर्ण आलोचक तथा उपन्यासकार भी हैं। चूँकि इस फ़िल्म में कोई सबटाइटिल नहीं थी, अत: यह मेरे पल्ले थोड़ा बहुत ही पड़ी। जो कुछ मेरे पल्ले पड़ा, वह मन में घर कर लेने वाला अनुभव था। ऐसे अनुभव आपकी रचनात्मकता को छेड़ दे सकते हैं। इसका नायक एक आध्यात्मिक संकट से गुजरता है और मुझे याद है कि मैंने प्रो. ब्रैडबरी से कहा था कि यूरोपीय लेखक को अपने अध्ययन और ज्ञान की बदौलत मध्ययुग की रचना करनी पड़ती है, जबकि भारतीय लेखक के लिए यह एक हाल का ही अनुभव है क्योंकि यह उसकी जीती जागती स्मृतियों का विषय है। इसके बाद से ही यह मेरा प्रिय सिद्धान्त रहा है कि विभिन्न ऐतिहासिक युगों के परिणामस्वरूप निर्मित होने वाली विभिन्न विश्व दृष्टियाँ भारतीय लेखक के मानस में एक साथ मौजूद रहती हैं।... इस पर प्रो.ब्रैडबरी ने कहा कि मुझे एक ऐसी शैली और कथानक खोजना चाहिए, जोकि इस सहवास को शब्द रूप दे सके।

इंगलैंड में दो साल गुज़ारने के बाद मुझे थकान होने लगी थी। एक तो मुझे हर समय अंग्रेजी बोलना पड़ता था और फिर मुझे घर की याद भी सताने लगी थी। इसके अलावा मैं अपने शोध प्रबंध के अगले अध्याय का लेखन टालने के लिए कोई बढ़िया बहाना ढूँढ़ रहा था और इससे बढ़िया बहाना भला और क्या हो सकता था कि मैं अपने मार्गदर्शक से कहूँ कि मैं उपन्यास लिख रहा हूँ और उस पर से तब जबकि यह मार्गदर्शक स्वयं भी उपन्यासकार हो। इस तरह मैंने अपना उपन्यास संस्कार लिखा।''

इंगलैण्ड में रहते हुए भारतीय परिवेश को उपन्यास में उतारना निस्संदेह यादों के सहारे ही संभव था। कहा जा सकता है कि इस उपन्यास के बहाने अनन्तमूर्ति ने अपनी यादों को

खंगाल दिया। रचनात्मकता की प्रकृति पर टिप्पणी करते हुए आचार्य दंडी ने लिखा है कि पूर्व के संस्कार कवि को आवश्यक प्रतिभा प्रदान करते हैं, जिससे कि वह काव्यादर्श का निर्माण करता है। इस तथ्य के आलोक में संस्कार को परखने पर हम पाते हैं कि संस्कार के लेखन के पीछे काव्याचार्य की यह टिप्पणी काम करती रही। अपने घर से बहुत दूर जाकर ही अनन्तमूर्ति अपने बचपन की स्मृतियों को इतने यत्न से संजो सके। घर परिवार से बिछोह का दर्द उनके लिए बहुत बड़ी पीड़ा रहा होगा कि जिसका परिणाम संस्कार की रचना के तौर पर हमारे सामने आ सका।

6.5 सारांश

इस इकाई में आपने कन्नड़ उपन्यास संस्कार के लेखक डॉ. यू. आर. अनन्तमूर्ति के लेखकीय परिवेश को जाना समझा। चूंकि किसी भी लेखक का परिवेश उसके पारिवारिक तथा सामाजिक दायरे के बाहर नहीं होता, अत: हमने उन तमाम परिवेशों को भी समझने की कोशिश की, जिन्होंने उनके व्यक्तित्व को गढ़ने में अहम् भूमिका निभाई। इसके अलावा हमने कन्नड़ भाषा की उस साहित्यिक परम्परा का भी परिचय प्राप्त किया, जिसकी कड़ी डॉ. अनन्तमूर्ति स्वयं हैं।

कन्नड़ भाषा भाषी होते हुए भी अनन्तमूर्ति अंग्रेज़ी के लेखक हैं और इन दोनों भाषाओं के विरोधाभासी संस्कारों को अपने लेखन में उतार पाने में वह पूरी तरह से सफल रहे हैं। अपनी मातृभाषा कन्नड़ से वह यथार्थ दृष्टि ग्रहण करते हैं तो अपने पेशे से जुड़ी भाषा अंग्रेज़ी से वैज्ञानिक दृष्टि। हमने यह भी देखा कि परम्परा में पगकर हुए भी अनन्तमूर्ति किस तरह आधुनिकता के रस से सराबोर हैं। वस्तुत: परम्परा के रस में पगकर भी जो लेखक अपनी वैयक्तिक प्रतिभा की सुगंध बरकरार रख पाता है, वही युगांतकारी सिद्ध होता है। डॉ. अनन्तमूर्ति इस आधार पर पूरी तरह खरे उतरते हैं और इसी कारण से कन्नड़ में ही नहीं, वरन् भारतीय साहित्य में भी उनका स्थान अक्षुण्ण है।

6.6 प्रश्न

1. डॉ. अनन्तमूर्ति के रचनात्मक साहित्य का परिचय दीजिए।
2. आधुनिक कन्नड़ साहित्य के अंतर्गत अनन्तमूर्ति के महत्व पर चर्चा कीजिए।
3. नव्य आंदोलन का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उसमें अनन्तमूर्ति के उपन्यासों का स्थान निर्धारित कीजिए।
4. संस्कार के रचना परिवेश का विवेचन कीजिए।

इकाई 7 'संस्कार' की सामाजिक चेतना

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 संस्कार का सामाजिक परिवेश

7.3 कथावस्तु - शीर्षक की सार्थकता

7.4 देश और काल

7.5 पात्र

7.6 सारांश

7.7 प्रश्न

7.0 उद्देश्य

पिछले खण्ड में आपने संस्कार के लेखक डॉ. यू.आर. अनन्तमूर्ति के व्यक्तित्व और उनके लेखकीय परिवेश के बारे में पढ़ा। इस खण्ड में हम संस्कार की सामाजिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करेंगे।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- संस्कार की कथावस्तु की चर्चा कर सकेंगे;
- संस्कार के युगीन परिवेश की जानकारी दे सकेंगे; और
- संस्कार की पात्रों की विश्वसनीयता का परिचय दे सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

साहित्य में किसी न किसी समाज का चित्रण होता है। कहानी या उपन्यास के माध्यम से हम उस समाज को जानने समझने की कोशिश करते हैं। जिन उपन्यासों का कथानक चरित्र अथवा नायक प्रधान होता है, उनमें भी समाज परोक्ष रूप से मौजूद रहता है क्योंकि व्यक्ति की तमाम क्रिया-प्रतिक्रियाएँ समाज से ही संचालित होती हैं। अत: सामाजिक पृष्ठभूमि को समझे बिना किसी उपन्यास के कथ्य को तो क्या, किसी पात्र के साथ रागात्मक संबंध कायम कर पाना भी संभव नहीं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य को समाज का दर्पण माना है। साहित्यकार चूंकि समाज का ही अंग है, अत: सामाजिक परिस्थितियों तथा परिवर्तनों का प्रभाव उसकी चित्तवृत्ति पर पड़े बिना नहीं रहता। आ. शुक्ल के अनुसार चित्तवृत्ति पर पड़नेवाली इस प्रतिच्छाया की अभिव्यक्ति ही साहित्य है। उनके इन विचारों के परिप्रेक्ष्य में हम यू.आर. अनन्तमूर्ति कृत संस्कार पर नज़र डालें तो आलोच्य उपन्यास में लेखक का देखा और भोगा हुआ सामाजिक यथार्थ स्पष्ट तौर पर देखा जा सकता है। प्रश्न उठता है कि यह कौन सा और कब का समाज है? प्रस्तुत खण्ड में हम इन्हीं बिन्दुओं के आलोक में संस्कार का अध्ययन करेंगे।

7.2 संस्कार का सामाजिक परिवेश

किसी भी कहानी अथवा उपन्यास का सामाजिक परिवेश उसकी स्वाभाविकता और सजीवता का निर्धारण करता है। यह सामाजिक परिवेश देश, काल और परिस्थिति से मिलकर बना होता है। चन्द्रकान्ता जैसी वायवी रचनाएं मनोरंजक तो हो सकती हैं, पर किसी भी सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन कर सकने में समर्थ नहीं होतीं। दूसरी तरफ शेखर एक जीवनी या गोदान जैसे उपन्यास चाहे व्यक्ति केन्द्रित हों या फिर समाजोन्मुख, वे किसी न किसी वृहद् सामाजिक सत्य का उद्‌घाटन करते हैं। हिन्दी उपन्यास या यूं कहें कि हिन्दी साहित्य के विकास में चन्द्रकान्ता अथवा चन्द्रकान्ता संतति जैसे उपन्यासों के महत्व को नकारा तो नहीं जा सकता है, परन्तु मनोरंजन मात्र का उद्देश्य लेकर चलनेवाली रचना साहित्य की कोटि पर बहुत खरी नहीं कही जा सकती। ऐसे उपन्यासों में घटनाएँ इतनी तेजी से घटित होती दिखाई जाती हैं कि पाठक कौतुक और आश्चर्य से ठगा रह जाता है और बुद्धि और विचार से उसका नाता ही टूट जाता है। इन उपन्यासों का स्वाभाविकता से कोई वास्ता नहीं होता।

जहाँ तक सामाजिक उद्देश्य को लेकर लिखे जानेवाले साहित्य का संबंध है, अपने कथानक के आधार पर वह नाटकीय या चरित्र प्रधान में से कुछ भी हो सकता है। सामाजिक पृष्ठभूमि को आधार बनाकर लिखे जाने के बावजूद प्रेमचन्द कृत 'गोदान' या अमृतलाल नागर रचित 'नाच्यो बहुत गोपाल' जैसे उपन्यासों को सामाजिक कहने की बजाय सामयिक कहना ज्यादा उचित प्रतीत होता है क्योंकि सामाजिक उद्देश्य से लिखी गई इन रचनाओं में काल एवं स्थान सापेक्ष समाज का ही चित्रण होता है। शास्त्रीय शब्दावली में नाटकीय उपन्यास कहे जानेवाली इन रचनाओं में कथानक किसी एक वर्ग विशेष अथवा जीवन शैली में ही केन्द्रित रहता है, जिससे कि घटनाओं में नाटकीयता आ जाती है। ऐसे उपन्यासों में कथानक तथा चरित्र के बीच की दूरी प्राय: समाप्त हो रहती है और इसके पात्र घटना प्रधान उपन्यासों की तरह न तो कथानक तंत्र के पुर्जे होते हैं और ना ही इन उपन्यासों का कथानक चरित्रों के चारों ओर का मुखौटा मात्र होता है, जैसा कि चरित्र प्रधान उपन्यासों में देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में कहें तो नाटकीय उपन्यासों में न तो कथानक ही पात्रों को चारों ओर से घेरे रहता है और न पात्र ही कथानक के अविभाज्य अंग होते हैं।

पहले ही चर्चा की जा चुकी है कि समाज से कटकर या उससे विरत होकर तो चरित्र प्रधान उपन्यासों की रचना कर पाना भी संभव नहीं। सच तो यह है कि न तो कोई उपन्यास विशुद्ध तौर पर चरित्र प्रधान हो सकता है और ना ही विशुरू रूप से नाटकीय या सामयिक। सुविधा की दृष्टि से किसी एक तत्व की गौणता या प्रधानता के अनुसार उन्हें चरित्र प्रधान या नाटकीय आदि वर्गों में बाँट दिया जाता है। इस प्रकार चरित्र प्रधान उपन्यासों में यदि पात्र अपरिवर्तनीय रहते हैं और दृश्य परिवर्तनशील तो नाटकीय उपन्यासों में दृश्ययोजना नहीं बदलती, जबकि पात्रों में मानवीय अनुभवों के विस्तृत परिसर के दर्शन होते हैं।

इस तरह किसी भी उपन्यास में संयोजित सामाजिक चेतना उसके परिवेश से कटकर नहीं हो सकती। जबकि यह सामाजिक परिवेश उपन्यास की कथावस्तु, उसमें दर्शाए गए स्थान एवं काल और उसके पात्रों के सम्मिलन से बनता है। संस्कार में निरूपित सामाजिक चेतना को हम इन तत्वों के आधार पर देखने परखने की कोशिश करेंगे।

7.3 कथावस्तु-शीर्षक की सार्थकता

किसी भी उपन्यास में कथानक या कथावस्तु का वही महत्व है जो शरीर में हड्डियों का है। इसे उपन्यास का मूल ढाँचा कहा जा सकता है। जिस प्रकार सुंदर शरीर के लिए हड्डियों के साथ-साथ मांस पेशियों की ज़रूरत होती है, उसी प्रकार उपन्यास में कथानक के साथ-साथ भाषा, शैली और चरित्र चित्रण की जरूरत पड़ती है। बिना हड्डियों के न तो मांस पेशियाँ खड़ी रह सकती हैं और ना ही बिना कथानक के उपन्यास का ढाँचा खड़ा रह सकता है। कथानक का अर्थ समयानुक्रम में नियोजित घटनाओं से है। दूसरे शब्दों में कथानक घटनाओं का सिलसिला है, जिनके सहारे कोई भी लेखक उपन्यास का स्वरूप है निर्धारित करता है।

संस्कार एक ऐसे अग्रहार की ज़िन्दगी की कहानी है, जहाँ माधव ब्राह्मणों का निवास है। दक्षिण भारत के पश्चिमी घाट पर स्थित इस अग्रहार का नाम है दुर्वासापुर। यहाँ रहनेवाले ब्राह्मण लोभी, स्वार्थी, ईर्ष्यालु और संकुचित मानसिकता के हैं। उनका ब्राह्मणत्व सिर्फ इस बात पर टिका हुआ है कि वे सैकड़ों हजारों साल पुरानी परम्पराओं तथा नियमों का पालन करते हैं। हालाँकि वे यह भी नहीं जानते कि इन नियमों का पालन वे कर क्यों रहे हैं। जानना चाहते भी नहीं हैं। उन्हें तो सिर्फ़ इतना ही मालूम है कि इन नियमों से यदि कहीं वे भटके तो अनर्थ हो जाएगा। नियमों और परम्पराओं का पालन करके वे खुद को सुरक्षित महसूस करते हैं। इस तरह दुर्वासापुर कोई अनोखी जगह नहीं है। कुछ वर्ष पूर्व तक इस तरह के अग्रहार दक्षिण भारत में देखे जा सकते थे।

वैसे तो दुर्वासापुर पौराणिक महत्व का स्थल है, फिर भी यदि वह आस पड़ोस के गाँवों में जाना जाता है तो वहाँ रहनेवाले दो ब्राह्मणों की वजह से। इनमें से एक हैं गुरू प्राणेशाचार्य और दूसरा है नारणप्पा। काशी जाकर विद्या अर्जन करनेवाले महातपस्वी, ज्ञानी, वेदान्त शिरोमणि प्राणेशाचार्य की कीर्ति पताका दूर-दूर तक फैली हुई है। वह इस अग्रहार के ही गुरु नहीं, बल्कि पड़ोसी गाँवों के भी आचार्य हैं। उनके मुख से पुराणों की कथा सुनने के लिए आस पड़ोस के अग्रहारों के ब्राह्मण भी दुर्वासापुर पहुँचते हैं। श्रीमद् भागवत् गीता का यह उपदेश उनका धर्म वाक्य है कि फल की इच्छा न करते हुए कर्म करो। प्राणेशाचार्य मोक्ष की कामना रखते हैं और मोक्ष प्राप्त करने के लिए वह किसी भी तरह की परीक्षा से गुजरने के लिए तैयार हैं। उन्होंने जानबूझकर एक रोगिणी से विवाह किया है और अपने इस आत्मोत्सर्ग पर उन्हें गर्व है।

दूसरी तरफ नारणप्पा चाण्डाल की तरह है। अपने ब्राह्मणत्व को जान बूझकर त्यागकर उसने अछूत कन्या चन्दरी का वरण किया है। वह उसके साथ तो खुले आम रहता ही है, अपने बरामदे में मुसलमानों को बैठाकर उनके साथ भी मांस मदिरा लेता है। यहाँ तक कि उसने शालिग्राम तक को नदी में फेंक दिया है। यही नहीं, उसने पवित्र समझी जानेवाली मछलियों को पकड़कर अपने मुसलमान मित्रों के साथ उनका भक्षण किया। दुर्वासापुर के ब्राह्मण उससे नाराज़ हैं और उसे कुल से निकाल देने की वकालत करते रहे हैं। यदि उसे ब्राह्मण कुल से निष्कासित नहीं किया गया है तो वह प्राणेशाचार्य के कारण ही क्योंकि उन्हें विश्वास है कि वह इस अधर्मी को धर्म के पथ पर फिर से ले चलने में सफल हो सकेंगे।

उपन्यास के आरंभ में ही चन्दरी के माध्यम से हमें नारणप्पा की आकस्मिक मृत्यु का समाचार मिलता है। रूढ़ियों के अनुसार मृतक का जब तक दाह संस्कार नहीं हो जाता, कोई खाना भी नहीं खा सकता है। संस्कार इस विकट परिस्थिति से उत्पन्न संकट की ही कहानी है। सबसे पहले सवाल उठता है कि नारणप्पा का दाह संस्कार कौन करे। इसके लिए आगे बढ़ने में हर किसी को खतरा नज़र आता है। क्योंकि उन्हें डर है कि ऐसा कर

के वह अपना ब्राह्मणत्व नष्ट कर लेंगे। किसी गैर ब्राह्मण को भी दाह संस्कार करने के लिए वह नहीं कह सकते क्योंकि अपनी मृत्यु के समय तक नारणप्पा ब्राह्मण ही था। जीवित रहकर जो शत्रु था, मर कर भूख का कारण बन गया था और फिर कंकाल के तौर पर समस्या था। हमेशा की तरह ही दुर्वासापुर के ब्राह्मणों ने इस समस्या के समधान की ज़िम्मेदारी प्राणेशाचार्य पर डाल दी कि वह धर्म ग्रंथों का अध्ययन करके कोई हल सुझाएँ।

रात भर धर्म ग्रंथों के पारायण के बाद भी जब प्राणोशाचार्य को जब कोई समाधान नहीं मिला तो अगली सुबह वह मारुति मंदिर जा पहुँचे। यहाँ पूरा दिन गुज़ारने के बावजूद उन्हें समस्या का कोई समाधान नहीं सूझा। थक हार कर जब वह जंगल के रास्ते वापस लौट रहे थे तो उनकी मुलाकात चन्दरी से हुई। उन्हें इस असहाय अवस्था में देखकर चन्दरी उनके प्रति सहानुभूति से भर उठी। उसे लगा कि आचार्य की इस दशा के मूल में वह भी है। ग्लानि और पश्चाताप के मिश्रित भाव में बहकर वह उनके चरणों में गिर पड़ी। ऐसा करते हुए उसकी छाती प्राणेशाचार्य के घुटनों से छू गई। एक परस्त्री की छुअन से वह स्तंभित हो उठे और आशीर्वाद के लिए उठा हाथ चन्दरी के बिखरे बालों को सहलाने लगा। चन्दरी भी इस स्पर्श की वजह से आवेग में आ गई और उसने आचार्य से लिपटकर उन्हें अपने पास समेट लिया। आचार्य स्वयं को नियंत्रित नहीं रख सके और वर्षों से दबी पड़ी उनकी भूख भड़क उठी। आधी रात को जब उनकी नींद टूटी तो उन्होंने अपना सिर चन्दरी की गोद में पड़ा पाया, जबकि उसकी उँगलियाँ उनके कान, सिर और पीठ को सहला रही थीं।

अब प्राणेशाचार्य ने फासला किया कि वह इस घटना को पूरे ब्राह्मण कुल के सामने बयान कर उन्हें बता देंगे कि वह धर्म की ऊँचाई से च्युत हो गए हैं। ऐसा सोचकर वह घर पहुँचे। उधर चन्दरी ने भी अपने घर पहुँचकर पाया कि उसके पूर्व प्रेमी का शरीर अब सड़ने लगा है। ब्राह्मणों के निर्णय के लिए अब और इंतजार नहीं कर के उसने किसी मुसलमान की मदद से शव को ठिकाने लगा दिया। इसके बाद वह दुर्वासापुर छोड़कर कुंदपुरा लौट गई।

सुबह हमेशा की तरह अपनी पत्नी को नहलाते हुए पहली बार उन्हें उस शरीर की कुरूपता का आभास हुआ और उनका मन घृणा से भर उठा। चन्दरी को अग्रहार में नहीं पाकर उनके मन का चोर जाग उठा और अपनी पत्नी की मृत्यु के बाद बिना किसी के सामने अपनी गलतियों का इज़हार किए ही वह घर से निकल पड़े। हालांकि वे जहां कहीं भी गए, पकड़े जाने का डर उन्हें सताता रहा। इसी तहर चन्दरी के स्पर्श की याद से वह खुद को मुक्त नहीं कर सकें। पुन: उन्होंने दुर्वासापुर लौटकर अपना अपराध कबूल कर लेने का मन बना लिया। इसके साथ ही वह दुर्वासापुर की ओर चल पड़े। इस बिन्दु पर आकर ही उपन्यास का अन्त हो जाता है।

7.4 देश और काल

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, सामयिक उपन्यास स्थान तथा समय सापेक्ष होता है। काव्यभाषा में स्थान और समय को हम देश और काल का दिक्काल कहते हैं। उपन्यासों में स्वाभाविकता और सजीवता लाने के लिए स्थान और समय पर खास ध्यान देने की ज़रूरत पड़ती है। हम जानते हैं कि साहित्य का सरोकार रस की व्युत्पत्ति से है। रस की उत्पत्ति में स्थान का विशेष महत्व है। स्थान की परिस्थिति कार्य को प्रभावित करती है। दोनों में सामंजस्य होने पर ही कार्य का प्रभाव गंभीर और दृढ़ हो जाता है।

समय का नियंत्रण करने के लिए स्थान को नियंत्रित रखना आवश्यक हो जाता हैं। एक ही स्थान पर दृश्य को स्थिर रखकर समय को नियंत्रित नहीं रखा जा सकता। यह इसलिए कि वास्तविक संसार और उपन्यास में दर्शाए गए समय में बड़ा अंतर होता है। इसे घंटों में नहीं गिना जा सकता। अनुभव और प्रभाव के द्वारा इसका अनुमान किया जा सकता है। जिस तरह फ़िल्म की रील तेजी से घूमकर सैकड़ों चित्रों के मेल से एक संपूर्ण चित्र का निर्माण करती है, वैसे ही लेखक की कला के प्रभाव से उपन्यास में समय द्रुत गति से भागता जाता है।

उपन्यास में समय को नियंत्रित करने के लिए स्थान को बदलना ज़रूरी हो जाता है। इसके लिए लेखक को कई बातों पर ध्यान देना पड़ता है। सुविधा की दृष्टि से लेखक एक सीमा बना लेता है और उसका हृदय और पात्र उसी निर्धारित सीमा के भीतर विचरते हैं। उसकी यह सीमा प्राय: परिचित स्थानों के ही अंदर रहती है, जिससे कि प्रभावोत्पादक अंगों पर उसकी पकड़ बनी रह सके। इससे सबसे बड़ी सुविधा यह होती है कि विचार विशृंखल नहीं होते और संपूर्ण चित्र सरलता के साथ देखा जा सकता है। स्थानों में विशेष परिवर्तन कर के अथवा अपरिचित वातावरण होने की वजह से लेखक अपनी इच्छा के अनुसार समय या काल पर अधिकार नहीं रख पाता। ऐसे में उसे उस अपरिचित स्थान का परिचय देना अनिवार्य हो जाता है, जिससे कि समय का आभास कुछ अधिक होने लगता है। जबकि स्थान और समय को सीमित रखकर उपन्यास के अधिक प्रभावोत्पादक बनाया जा सकता है।

इस चर्चा के परिप्रेक्ष्य में हम यदि संस्कार को देखें तो पाएँगे कि लेखक ने इसका दिक्काल अथवा स्थान और समय नियंत्रित रखा है। यह देश और काल उसके परिचित हैं, अत: प्रभावोत्पादकता में भी लेखक को उनसे सहायता मिली है। जाने पहचाने और परिचित स्थान का चित्रण होने की वजह से उपन्यास में स्वाभाविकता और सजीवता भी है। स्वयं डॉ. अनन्तमूर्ति के शब्दों में : "जब मैं बच्चा था, तभी मेरे साथ कुछ ऐसा हुआ जिसे मैं आपको बताना चाहता हूँ। इसका संबंध परम्परा और धर्म से है। इसके साथ ही यह मेरे समुदाय से मेरे अपने जुड़ाव को भी दर्शाता है। मैं एक अग्रहार से आता हूँ। अग्रहार वह स्थान है, जहाँ सिर्फ़ ब्राहण रहते हैं। मेरा अपना अग्रहार नदी के तट पर स्थित था। मेरे अग्रज, या यूँ कहें कि मेरे पूर्वज, अपने विश्वास, रुख, रूढ़ियों आदि के साथ वैदिक काल में रहते हैं।" वस्तुत: अनन्तमूर्ति के अनुसार भारतीय लेखन की यह सबसे बड़ी चुनौती रही है कि उसका साक्षात्कार एक साथ अनेक काल से होता है। यहाँ भी उनके स्वजातीय मन:स्थिति से पौराणिक काल में और दैहिक स्थिति से आधुनिक काल में रह रहे हैं।

उपन्यास से उभरने वाले ऐसे संकेतों से समझा जा सकता है कि इसके कथानक का काल 1930 एवं 1940 के बीच का है। 1932 में जन्में अनन्तमूर्ति के लिए यह काल उनके शैशव का था। एक बच्चे की आँखों से ही उन्होंने उस कालखण्ड को देखा था। हालाँकि अनन्तमूर्ति ने संस्कार की रचना अपने देश से बहुत दूर इंग्लैण्ड में बैठकर की। यहाँ वह अंग्रेज़ी साहित्य में शोधकार्य करने गए थे। जाहिर तौर पर यह उनकी पहली विदेश यात्रा थी और परंपरागत रूढ़ियों के बीच पले बढ़े व्यक्ति के लिए पूरब तथा पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति की दूरियों के बीच समन्वय बैठाना एक बडी चुनौती थी। और जैसा कि उन्होंने स्वयं ही लिखा है, यहाँ रहते हुए उन्हें घर परिवार की यादें बेतरह सताने लगी थीं। बचपन की स्मृतियाँ एक-एक कर उनके सामने सिनेमा की रील की तरह उभरने लगीं। तभी उन्होंने तय किया कि शोधपत्र लिखना स्थगित किया जा सकता है, पर इन स्मृतियों से पीछा छुड़ाने के लिए उन्हें शब्द रूप देना आवश्यक है। और इस तरह उनके बचपन की यादों ने प्रगल्भ विचारों से युक्त होकर उपन्यास का रूप ले लिया।

बचपन की एक घटना को याद करते हुए अनन्तमूर्ति ने लिखा है : अपने गाँव में घटी एक घटना मुझे याद है। चार मील दूर स्थित एक शहर में महामारी फैल गई। रोज यहाँ से होकर ही हम स्कूल जाते थे। उसी समय हमारे गाँव में टीका लगाने के उद्देश्य से डाक्टर पहुँचे। अग्रहार पहुँचकर उन्होंने सभी ब्राह्मणों को टीका लगाया। लेकिन चूंकि वे स्वयं ऊँची जाति के लोग थे, अत: वे वहाँ से कुछ दूर पहाड़ पर स्थित हरिजन कालोनी तक नहीं गए। और हरिजन मौत के शिकार होने लगे। लोग इस तरह मरने लगे कि जब किसी झोंपड़ी में सभी की मौत हो जाती तो उस झोंपड़ी को ही आग लगा दी जाती थी। इसपर कट्टरपंथी ब्राह्मणों का कहना था, आप जानते हैं कि वे क्यों मर रहे हैं? वे मर रहे हैं क्योंकि मोहनदास करमचन्द गाँधी के रूप में एक काली है जो उन्हें मंदिरों में जाने के लिए उकसा रहा है। ईश्वर का कोप इसी वजह से है।

बाल मन पर पड़ी यह छाप ही कल्पना के सहारे विस्तार पाती चली गई और फिर इसने उपन्यास का रूप ले लिया। अनन्तमूर्ति के इस कथन में काल का संकेत भी छिपा हुआ है। घटना की प्रामाणिकता तो इससे तय है ही, यह भी निश्चित हो रहता है कि यह कहानी भारतीय राजनीति के आकाश पर गाँधीजी के आने के बाद की है। लेखक ने इसका संकेत उपन्यास में भी दिया है। संस्कार का प्रतिनायक नारणप्पा अन्य ब्राह्मणों पर व्यंग्य कसते हुए कहता है, अब आपका शास्त्र, धर्म नहीं चलेगा। आगे आएगा कांग्रेस का राज। अछूतों को देव स्थान में प्रवेश करने का अधिकार आपको देना पड़ेगा।

संस्कार की रचना के लिए इस काल का चयन कई कारणों से महत्वपूर्ण है। संस्कार के प्रकाशन के बाद इसे लेकर बावेला मचा था। कट्टरपंथी ब्राह्मण समाज इसे प्रतिबंधित करने की माँग कर रहा था। उसका तर्क था कि उपन्यास में उठाई गई समस्या का हल मनु के धर्मशास्त्र में दिया गया है। मनुस्मृति को उद्धत करते हुए वे बताते हैं कि कोई यदि समूची वर्ण व्यवस्था को त्याग दे और उसकी मृत्यु के बाद उसके संस्कार को लेकर समस्या खड़ी हो जाए तो इसमें चिंतित होने की जरूरत नहीं है क्योंकि तब हम लाश को नदी में फेंक दे सकते हैं। हालाँकि अनन्तमूर्ति इस समाधान को स्वीकार नहीं करते। उनका मानना है कि ऐसा समाधान सुझानेवाले ब्राह्मण गलत थे। उनके अनुसार उपन्यास में ज्यादा गंभीर समस्या उठाई गई है, एक ऐसी समस्या जिसका मनु को न तो आभास था और न ही उन्होंने इसका जवाब दिया है। मनु का समाधान इस पूर्वाभास पर आधारित है कि संबद्ध व्यक्ति बहिष्कार के जरिये पहले अपनी जाति के बाहर फेंक दिया जाएगा। यानी कि पहले बहिष्कार होगा और फिर बहिष्कृत। चूँकि इस बहिष्कृत का संबंध तब किसी जाति से नहीं होगा, अत: उसकी लाश को नदी में फेंका जा सकेगा।

हालाँकि संस्कार की समस्या दूसरी है। यहाँ नारणप्पा को जाति से बहिष्कृत नहीं किया जा सका था। इसकी अनेक वजहें हैं। उनमें सबसे बड़ा कारण तो यही है कि उस समय तक अंग्रेज यहाँ आ चुके थे और उन्होंने इस देश के कानून को पूरी तरह से बदल दिया था। फिर इस युग में नारणप्पा बखूबी यह कह सकता था कि यदि उसे निकाल बाहर किया गया तो वह मुसलमान हो जाएगा। अग्रहार के लिए यह एक बड़ा खतरा था। उपन्यास में यह एक ऐसा धर्म संकट प्रस्तुत करता है, जिसके बारे में मनु सोच भी नहीं सकते थे। क्योंकि तब न तो यहाँ अंग्रेज थे और ना ही मुसलमान। दूसरे शब्दों में कहें तो संस्कार के ब्राह्मण समाज का यह धर्म संकट काल की सच्चाइयों से जुड़ा हुआ है और उपन्यास में आए काल वर्णन ने इसके कथानक को और भी प्रामाणिक बना दिया है।

अब आइए, स्थान की चर्चा करें। संस्कार की कहानी दुर्वासापुर और उसमें रहने वाले माधवों के इर्द गिर्द घूमती है। माध्वाचार्य को मानने वाले ब्राह्मण माधव कहे जाते हैं।

दुर्वासापुर तुंगा नदी के किनारे बसा एक अग्रहार है। दक्षिण भारत के गाँवों में अग्रहार का विशेष महत्व है। यह भाग शेष गाँव से थोड़ा अलग हटकर हुआ करता था और यहाँ कुलीन ब्राह्मणों का निवास होता था। हालांकि अब के गाँवों में यह विभाजन इतना सुदृढ़ नहीं रहा है, फिर भी पुराने एवं स्थापित गाँवों में अग्रहार अब भी देखे जा सकते हैं।

स्थान को अधिक विश्वसनीय बनाने के लिए डॉ. अनन्तमूर्ति ने उसका वर्णन इन शब्दों में किया है :

"इस अग्रहार का नाम है दुर्वासापुर। इसके साथ एक पौराणिक कथा जुड़ी हुई है। तुंगा नदी के बीचोंबीच एक छोटे से द्वीप में वृक्षों से लदी एक छोटी सी पहाड़ी है। कहा जाता है कि दुर्वासा वहाँ तपस्या करते थे। द्वापरयुग में एक विशेष घटना हुई। यहाँ से दस मील की दूरी पर स्थित कैमर नाम की जगह पर थोड़े समय तक वनवास के दिनों में पांडव रुके थे। अपनी स्त्री की सभी इच्छाओं को पूरा करने वाले भीमसेन ने तुंगा नदी के प्रवाह को रोक दिया। इधर स्नान और संध्यावंदन आदि के लिए सुबह दुर्वासा नदी पर आ गए तो देखते क्या हैं कि नदी में पानी ही नहीं है। वे कुपित हो गए। धर्मराज युद्धिष्ठिर को अपनी दिव्य दृष्टि से इसका पता चल गया। उन्होंने भीमसेन को समझाया। हमेशा अपने भाई की बात माननेवाले वायु पुत्र ने अपने बनाए बांध को तीन जगहों से तोड़ दिया। अभी तक कैमर नदी बांध से निकलकर तीन धाराओं में बहती है। दुर्वासापुर के ब्राह्मण अड़ोस पड़ोस के अग्रहारों में रहने वाले ब्राह्मणों को सुनाते हैं कि द्वादशी के दिन प्रात:काल पुण्यात्माओं को दुर्वासावन से अभी भी शंख ध्वनि सुनाई देती है। किन्तु दुर्वासापुर के ब्राह्मणों ने यह शंख ध्वनि कभी स्वयं सुनी हो, ऐसा कहकर वे कभी डींग नहीं हाँकते।

पौराणिक महत्व का स्थल होने और महातपस्वी, ज्ञानी, वेदान्त शिरोमणि प्राणेशाचार्य के यहां आकर बस जाने और फिर चाण्डाल सम नारणप्पा की करतूतों के कारण यह अग्रहार दसों दिशाओं में ख्याति पा चुका है।''

हो सकता है कि दुर्वासापुर नाम का यह गांव मानचित्र पर खोजे न मिले, पर पौराणिकता से वर्तमान को जोड़कर लेखक ने न सिर्फ इसे विश्वसनीयता प्रदान कर दी है, बल्कि स्थान से महत्व को रेखांकित कर के यहाँ रहनेवालों के महत्व को भी निरूपित कर दिया है। एक काल्पनिक स्थान को तुंगा नदी जैसी वास्तविक भौगोलिक संरचना के साथ जोड़कर लेखक ने इस विश्वसनीयता को और भी प्रबल आधार दे दिया है। नाम को छोड़ दें तो नदी के साथ अपनी स्थिति, यहाँ रहनेवालों के विश्वास, रुख और रुढ़ियों की वजह से यह स्थान पूरी तरह से डॉ. अनन्तमूर्ति के बचपन का अग्रहार लगता है। वैसे भी इस उपन्यास में अन्य जो भी स्थान संदर्भ हैं, वे जाने पहचाने हुए हैं और उन्हें तुंगा नदी के तट पर बसे शिमोगा जिले के नक्शे में खोजा जा सकता है। संस्कार का कथा सूत्र लेखक के पैत्रिक गाँव मेलिगे तथा उसके आसपास के इलाकों में ढूँढा जा सकता है। मेलिगे का मंदिर तो कथानक का महत्वपूर्ण हिस्सा ही है, जहाँ मंदिर महोत्सव का आयोजन किया जा रहा है।

अनन्तमूर्ति को ग्रामीण परिवेश विशेष तौर पर पसन्द है। संभवत: यह उनकी बाध्यता है। स्वयं के बारे में वह कहते हैं: लेखक के तौर पर मैं महसूस करता हूँ कि मैं भूतकाल में रह रहा हूं। बहुत झिझक के साथ मैं अपने शैशव के ग्रामीण परिवेश में अर्द्ध शहरी परिवेश की तरफ अपने दूसरे उपन्यास 'भारतीपुर' में और फिर 'अवस्था' में शहरी के साथ-साथ ग्रामीण परिवेश की तरफ बढ़ा हूं। यह मेरी कहानियों के लिए भी सच है। मुझे लगता है कि मैं विशुद्ध शहरी कथानक को आसानी से संभाल भी नहीं सकता हूँ। संस्कार उनका पहला उपन्यास है, जिसमें ग्रामीण परिवेश पूरी तरह हावी है।

दुर्वासापुर के गाँव घर का चित्रण डॉ. अनन्तमूर्ति ने जिस तरह से किया है, वह उनकी ग्रामीण चेतना का जीता जागता उदाहरण है :

छाछ रखे जानेवाले आले में तिलचट्टे, अनाज की कोठी में घूस, बीच के कमरे में बंधी डोरी और उस पर सुखाने को डाले धुले कपड़े। आंगन में चटाई पर सूखने के लिए रखे गए पापड़, मिर्च और पिछवाड़े में तुलसी। अग्रहार के हर घर में इसी तरह की चीजें हैं। अतिरिक्त कुछ है तो वे हैं। पिछले आँगन में उगाए गए फूलों के पौधे। भीमाचार्य के आंगन में पारिजात का पौधा है, पद्माचार्य के आंगन में चमेली का। लक्ष्मणाचार्य के यहां चम्पा, तो गरुड़ाचार्य के घर में एक और तरह का फूल। दासाचार्य के घर में मंदार, तो दुर्गाभट्ट के यहाँ शंखपुष्प और बिल्वपत्र।

इस चित्रण के साथ लेखक ने पूरे गाँव का एक सामान्य परिचय तो दे ही दिया, साथ ही साथ हरेक घर की विशिष्टता भी रेखांकित कर दी।

इसी तरह महामारी फैलने के बाद गाँव के दृश्य का वर्णण अनन्तमूर्ति ने इन शब्दों में किया है:

वे अभी ऊपर ही देख रहे थे कि एक गिद्ध नर्तकी की तरह बल खाते, हवा में तिरते हुए नीचे उतरा और उनके पैरों के निकट से गोदाम के पिछवाड़े की ओर भागकर जाते हुए एक चूहे को चोंच से दबाकर उड़ा और घर की छत पर जा बैठा। .... कुछ देर बाद अनेक गिद्ध आसमान से नीचे उतरने लगे और प्रत्येक घर पर एक एक जोड़ा आकर बैठ गया, मानो ऐसे बैठना उन्होंने पहले से तय किया हो। कुछ गिद्ध एकाएक नीचे उतर आते चूहों को चोंच में पकड़-पकड़ कर आराम से खाने के लिए फिर छतों पर उड़ जाते। ये शिकारी गिद्ध अपनी निवास भूमि शमशान को छोड़कर अग्रहार में उतर आए थे।

पहला उद्धरण जहाँ उनके गँवई मन का द्योतक है, वहीं दूसरा उद्धरण उनकी सूक्ष्म अन्तार्दृष्टि का परिचायक। इन यथार्थपरक वर्णन के कारण संस्कार विश्वसनीय लगने लगता है। गाँव का परिवेश चूंकि उनका परिचित और जाना समझा हुआ है, अत: उनके उपन्यासों का भी वह सहज केन्द्र बन जाता है। हालांकि गंवई परिवेश में रचे और भदेश परिवेश में बसे होने की वजह से उनके भीतर निरंतर एक द्वन्द्व भी चलता रहा है। पेशेवर तौर पर वह अंग्रेजी के अध्यापक हैं और इस कारण उन पर हर समय खुद को अंग्रेजी में अभिव्यक्त करने का दबाव रहा है। वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि इसके परिणामस्वरूप संभवत: व्यक्तित्व का विभाजन हो रहा है, जहाँ भावात्मक रूप से तो मैं कन्नड़ हूँ और बौद्धिक रूप से अंग्रेज। वह कहते हैं: अंग्रेजी भाषा अपने साथ पश्चिमी प्रौद्योगिक सभ्यता भी लेकर लाती है, जो कि हमारे लिए ज्यादा अपरिचित और उतनी ही शक्तिसंपन्न भी है। मेरी भाषा कन्नड़ उसे बोलनेवाले बहुसंख्य लोगों की निरक्षरता तथा सांस्कृतिक सघनता की वजह से शासकीय वर्गों की भाषा की सीमाएँ पार कर गई है। अत: इसकी शक्ति, इसकी बोलचाल तथा साहित्यिक परम्परा में निहित है। इस कारण सशक्त लेखन तब तक मुश्किल हो जाता है, जब तक कि आप ग्रामीण जीवन में पैठे हुए न हों।

7.5 पात्र

किसी भी कहानी अथवा उपन्यास में पात्रों का अक्षुण्ण महत्व होता है क्योंकि साहित्य से गुजरते हुए पाठक खुद को पात्रों में ही समाविष्ट कर देता है। उपन्यास और उसकी कथा के साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिए उसे जिस माध्यम की तलाश होती है, वह इन पात्रों या चरित्रों में बखूबी ढूँढा जा सकता है। प्रिय पात्र का सुख दुख पाठक का अपना हो

जाता है। इस तरह से वह स्वयं भी सुख दुख का अनुभव प्राप्त कर लेता है। यादगार चरित्र वही होते हैं जिनके बारे में हमें ऐसा लगता है कि मानो उनसे हमारा परिचय पुस्तक में नहीं, बल्कि जिन्दगी में है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वे हमारे लिए महज काल्पनिक पात्र नहीं हैं, बल्कि उनके चेहरे में हम अपना, अपने घर परिवार तथा अड़ोस पड़ोस के लोगों का चेहरा देख पाते हैं।

पात्र अगर विश्वसनीय होंगे, तभी हम उनसे सामाजिक रिश्ता जोड़ पाने में सफल हो सकेंगे। इस दृष्टि से देखा जाए तो संस्कार के पात्र किसी वायवी कथानक के चरित्र न लगकर हमारी जिन्दगी में घटनेवाली रोजमर्रा की घटनाओं के वास्तविक किरदार नज़र आते हैं। इन सभी चरित्रों के भीतरी संस्कार अपने असली और खरे खोटेपन के साथ हमारे सामने उधड़ आते हैं। क्या यह सच नहीं कि प्राणेशाचार्य जैसे लोग हमारे समाज में भरे पड़े हैं जो न सिर्फ खुद अपने अन्तर्द्वंद्व के शिकार हैं बल्कि मुखौटा लगाकर जिन्दगी जी रहे हैं। इसी तरह नारणप्पा जैसे लोग भी इस समाज में कम नहीं हैं जो कि अपने पूरे परिवेश के खिलाफ विद्रोह का बिगुल तो फूंक देते हैं पर स्वयं अपने ही माया जाल में फंसकर अंततः मौत के मुँह तक खुद को ढकेल देते हैं।

पात्रों के व्यक्तित्व की चर्चा हम अगली इकाई में विस्तार से करेंगे। यहाँ हम उनके सामाजिक सरोकार और यथार्थवादी चित्रण के विषय में जानने की कोशिश करेंगे। अनन्तमूर्ति ने अपने उपन्यास के चरित्रों को अपनी जिन्दगी के सहयात्रियों के बीच से पहचानने की कोशिश की है। अपने बचपन के दिनों को याद करते हुए वह बताते हैं: हरिजनों में एक बेहद सुन्दर लड़की थी। हालाँकि तब मैं खुद बच्चा था पर सुन्दरता को पहचान सकता था और मेरे मन में तब यह बात कभी नहीं आई थी कि चूंकि वह हरिजन है इसलिए वह खूबसूरत नहीं हो सकती।.... और हमारे अग्रहार में एक युवक था, जो पुरातनपंथी परिवार में पैदा होने के बावजूद फौज में चला गया था। बाद में फौज छोड़कर वह फिर गाँव में आ गया था। वह अपने साथ एक फुटबाल भी लाया था और हमें खेलना सिखाया करता था। वह हमें फौजी कवायद भी सिखाता था और हमें लाहौर आदि की बातें बताता रहता था। मुझे मालूम था कि इस युवक का संबंध उस हरिजन कन्या से था।

क्या बचपन के ये सहयात्री ही अनन्तमूर्ति के उपन्यासों में भेष बदल बदलकर प्रस्तुत नहीं होते रहे हैं? क्या इस फौजी युवक में हम नारणप्पा की छवि और उस हरिजन कन्या में चन्द्री की छवि हम नहीं पाते हैं? क्या वास्तविक जिन्दगी के ये चरित्र नारणप्पा और चन्द्री के अलावा भी श्रीपति और बेल्ली के तौर पर साकार होकर हमारे सामने नहीं आते हैं? संभवतः वास्तविक जीवन के इन किरदारों की निजता को बचाए रखने और उन्हें सार्वभौम बनाने के उद्देश्य से ही लेखक ने उनके व्यक्तित्व को अनेक चरित्रों में बांटकर हमारे सामने प्रस्तुत किया है।

अनन्तमूर्ति ने अन्यत्र लिखा है, मेरे गाँव में सभी यह मानते थे कि संस्कार एक यथार्थवादी उपन्यास है और वे उसके सभी पात्रों में अग्रहार के जीते जागते मनुष्यों की पहचान करते रहे। और जब मैं अपने गांव वापस पहुँचा तो पड़ोस की औरत ने मुझसे कहा: ओह अन्थू, आपने चन्द्री का चित्रण बिलकुल सही-सही किया है। इसके सभी पात्र वास्तविक हैं। और यह माना गया कि उपन्यास गाँव के कुछ लोगों के खिलाफ बात कहने के लिए है। अब आप शिमोगा में आइए, जोकि जिला मुख्यालय है। यहाँ उपन्यास को माधव ब्राह्मणों के खिलाफ पाया गया। यहाँ आकर यह थोड़ा निरपेक्ष हो गया। कुछ वास्तविक चरित्रों के खिलाफ न समझा जाकर इसे एक समूह के खिलाफ समझा गया। लोगों ने इसे माधव विरोधी बताया। जबकि बेंगलूर में इसे ब्राह्मण विरोधी करार दिया गया। यहाँ यह और भी निरपेक्ष हो

गया। इसे जब नेपॉल ने पढ़ा तो उन्हें यह हिन्दू विरोधी दिखाई दिया। इस तरह यह कुछ और निरपेक्ष हो गया। और एरिक एरिक्सन की नजरों में यह उपन्यास मध्य युग के संकट को प्रतीकित करता है। यानी कि यहाँ आकर उपन्यास पूरी तरह से सार्वभौमिक हो गया।

7.6 सारांश

इस तरह हम पाते हैं कि एक ही उपन्यास अर्थ की दृष्टि से कितनी परतें समेटे रख सकता है। यह किसी भी महान उपन्यास का बड़ा गुण कहा जा सकता है और संस्कार में हम वे तमाम गुण पाते हैं। इसका सामाजिक सरोकार व्यष्टि से समष्टि तक की यात्रा कराता है। इसका सच हमें खुद अपना सच नजर आने लगता है और हम चाहे जहाँ कहीं भी हों, उसे खुद से जोड़ पाते हैं।

7.7 प्रश्न

1. संस्कार कथानक का विवेचन कीजिए।
2. संस्कार के कथानक का युग कौन सा है? इस काल का चयन करने में लेखक की दृष्टि पर चर्चा कीजिए।
3. संस्कार के पात्रों की विश्वसनीयता का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 8 'संस्कार' की पात्र योजना

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 संस्कार में चरित्र चित्रण की तकनीक

8.3 संस्कार का केन्द्रीय चरित्र

8.4 प्राणेशाचार्य और नारणप्पा: चारित्रिक द्वन्द्व

8.4.1 नारणप्पा का चारित्रिक विकास

8.4.2 प्राणेशाचार्य का व्यक्तित्व परिवर्तन

8.5 पुट्ट : प्रेत की छाया

8.6 चन्द्री : अनासक्त चाहत की प्रतिछवि

8.7 सारांश

8.8 अभ्यास प्रश्न

8.0 उद्देश्य

पिछले पाठों में हम यू.आर. अनन्तमूर्ति के लेखकीय व्यक्तित्व और संस्कार के सामाजिक बोध की चर्चा कर चुके हैं। इस पाठ में अब हम संस्कार के पात्रों और उनके चरित्र चित्रण के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा करेंगे।

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- उपन्यास में पात्रों के चित्रण की विविध तकनीकों की चर्चा कर सकेंगे;
- संस्कार के पात्रों की विशिष्टताओं का परिचय दे सकेंगे; और
- प्राणेशाचार्य और नारणप्पा के चारित्रिक द्वन्द का विवेचन कर सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

हम इकाई सं० 7 में ही इस बात की चर्चा कर चुके हैं कि साहित्य से गुजरते हुए पाठक खुद को पात्रों में ही समाविष्ट कर देना चाहता है। ऐसा कर के वह सुख-दुख का अनुभव प्राप्त कर लेता है। उपन्यास या कहानी पढ़ने के बाद घटनाएँ याद रहें, न रहें, चरित्र याद रह जाते हैं। वही उपन्यास युगांतर सिद्ध होता है, जिसके पात्र पाठकों के मन में अपना स्थान बना पाने में सफल होते हैं क्योंकि इन चरित्रों के साथ ही हम उन कृतियों को भी याद रखते हैं, जिनके मार्फत उन पात्रों से हमारा परिचय हुआ था। वैनिटी फेयर की अमेलिया सिडली, गोदान का होरी, तितली का मधुबन, शेखर एक जीवनी का शेखर आदि कुछ ऐसे ही चरित्र हैं, जो भुलाए नहीं भूलते। ऐसा लगता है मानो उनसे हमारा परिचय पुस्तक में नहीं हुआ, बल्कि हमारी हकीकी जिन्दगी में ही उनसे हमारा साक्षात्कार हुआ है। संस्कार के मुख्य पात्र प्राणेशाचार्य और नारणप्पा भी उसी कोटि में आते हैं। ऐसा लगता है

कि जैसे वे हमारे पड़ोस में रहने वाले वास्तविक लोग हों। और सिर्फ वही क्यों, चन्द्री, दुर्गा भट्ट, गरूड़ाचार्य, लक्ष्मणाचार्य, पद्मावती और पुट्ट आदि सभी किरदारों के भीतरी संस्कार तक अपने असली और खरे-खोटापन के साथ हमारे सामने उघड़ आते हैं।

पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए लेखक कई बार तो वार्तालाप का सहारा लेते हैं, जबकि अनेक बार वे अपने पात्रों को विभिन्न स्थितियों के बीच हरकत करने के लिए छोड़ देते हैं। कभी-कभी वे खुद ही अपने पात्रों के गुण-दोषों को इस तरह से खोल कर धर देते हैं कि पाठकों के सम्मुख उनका चरित्र उनसे परिचय के साथ ही स्पष्ट हो रहता है, जबकि बहुधा वे लाक्षणिक ढंग से पात्रों की खूबियों और खराबियों से पाठकों को अवगत करा देते हैं। अब हम देखेंगे कि अनन्तमूर्ति ने संस्कार में चरित्र चित्रण के लिए कौन सी तकनीक का प्रयोग किया है।

8.2 संस्कार में चरित्र चित्रण की तकनीक

संस्कार में अनन्तमूर्ति ने चरित्र के लिए अनेक तरह के तकनीक का प्रयोग किया है। कहीं तो उन्होंने संवादों के माध्यम से अपने पात्रों का चरित्र उभारने की कोशिश की है तो कहीं घटनाओं का सहारा लेते हुए चरित्र चित्रण किया है। यहाँ हम इन दोनों का एक-एक उदाहरण देकर अपनी बात स्पष्ट करेंगे।

लक्ष्मणाचार्य के संवादों के जरिए लेखक ने नारणप्पा का चरित्र इन शब्दों में प्रस्तुत किया है:

"जिसके गले में मंगल सूत्र बांधा, उसे त्याग दिया। खैर जाने दो, कहेंगे तो..." आँखें मूँद करके लक्ष्मणाचार्य ने फिर बोलना शुरू किया, "किसी दूसरी स्त्री से जा फँसा... मेरी साली पागल होकर मर गई और इसने उसका दाह संस्कार भी नहीं किया। खैर, यह भी जाने दीजिए, कहेंगे तो... अपने मां बाप का श्राद्ध भी नहीं किया इसने। इसे निकट संबंधी मानकर मैं कोई बात छिपाए नहीं रखना चाहता। मेरी पत्नी के मामा का बेटा था वह। जहां तक हो सका, अपना समझकर हम उसके किए धरे पर परदा डालते रहे। चलो भाई वह भी छोड़ दें। और उसने क्या नहीं किया? सबके सामने नदी पर आकर परंपरा से पूजे जाने वाले शालिग्राम को पानी में फेंककर थूक दिया। खैर, इसे भी जाने दीजिए। कहें तो... हम लोगों की आंखों के सामने मुसलमानों को घर में बुलाकर अपेय पान और अभक्ष्य भोजन करना चाहिए क्या? भाई भाई कहते हुए कभी हित की बात कहने के लिए हम उसके पास जाते तो वह गंदी गालियाँ बकता था। वह जब तक जीवित रहा, हम लोग उससे भयभीत ही रहे।"

इसी तरह एक छोटी सी घटना के माध्यम से लेखक ने चंद्री का चरित्र जिस तरह से उजागर किया है, वह अप्रतिम है:

"कि इतने में सारे ब्राह्मण चकित रह गए। औरतें बाहर चबूतरे पर आ गईं। किसी को अपनी आंखों पर विश्वास नहीं हो रहा था जबकि चंद्री ने अपनी सोने की माला और हाथों के कंगन आदि उतारकर प्राणेशाचार्य के सामने रख दिए और बोली, उनके संस्कार के लिए। फिर पहले वाली जगह पर जाकर खड़ी हो गई।"

यह छोटी सी घटना चंद्री को त्याग की मूर्ति ही नहीं बना देती, बल्कि एक वेश्या को सती साध्वियों की पवित्र पंक्ति में भी ला खड़ा कर देती है। लेकिन यह घटना केवल चंद्री की चारित्रिक विशेषता का ही खुलासा नहीं करती, बल्कि कहानी को एक नया मोड़ भी दे देती है।

दरअसल घटनाओं का पात्रों के साथ बहुत निकट का संबंध रहता है। घटनाएँ प्राय: पात्रों के स्वभाव के अनुकूल ही हुआ करती हैं। जिस पात्र की जैसी प्रवृत्ति होती है, वैसा ही वह बर्ताव करता है। एक ओर जहाँ घटना क्रम का निर्धारण उसके इन्हीं व्यवहारों से होता है, वहीं दूसरी तरफ घटनाएँ पात्रों के चारित्रिक गुण-दोषों को व्यक्त करती हैं। किसी भी अच्छे उपन्यास का यह खास गुण होता है कि उसमें लेखक खुद न बताकर पात्रों के हाव, भाव, व्यवहार से उसके चरित्र का निरूपण करता चलता है।

संस्कार में घटना क्रम के माध्यम से पात्रों का चरित्र निरूपण होने के कारण ही प्राणेशाचार्य का संपूर्ण व्यक्तित्व हमारे सामने परत दर परत खुलता जाता है और उपन्यास के पहले अध्याय में ब्राह्मण-श्रेष्ठ एवं गुरु प्राणेशाचार्य के बारे में हम पहले भाग के अन्त में आकर ही जान पाते हैं कि वह प्रतिकूल स्थितियों में पड़कर कितने सहज रह पाते हैं। दरअसल, मानव जीवन में प्राय: सभी सिद्धान्त परिस्थितियों पर ही निर्भर करते हैं। आम तौर पर मनुष्य परिस्थितियों के दास होते हैं। विरले ही इसका अपवाद होते हैं और घात-प्रतिघात के व्यूह में फंसने के बाद ही उनके चरित्र की दृढ़ता की परीक्षा हो पाती है। प्राय: घटनाएँ पात्रों के ऊपर कुछ ऐसा प्रभाव डालती हैं कि उनके जीवन में परिवर्तन हो ही जाता है। यही कारण है कि प्राणेशाचार्य जैसा सद्विचारी और सत्यवादी मनुष्य भी माया के जाल में फंसकर तथा परिस्थितियों से घिरकर व्यभिचारी हो जाता है और अपनी प्रतिष्ठा बचाए रखने के लिए उसे झूठ का सहारा लेना पड़ता है।

8.3 संस्कार का केन्द्रीय चरित्र

उपन्यास घटना प्रधान ही क्यों न हो, उसमें एक केन्द्रीय चरित्र अवश्य होता है। उपन्यास का घटना चक्र उसके इर्द-गिर्द ही घूमता है। दूसरे शब्दों में कहें तो कोई भी उपन्यास किसी एक केन्द्रीय चरित्र के सुख-दुख, सफलता-असफलता, संघर्ष-उपलब्धि की गाथा है। अन्य तमाम पात्रों की रचना उस एक केन्द्रीय चरित्र के व्यक्तित्व के विभिन्न आयामों को प्रकाशित करने के उद्देश्य से की जाती है। उदाहरण के लिए, श्रीरामचन्द्रजी का धीरोदात्त चरित्र रावण की चेष्टाओं अथवा कृत्यों के आलोक में ही परखा जा सकता है। दोनों दो जीवन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और श्रीरामचन्द्रजी के श्रेष्ठ जीवन मूल्यों की स्थापना तभी हो पाती है, जबकि वह रावण द्वारा पेश की गई तमाम चुनौतियों का सामना करते हुए उसे परास्त कर देते हैं। रामायण में रावण कोई साधारण खलनायक नहीं होकर प्रतिनायक तौर पर सामने आता है, जो श्रीरामचन्द्र के आर्य जीवन मूल्यों के समानान्तर एक अलग जीवन मूल्य प्रस्तुत करता है। ऐसे में सीता अपहरण की घटना राम-रावण युद्ध का महज बहाना ही कही जा सकती है, जो नहीं घटित होती तो भी राम-रावण युद्ध अवश्यंभावी था और तब कोई अन्य घटना इस युद्ध का ब्याज बन जाती।

दुनिया के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में नायिक-प्रतिनायक के बीच का यह संघर्ष बखूबी देखा जा सकता है। वस्तुत: कोई भी महान एवं महत्वपूर्ण महाकाव्य वही हो सकता है जिसमें संघर्ष दो व्यक्तियों के बीच न होकर दो जीवन मूल्यों के बीच हो। इस दृष्टि से देखें तो संस्कार में एक महान और महत्वपूर्ण उपन्यास होने के सभी तत्व हैं। गोचर तौर पर प्राणेशाचार्य और नारणप्पा के बीच का संघर्ष होते हुए भी यह वस्तुत: दो जीवन मूल्यों के बीच का संघर्ष है, जिसे कि प्राणेशाचार्य और नारणप्पा प्रतीकित करते हैं। हाँ, आदि महाकाव्यों की तरह संस्कार के लेखन के पीछे अनन्तमूर्ति का काव्य प्रयोजन आदर्श जीवन मूल्यों की स्थापना न होकर जीवन के यथार्थ को पूरी तरह उघाड़ कर धर देना है। संभवत: यही कारण है कि ब्राह्मण-श्रेष्ठ समझे जानेवाले प्राणेशाचार्य उपन्यास के अन्त में न केवल खुद

द्वारा व्याख्यायित नियमों और स्थापनाओं को तोड़ते दिखाई देते हैं, बल्कि वह सब करते नजर आते हैं जिसे कि वह अब तक अधम और निकृष्ट कहकर त्याज्य बताते रहे थे।

एक तरह से देखा जाए तो यह प्राणेशाचार्य द्वारा प्रतिपादित जीवन मूल्यों की हार और नारणप्पा के जीवन मूल्यों की जीत है। नारणप्पा की मृत्यु से उसके जीवन मूल्य समाप्त नहीं हो जाते, बल्कि प्राणेशाचार्य ही उसे आत्मसात कर लेते हैं। इस तरह नारणप्पा की मृत्यु के पश्चात उसके जीवन मूल्य प्राणेशाचार्य के परिवर्तित व्यक्तित्व में जीवित रहते हैं, जबकि कहने को प्राणेशाचार्य भले ही जीवित हों पर उनके अपने जीवन मूल्य कवलित हो चुके हैं। ऐसे में यह सुनिश्चित कर पाना कठिन हो रहता है कि संस्कार का नायक कौन है–ब्राह्मण श्रेष्ठ प्राणेशाचार्य अथवा ब्राह्मणवादी रूढ़ियों का आजन्म विद्रोही नारणप्पा? भौतिक दृष्टि से तो प्राणेशाचार्य ही इस उपन्यास के नायक लगते हैं, पर अभौतिक रूप से नारणप्पा संस्कार का नायक जान पड़ता है। प्राणेशाचार्य जीवित तो रहते हैं पर उनका स्वत्व मर जाता है, जबकि दूसरी ओर नारण्प्पा मरकर भी प्राणेशाचार्य में जीवित रहता है। हालांकि प्राणेशाचार्य उपन्यास के नायक हों, न हों, उसके केन्द्रीय चरित्र या पात्र वही रहते हैं। संस्कार वस्तुत: प्राणेशाचार्य के नारणप्पा में तब्दील होने की कहानी है।

8.4 प्राणेशाचार्य और नारणप्पा: चारित्रिक द्वन्द्व

त्याग और आत्मदान की इच्छा प्राणेशाचार्य में बचपन से ही थी। इसे उन्होंने चुनौती के तौर पर स्वीकार किया था और फिर समय के साथ उसके ही दास बन गए थे। निष्काम कर्म की अवधारणा में निष्णात होने के बाद भी वह मुक्ति के कामी थे और उसके लिए सायास सचेष्ट रहते थे। यही कारण था कि उन्होंने जानते-बुझते हुए भी जन्म से पंगु और बीमार स्त्री के साथ शादी कर ली थी। उनका मानना था कि मुक्ति मार्ग के पथिक को ब्राह्मण का जन्म देकर भगवान् ने उसकी परीक्षा के लिए ही शायद संसार चक्र में उसे बांधा है। अपने इस भाग्य को वह 'पंचामृत की भांति पवित्र' मानते और इस पर इतराते हुऐ सोचते कि 'जीवन भर की रोगिणी से विवाह बंधन में बंधकर मेरा जीवन सफल होगा और उसमें परिपक्वता आएगी'। इस सोच ने उनके भीतर इस दंभ को जगह दी थी कि 'जन्म से ही मेरी प्रकृति सात्विक है। यह रोगग्रस्त पत्नी मेरे त्याग और उत्सर्ग की वेदी है'।

भागीरथी उनके लिए पत्नी न होकर किसी पारस पत्थर के समान थी, जिसपर कसकर वह अपने व्यक्तित्व का परीक्षण कर सकते थे। उनका मानना था कि निष्काम कर्मों के द्वारा, निरासक्त रहते हुए जीवन निर्वाह की अपनी क्षमता उनमें पैदा हो गई हैं या नहीं, इसकी परीक्षा के लिए प्रभु ने मानो घर में ही इस निरीह रोगिणी को उनके हाथों में सौंप रखा है। सुबह के स्नान-ध्यान के बाद पत्नी की सेवा-सुश्रूषा, फिर नदी के उस पार जाकर मंदिर में हनुमानजी की पूजा, दोपहर के भोजन के पश्चात् अग्रहार के अन्य ब्राह्मणों के समक्ष रामायण, महाभारत भागवत् आदि का पारायण, शाम को फिर स्नान, संध्यावंदन, पत्नी के लिए मांड, दवा, रसोई, खाना और फिर चबूतरे पर बैठकर ब्राह्मणों के सामने प्रवचन-इसी एक ढर्रे से बँधी थी उनकी दिनचर्या। पत्नी और स्वंय के लिए रसोई पकाना, अपने हाथ से उसे स्नान करा कर कपड़े पहनाना, प्रसाद के फूलों को उसके बालों में सजाना, उसे दवा पिलाना आदि उनकी इसी दिनचर्या में शामिल था। रोगिणी पत्नी के साथ एकव्रती जीवन जीते हुए रति-सुख न तो उन्होंने जाना था और न ही उसकी इच्छा रखते थे। वह ऐसा कोई भी कार्य नहीं करते थे जो मुक्ति पथ में बाधक हो, जबकि उन तमाम चुनौतियों के लिए प्रस्तुत रहते थे, जिनसे उसकी इच्छा-शक्ति की परीक्षा हो सकती थी। सच तो यह था कि उन्होंने अपनी इच्छाओं का दमन कर रखा था और उसी में वह खुश थे, क्योंकि उनके अनुसार यही उनकी मुक्ति का प्रशस्त पंथ था।

इसी तरह नारणप्पा भी उनकी साधु प्रकृति की परीक्षा का साधन बन गया था। सार्वजनिक तौर से रखैल को अपने घर में रखनेवाला, मुसलमानों के साथ उठने-बैठने वाला, मंदिर के तालाब की निषिद्ध मछलियों का भक्षण करने वाला, वेद-पुराणों की बजाय नाटक और संगीत में मन लगानेवाला यह नारणप्पा हमेशा से ही उनके सामने समस्या बनकर खड़ा रहा था। नारणप्पा की मरणासन्न माँ को उन्होंने वचन दिया था कि 'तुम्हारे पुत्र की रक्षा करूँगा। उसे सन्मार्ग पर लाऊँगा'। यही कारण था कि 'ईश्वर की कृपा से उसके उद्धार की कामना' करते हुए सप्ताह में दो दिन उन्होंने भोजन तक त्याग दिया था। इसके बावजूद नारणप्पा सन्मार्ग पर नहीं आया था। वह समझ नहीं पाते कि शनि की किस दशा में वह ऐसा बन गया था। फिर भी उन्हें विश्वास था कि वह अपने इस प्रयोजन में सफल होंगे। इसीलिए पूरे अग्रहार की इच्छा के विरूद्ध रहकर भी उन्होंने नारणप्पा के कुल-बहिष्कार पर अपनी सहमति की मुहर नहीं लगाई थी। ऐसा करने के पीछे उनका मकसद उसकी माँ को दिए गए वचन की रक्षा करना नहीं था, बल्कि उनका अपना दंभ था। उन्हें भी जिद्द थी कि देखें 'अग्रहार में अंतिम विजय उनके सनातन धर्म और उनकी तपस्या की होती है या नारणप्पा के राक्षसी स्वभाव की'।

नारणप्पा संभवत: उनके इस स्वभाव से परिचित था। तभी तो जब-तब वह उन्हें ललकार देता था–'देखते हैं आचार्यजी, अंत में आप जीतते हैं या मैं? कितने दिनों तक आपका यह ब्राह्मणत्व चलेगा?' उसकी भी जिद्द थी कि 'मैं ब्राह्मणत्व का नाश कर के ही छोड़ूँगा'। संस्कार का पहला भाग इन दोनों जिद्दों के टकराहट की कहानी है–ऐसे दो जिद्दों की टकराहट की कहानी, जो दो अलग-अलग जीवन मूल्यों के आधार पर खड़े हैं। ब्राह्मणत्व के प्रति नारणप्पा का यह गुस्सा अकारण नहीं था। अग्रहार के अधिकतर ब्राह्मणों के दोहरेपन और पोंगा पंडिताई से वह भली-भाँति परिचित था। वह स्वंय भी उनकी लोलुपता और धोखे का शिकार हुआ था। गरूड़ाचार्य के पिता ने धर्म-पीठ की आड़ लेकर उसका खेत हड़पना चाहा था। जबकि लक्ष्मणाचार्य ने अपनी पगली साली को उसके गले मढ़ दिया था। नारणप्पा स्थितियों से समझौता करनेवाले उन कमजोर लोगों में न था, जो धर्मपीठ के गुरु महाराज के निर्णय को आँख-मुँह बंद करके स्वीकार कर लेता। लिहाजा उसने अपने खिलाफ दिए गए इस निर्णय की अवमानना कर के 'दैवाज्ञा' का तिरस्कार कर दिया। यही नहीं, बल्कि उसने गरूड़ाचार्य के खानदान से पीढ़ियों का अपना संबंध भी तोड़ लिया था। इसी तरह अपने गले पड़ी रोगिणी स्त्री को त्यागकर अछूत कन्या से उसने संबंध जोड़ लिया था।

अपने आतताइयों को नीचा दिखाने के लिए उसने वह हर काम किया, जो उनके धर्म में निषिद्ध था और इस तरह अपने सजातीयों के प्रति उसका यह गुस्सा ब्राह्मणत्व के प्रति विद्रोह में तब्दील हो गया। उसके सामने दो ही रास्ते खुले थे - वह अपने ब्राह्मणत्व की रक्षा करे या फिर अपने अस्तित्व की। जब उसने समझ लिया कि अपने ब्राह्मणत्व की रक्षा करते हुए वह अपने अस्तित्व की रक्षा नहीं कर सकेगा तो उसने ब्राह्मणत्व को ही त्याग दिया। उसे इस बात का इल्म था और यह बात वह व्यंग्य से प्राणेशाचार्य को कहता भी था कि 'यदि मैं ब्राह्मण बना रहता तो आपके गरुड़ाचार्य अब तक मुझे आचमन के साथ लील चुके होते। और जायदाद के लालच से गंदगी में पड़े सिक्के को भी जीभ से चाटकर उठा लेनेवाला वह लक्ष्मण! वह अपनी एक और कंकाल-सी साली मेरे गले मढ़ चुका होता।'

प्राणेशाचार्य से उसका कोई निजी वैर नहीं था पर अग्रहार में ब्राह्मणत्व के प्रतीक वही थे और इस कारण ब्राह्मणत्व का नाश करने का उसका संकल्प तभी पूरा हो सकता था कि जब वह उन्हें परास्त कर दे। गरुड़ाचार्य, लक्ष्मणाचार्य, दुर्गा भट्ट आदि को तो ब्राह्मण मानता ही नहीं था। उसके अनुसार वे सभी अपने-अपने संस्कार से च्युत हो चुके थे।

जहाँ तक प्राणेशाचार्य का सवाल था, वह जानता था कि दिग्गज पंड़ितों के साथ तर्क-चर्चा करके दक्षिण के सभी पीठों से प्रशस्ति पानेवाले वेदान्त-शिरोमणि प्राणेशाचार्य को वह शास्त्रार्थ में नहीं हरा सकता। वह ऐसा करना चाहता भी नहीं था। ऐसा करके तो वह उन्हीं स्थापनाओं को एक तरह से स्वीकार कर लेता जिनका कि वह विरोधी था। उसका मकसद तो प्राणेशाचार्य के ज्ञान को चुनौती देना नहीं, बल्कि उनके ब्राह्मणत्व को ही चुनौती देना था। उसके लिए 'ब्राह्मणत्व के नाश' का अर्थ उनके शील को बरबाद कर देना था और इसके लिए वह उन्हें जब-तब उकसाता रहता था।

यह ठीक है कि नारणप्पा ने ब्राह्मणत्व का त्याग कर दिया था, किन्तु यह भी सच था कि ब्राह्मणत्व ने उसका त्याग नहीं किया था। इसके दो कारण थे। पहला कारण तो प्राणेशाचार्य ही थे, जोकि उसे सुधाकर या सन्मार्ग पर लाकर अपनी जीत सुनिश्चित करना चाहते थे और दूसरी वजह नारणप्पा स्वयं था, जिसने यह ऐलान कर के सबों को पशोपेश में डाल दिया था कि यदि उसे बहिष्कृत किया गया तो वह मुसलमान बन जाएगा। उसने सार्वजनिक तौर पर सबों को धमकी दी थी कि 'बहिष्कार करके तो देखो। मैं मुसलमान हो जाऊँगा और तुम सबको खंभे से बँधवाकर तुम्हारे मुँह में गोमांस ठूँस दूँगा और देखूँगा कि तुम्हारा ब्राह्मणत्व मिट्टी-मिट्टी हो जाए।' उसकी यह धमकी जहाँ शेष ब्राह्मणों के लिए एक आतंक का कारण बनी हुई थी, वहीं यह प्राणेशाचार्य के लिए अच्छा व्याज थी क्योंकि इसी की आड़ में वह अग्रहार के अन्य ब्राह्मणों के विरोध के बावजूद नारणप्पा को बहिष्कृत किए जाने से बचा सकते थे।

नारणप्पा इस बात को भली-भाँति जानता था कि जिस धर्म का सहारा लेकर उसके स्वजातीय ब्राह्मण दूसरे लोगों का आर्थिक शोषण करते हैं, वही धर्म उनकी सबसे बड़ी कमजोरी भी है। यही वजह है कि एक तरफ तो वह इन ब्राह्मणों की तमाम स्थापनाओं पर कुठाराघात करता रहा था, जबकि दूसरी तरफ उन्हें यह धमकी भी देता रहा था कि वह उनका धर्म भ्रष्ट कर देगा। कभी शालीग्राम की मूर्ति को नदी में फेंककर, तो कभी गजानन कुंड की मछलियों को बारूद की मदद से मारकर, तो कभी अग्रहार के बच्चों को बिगाड़कर वह उनके ब्राह्मणत्व को चुनौती देता रहा था।

परंपरा से पूजे जानेवाले शालीग्राम को नारणप्पा द्वारा नदी में फेंककर उसपर थूकना महज संयोग नहीं है। अग्रहार के ब्राह्मणों में सम्माननीय स्थान रखते हुए भी डॉ. अनन्तमूर्ति स्वयं ब्राह्मणवादी रूढ़ियों के सर्वथा खिलाफ रहे हैं। उनके खुद के ही अनुसार, 'जिस पवित्र जगत में मैं रहता था, उसके मिथक को तोड़ने का एकमात्र तरीका यही हो सकता था कि मैं कुछ ऐसा करूँ कि जो नाटकीय होने के साथ ही असामान्य भी हो। जिससे कि मैं स्वयं के सम्मुख यह साबित कर सकूँ कि पत्थर कैसा भी हो, वह पत्थर ही है और उसी तरह पेड़ महज पेड़ है, कुछ और नहीं। इसके लिए मैंने किसी खास पेड़ के नीचे रखा एक विशेष पत्थर चुना। मुझे बताया गया था कि यह भगवान का प्रतिरूप है। मैंने एकान्त देखकर चुपचाप उस पर पेशाब कर दिया। इसके बाद मैंने आतंक के साये में उनके दिन और रातें गुजारीं। बराबर यह लगा रहता कि जैसे सजा के तौर पर कुछ घटनेवाला है।'

8.4.1 नारणप्पा का चारित्रिक विकास

हालाँकि अनन्तमूर्ति ने अपने इस डर को भी पारिभाषित करने की कोशिश की है। अन्यत्र वह लिखते हैं, 'मुझे अपने स्वत्व के खोने का भी डर था। मुझे भय था कि मैं अपने समुदाय से काट कर फेंक न दिया जाऊँ। कोई भी समुदाय के इस बंधन से आसानी से नहीं निकल सकता।' यह सही है कि अनन्तमूर्ति दुविधाग्रस्त हैं। उनकी यह दुविधा किसी

भी मध्यवर्गीय व्यक्ति की दुविधा है, लेकिन उनका पात्र नारणप्पा इस दुविधा में जकड़ा हुआ नहीं है। वह तो ब्राह्मणत्व को त्यागने का मन बना चुके हैं, इसलिए उसके मन में समुदाय से काटकर फेंक दिए जाने का भय नहीं है। वह निडर है क्योंकि उसके मन में किसी तरह की कोई दुविधा नहीं है। वह निडर है क्योंकि उसके पास खोने के लिए न तो धर्म है और ना ही संस्कार। बल्कि उससे दूसरों को ही डर है कि कहीं वह बहिष्कृत होने के बाद उन्हें जबरन मुसलमान न बना दे। नारणप्पा बखूबी जानता है कि दूसरों की जमीन-जायदाद हड़पनेवाले, एक-दूसरे से ईर्ष्या-द्वेष रखनेवाले और धर्म की व्याख्या अपने हित में करने वाले ये ब्राह्मण केवल अपने धर्म से च्युत होने से ही डरते हैं, अन्य कुछ से नहीं। और इसी कारण वह उनकी ही तलवार को उनके खिलाफ इस्तेमाल कर सकने में सफल रहता है।

प्रगतिवादी विचारों के पक्षधर डॉ. अनन्तमूर्ति ने नारणप्पा का यह चरित्र अपने पहले उपन्यास 'संस्कार' में अनजाने में गढ़ दिया हो, पर बाद में भी चरित्र ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। यही वजह है कि उनके दूसरे उपन्यास 'भारतीपुर' में संस्कार का यह नारणप्पा, जगन्नाथ के रूप में फिर हमारे सामने आता है। नारणप्पा दबाया-कुचला जाकर विद्रोही हो गया था, जबकि जगन्नाथ, पढ़ा-लिखा और पश्चिमी शिक्षा में दीक्षित होने के कारण विद्रोही है। एक का विद्रोह अपने जैविक अस्तित्व की रक्षा के लिए है, जबकि दूसरे का विद्रोह अपने बौद्धिक सत्व के प्रदर्शन के लिए है। नारणप्पा यदि विद्रोह न कर बैठता तो खुद उसके अनुसार अग्रहार के बांह्मण उसे आचमन के साथ लील चुके होते। दूसरी ओर भारतीपुर के जगन्नाथ की स्थिति ऐसी नहीं है। वह स्वयं ही उस शोषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है, जो भगवान मंजुनाथ की आड़ में न सिर्फ इस कस्बे की भावात्मक जिन्दगी को प्रभावित करता है, बल्कि वहाँ के आर्थिक जीवन का भी नियामक है।

जगन्नाथ का विद्रोह अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए न होकर सामाजिक परिवर्तन के लिए है। उसका संघर्ष नारणप्पा के संघर्ष की तरह एकाकी नहीं है। वहाँ के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का खात्मा करने के उद्देश्य से वह क्षेत्र के अछूतों का नेतृत्व संभाल लेता है और पत्थर से बने भगवान की अशक्तता में उन्हें यकीन दिलाने के लिए वर्षों से महिमा-मंडित अपने ही परिवार के शालिग्राम के मिथक को तोड़ना चाहता है। भगवान मंजुनाथ से टक्कर लेने की दिशा में यह उसका पहला कदम है। बचपन से ही पत्थर की पूजा को संशय की नजर से देखनेवाले अनन्तमूर्ति इन दोनों ही उपन्यासों में ब्राह्मणत्व के तमाम पाखंड़ों को एक-एक करके अपनी लेखनी का निशाना बनाते हैं। संस्कार का नारणप्पा यदि शालिग्राम को नदी में फेंककर शोषक ब्राह्मणों की चुनौती को स्वीकार करने का संकेत देता है तो भारतीपुर का जगन्नाथ शालिग्राम को गर्भग्रह से निकालकर वहाँ के शोषितों के बीच वर्षों से कायम अंधविश्वास को झकझोरने की कोशिश करता है।

एक तरह से देखा जाए तो भारतीपुर का जगन्नाथराय संस्कार के नारणप्पा का ही विकसित रूप है, जो समय और शिक्षा के साथ प्रौढ़ होता गया है। भारतीपुर के शोषित समाज के लिए मंदिर के दरवाजे बंद हैं। वे स्वयं भी इसे अपनी नियति मान बैठे हैं। ऊपर से उन्हें सदियों से यही बताया गया है कि यदि वे मंदिर में जाएँगे तो उन्हें खून की उल्टी होगी। अत: मंदिर में जाकर न तो वे अपने अंधविश्वास को तर्क की कसौटी पर परखना चाहते हैं और ना ही दैवी प्रकोप को खुला आमंत्रण देने का खतरा उठाना चाहते हैं। यह शायद महज संयोग नहीं है कि संस्कार में भी हमारा साक्षात्कार कुछ ऐसी ही स्थितियों से होता है। भारतीपुर में जो मान्यता मंदिर को लेकर है, संस्कार में वही मान्यता गजानन कुंड की मछलियों को लेकर है। अग्रहार के ब्राह्मणों को विश्वास है कि जो कोई भी इन मछलियों को मारकर खाएगा, उसे खून की उल्टियाँ होंगी। नारणप्पा बारूद से उड़ाकर उन्हें केवल मारता ही नहीं, बल्कि अपने मुसलमान मित्रों के साथ मिलकर उनका भक्षण भी करता है।

डॉ. अनन्तमूर्ति संभवत: अपने पहले उपन्यास में ही मंदिर-तंत्र से लोहा लेने का साहस नहीं जुटा सके थे। जहाँ वे यह लिखते हैं कि कोई भी समुदाय की जकड़ से आसानी से नहीं निकल सकता, वहाँ वे यह भी लिखते हैं कि इंगलैण्ड जाने से पहले मैंने एक ईसाई लड़की से शादी कर ली थी, और इसने भी मुझे आतंकित कर रखा था क्योंकि मेरे जैसे रूढ़िवादी लड़के के लिए अपने प्रिय लोगों, अपनी परंपराओं और हृदय के करीब पड़ने वाली चीजों से कट कर रहना संभव न था। ये सभी अब भी मेरे बेहद करीब और मेरी प्रिय हैं।'
संस्कार का जब प्रकाशन हुआ तो उसे ब्राह्मणवाद के खिलाफ कड़ा प्रहार माना गया था। हालांकि अनन्तमूर्ति स्वयं को एक भीतरी आलोचक मानते रहे हैं और उनके अनुसार यह भीतरी आलोचक कई मायनों में अच्छा होता है क्योंकि तमाम बुराइयों और अच्छाइयों को जान-समझ कर ही वह उनकी आलोचना करता है और इस आलोचना में रचनात्मकता का पुट आप से आप आ जाता है क्योंकि उसका विरोध भी उन्हीं चीजों से रहता है, जोकि उसकी प्रिय हैं।

अपने तमाम विद्रोही तेवर के बावजूद डॉ. अनन्तमूर्ति अपने पहले उपन्यास संस्कार में मंदिर पर सीधा हमला करने का साहस नहीं जुटा पाए। इसकी बजाए उन्होंने मंदिर की मछलियों को निशाना बनाया। फिर भी नारणप्पा के जरिये उन्होंने अपने अगले उपन्यास 'भारतीपुर' की घटनाओं का आभास तो दे दिया है। नारणप्पा, भारतीपुर के जगन्नाथ की तरह शूद्रों को मंदिर में प्रवेश कराने के लिए भले ही उद्धत न हो, किन्तु काल की गति और परिस्थिति पर तो उसकी नजर है ही। तभी तो प्राणेशाचार्य द्वारा उसके 'हित' की बात कहने पर वह ब्राह्मण धर्म की 'निन्दा' करते हुए कहता है, 'अब आपका शास्त्र, धर्म नहीं चलेगा। आगे आएगा काग्रेंस का राज। अछूतों को देव-स्थान में प्रवेश का अधिकार आपको देना होगा।' संस्कार में मंदिर पर सीधे प्रहार न करके और इसका संकेत भर देकर संभवत: वह यह परखना चाहते थे कि समाज, खासकर उनका अपना समुदाय, उनके लेखन को किस हद तक स्वीकार करता है। चूँकि उन्होंने विधार्मिक विवाह किया था, अत: उनकी सहज आशंका थी कि उनके स्वजातीय उनका बहिष्कार न कर दें। ऐसे में मंदिर तंत्र पर सीधा हमला करके वह उनके गुस्से को और भड़काना नहीं चाहते थे। यही वजह है कि लेखक के तौर पर वह फूँक-फूँक कर कदम रखने की कोशिश करते हैं। यह कुछ ऐसा ही है जैसे कि भारतीपुर में अछूतों को मंदिर में प्रवेश कराने से पहले उनसे शालिग्राम छुलाना। जिस तरह से ऐसा कर के भारतीपुर का नायक जगन्नाथ अछूतों को बड़े संघर्ष के लिए तैयार किया है, ठीक उसी प्रकार मंदिर से पहले मंदिर की मछलियों को निशाना बना कर लेखक यानी डॉ. अन्नतमूर्ति स्वयं भी अपने आगामी लेखन के लिए पाठकों की विचार-भूमि को तैयार करते नजर आते हैं। हालाँकि मछलियों को निशाना बनाकर भी उन्होंने मंदिर-तंत्र पर उतना ही बड़ा प्रहार किया है, जितना कि मंदिर पर सीधा प्रहार करके वह कर पाते। तभी तो नारणप्पा द्वारा मंदिर की मछलियाँ मारे जाने को लेकर प्राणेशाचार्य चिंतित हो उठते हैं।

लोगों को विश्वास था कि नदी में पलने-खेलनेवाले मछलियों को जो पकड़ेगा, वह रक्त की कै करके मर जाएगा। हालाँकि नारणप्पा ने लोगों के इस अंधविश्वास की उपेक्षा की थी, फिर भी उसका बाल भी बाँका नहीं हुआ था। चिंता से अधिक यह प्राणेशाचार्य के मन में भय जगा गया था। उन्होंने 'सोचा कि नाराण्प्पा के ऐसा करने पर शूद्र आदि लोगों के मन में से भी न्याय और धर्म का भय जाता रहेगा। दैवी भय से ही सही, सामान्य जनों में कुछ थोड़ी-सी तो धर्मबुद्धि अभी तक बच रही है। अब वह भी नष्ट हो जाएगी, तो.....? इस धरती की रक्षा करने की शक्ति तब कहाँ से आएगी?' सच तो यह है कि प्राणेशाचार्य का यह भय जितना धरती को लेकर है, उससे कहीं ज्यादा यह अपनी सत्ता को लेकर है।

अपनी सत्ता को बचाए रखने के लिए धर्म के ठेकेदार ऐसे तमाम तरह के अंधविश्वासों को बनाए रखते हैं जो आमजन के मन को आतंकित करके उन्हें सीमा में बांध रखें। धर्माचार्य प्राणेशाचार्य स्वयं भी उनसे अलग नहीं हैं। मछलियों को मारकर नारणप्पा ने उनकी इसी सत्ता को चुनौती दी थी।

डॉ. अनन्तमूर्ति के अनुसार किसी भी महान धर्म के चार प्रमुख कार्य होते हैं:

- प्रत्येक धर्म की प्रमुख चिंता उस समुदाय के धनाढ्य और संभ्रान्त लोगों की सुरक्षा और संरक्षण को लेकर है,
- जब कभी कोई देश संकट में होता है और बाहरी खतरे का सामना कर रहा होता है तो मुख्य रूप से धर्म का ही इस्तेमाल दुश्मन से लड़ने के लिए किया जाता है,
- सभी महान धर्म ऐसे माध्यम हैं, जिनसे हम अपने बच्चों में नैतिक मूल्य संप्रेषित कर सकते हैं,
- प्रत्येक धर्म ध्यान और मनन की विद्या है।

सुप्रसिद्ध समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया को उद्धत करते हुए वह कहते हैं, "जबकि आप पहले दो का विरोध कर रहे हों तब धर्म के आखिरी दो कार्य को भुला नहीं दें"। वह आगे कहते हैं, पहले दो कार्यों की आलोचना करते हुए हमें आखिरी दो का मतलब समझना चाहिए। यही कारण है कि रामानुज संभव हो सके, इसी तरह से शंकर संभव हो सके और ऐसे ही नारायण गुरू या विवेकानन्द संभव हो सके। उन्होंने धर्म के आखिरी दो कार्यों की असीमित क्षमताओं की खोज की।' स्वयं अनन्तमूर्ति का विरोध भी इन दो आखिरी कार्यों को लेकर नहीं है। उनका विरोध तो उस स्थिति से है, जहाँ धर्म के ठेकेदार खुद अपने हितों की रक्षा के लिए धर्म ग्रंथों की अनाप-शनाप व्याख्या करते हैं। उनका विरोध तो उस धार्मिक व्यवस्था से है, जिनमें धनी और सक्षम लोग मिलकर निर्धन और निरीह लोगों का शोषण करते है। संस्कार में नारणप्पा और भारतीपुर में जगन्नाथ उनके इसी विरोध को मूर्त रूप देते हैं।

8.4.2 प्राणेशाचार्य का व्यक्तित्व परिवर्तन

नारणप्पा और जगन्नाथ दोनों ही स्वयं ब्राह्मण होने की वजह से ब्राह्मणत्व की भीतरी आलोचना कर सकने की स्थिति में है। क्या यही स्थिति खुद अनन्तमूर्ति की नहीं है? अग्रहार में स्वजातीय ब्राह्मणों के बीच पले-बढ़े होने के कारण वह उनके छद्म और दिखावे से ही नहीं, बल्कि उनके दोहरेपन से भी भली-भाँति परिचित हैं। इन पाखंडी ब्राह्मणों का यह दोहरापन संस्कार में पुरजोर तरीके से उभरकर आता है। अन्य ब्राह्मणों की कौन कहे, खुद ब्राह्मण-श्रेष्ठ प्राणेशाचार्य भी परिस्थितिवश दोहरेपन का शिकार हो जाते हैं। उपन्यास के पहले भाग के आरंभ में जहाँ वह चन्द्री की आवाज सुनकर ही चिंतित हो उठते हैं कि 'उससे बात करने पर फिर से स्नान करना पड़ेगा और फिर भोजन हो सकेगा', वहीं इसी भाग के अंत में हम पाते हैं कि 'सपने में ही उनके हाथ उसके स्तनों को दबाते रहे। वे अब खड़े नहीं रह पा रहे थे। चन्द्री ने आचार्य से लिपटकर उन्हें अपने पास समेट लिया। आचार्य जी को अभी तक अपनी भूख महसूस नहीं हुई थी। अब वह अचानक भड़क उठी और उन्होंने विपद में पड़े घबराए हुए किसी बच्चे की तरह पुकारा-"ओ माँ"। चन्द्री ने उन्हें अपने वक्ष से सटा लिया। आंचल से केले निकालकर उन्हें खिलाए। फिर अपने हाथों से अपनी साड़ी उतार करके जमीन पर फैला दी और प्राणेशाचार्य को मजबूत आलिंगन में बांधकर लेट गई।'

यहाँ आकर प्राणेशाचार्य और नारणप्पा एक हो रहते हैं। शरीर की कामुकता की भावना प्राणेशाचार्य के मन के किसी कोने में दबी पड़ी थी-सदाचार के बंधनों में कसी हुई अवश। यह सदाचार ही था कि जो प्राणेशाचार्य और नारणप्पा को अलग करता था, लेकिन 'चन्द्री की छातियों के एक स्पर्श से ही उनके अंदर का जानवर अपना स्वाभाविक और आक्रामक रूप दिखाने लगा'। यह तो नारणप्पा था जो कहा करता था कि 'अपने पुराणों के ऋषियों की तरह जीना सीखिए। मछली की स्वादिष्ट तरी बनानेवाली किसी मत्स्यगंधा-सी मछुआरिन को अपनाइए और उसकी बाँहों में लिपटकर सोइए। आँखें खुलने पर यदि आपको परमात्मा न दिखाई दे तो मेरा नाम नारणप्पा नहीं।' नारणप्पा के न रहने के बाद प्राणेशाचार्य अब उसी स्थिति से रूबरू थे। जब तक वह ऐसी किसी स्थिति से रूबरू नहीं हुए थे, तब तक उनका सदाचार उनके साथ था लेकिन ज्यों ही किसी परस्त्री का स्पर्श हुआ, उनका सदाचार कपूर बनकर काफूर हो गया। कामुकता किसी चीते के समान चिंघाड़कर बरबस फूट पड़ी और प्राणेशाचार्य और नारणप्पा के बीच का भेद जाता रहा।

इस दृष्टि से देखा जाए तो अनन्तमूर्ति का संस्कार हिन्दी के मूर्धन्य उपन्यासकार भगवती चरण वर्मा के सुप्रसिद्ध उपन्यास चित्रलेखा के करीब जान पड़ता है। चित्रलेखा में भी हम पाते हैं कि चित्रलेखा के रूप पर आसक्त होकर उसका नायक संन्यासी से व्यभिचारी बन जाता है, जबकि प्रतिनायक अपनी कामुक वृत्ति का त्याग कर सर्वथा अनासक्त हो जाता है। हालांकि चित्रलेखा की समस्या संस्कार की तरह अपने स्वत्व के खोज की समस्या नहीं है। फिर भी दोनों की स्थितियाँ एक समान हैं और हम पाते हैं कि उन समान स्थितियों में दोनों ही नायकों का व्यवहार भी एक सा ही रहता है। एक क्षण किसी के व्यक्तित्व को कितना और किस कदर बदल देता है, इस तथ्य को हम इन दोनों ही उपन्यासों में बखूबी देख सकते हैं। मनोवैज्ञानिक आधार पर देखा जाए तो संस्कार तथा चित्रलेखा की कहानी का केन्द्रीय तत्व यह क्षण ही है, जो कि इनके नायकों के चरित्रिक क्षरण का सूत्रपात करता है।

8.5 पुट्ट : प्रेत की छाया

संस्कार के तीसरे भाग में अचानक ही किसी प्रेत के समान पुट्ट का प्रादुर्भाव होता है : वे चल रहे थे और चलते-चलते उन्हें लगा कि जंगल में उनके पीछे-पीछे कोई चला आ रहा है। ऐसा लगा कि उसकी आँख उनकी पीठ में धँसी हुई है। उन्होंने पीठ सीधी की और चलते रहे। घूम कर वह देखना चाहते थे कि कौन उनका पीछा कर रहा है, लेकिन डर भी लग रहा था। उन्होंने कोई आवाज सुनी और पलट के देखा। देखा कि कुछ फासले पर एक नौजवान कदम बढ़ाकर उनकी ओर चला आ रहा है। प्राणेशाचार्य तेज कदमों से चलने लगे। जितनी बार भी उन्होंने घूमकर देखा, वह नौजवान भी उसी तेजी से उनके पीछे चल रहा था। वे और भी तेज चलने लगे। लेकिन उस नौजवान ने उनका पीछा नहीं छोड़ा, बल्कि उसकी तेज चाल से उनके और उसके बीच का फासला कम होने लगा।

इसके बाद तो प्राणेशाचार्य ने उससे पीछा छुड़ाने का जितना ही यत्न किया, उतना ही अधिक वह उनके लिए अविभाज्य हो गया : मालेर का पुट्ट प्राणेशाचार्य के पीछे ही लगा रहा, अतीत के उनके किसी पाप की तरह। जब वह रुकते तो वह भी रुक जाता, बैठते तो बैठ जाता। तेज कदमों से चलते तो वह भी अपनी गति तेज कर देता, धीमें होते तो वह भी धीमें कदमों चलता। उनका साथ छोड़ने के लिए वह तैयार नहीं था। प्राणेशाचार्य की परेशानी इससे बढ़ रही थी। उन्हें कहीं नितांत अकेला होने की इच्छा हो रही थी, आँखें मूंदकर ध्यानस्थ होने की, और अपने बारे में तटस्थ भाव से सोचने की, लेकिन यह

पुट्ट अविरोध गति से बड़बड़ाए जा रहा था। आचार्य उसकी ओर एक बार भी उन्मुख नहीं हुए, फिर भी वह मानो उनसे चिपटा हुआ है।

इतना कि पुट्ट उनकी आदत ही बन गया। बल्कि इसके बाद वह थोड़ी देर के लिए उनसे जुदा भी हुआ तो प्राणेशाचार्य को चिंता होने लगी। सच तो यह है कि उन्हें उससे प्यार हो गया। दूसरे शब्दों में कहें तो जब प्राणेशाचार्य ने देखा कि वह किसी भी तरह पुट्ट से, अपने अतीत के पापों से पीछा नहीं छुड़ा सकेंगे तो वह उससे प्यार करने लग पड़ते हैं।

पुट्ट के चरित्र के बारे में स्पष्ट करते हुए संस्कार के लेखक ने लिखा है : पुट्ट नीची जाति का है। उसमें ब्राह्मणों के जैसी ग्रंथियाँ नहीं हैं। वह स्वतंत्र है। भारतीय संरचना में यह भी संभव है कि कुछ लोग वर्ण संकर के तौर पर जन्म लें। वे भारत में मनुष्य जाति की आशा हैं। अनन्तमूर्ति ने आगे लिखा है : पुट्ट का प्रादुर्भाव एक खास बिन्दु पर आकर होता है क्यों कि उसके बिना उपन्यास अधूरा जान पड़ता। मैं बैठकर कहता हूँ, आचार्य चल रहे हैं। मैं लिखता हूँ, उन्हें पदचाप सुनाई पड़ते हैं। किसकी पदचाप? फिर क्या होगा? और तभी पुट्ट सामने आ खड़ा होता है। वह इसी तरह उपन्यास में चला आता है।

उपन्यास कला की दृष्टि से देखें तो लेखक ने पुट्ट का बड़ा ही सुन्दर उपयोग किया है। वह प्राचीन महाकाव्य के विदूषक की तरह प्रकट होता है और साथ ही साथ तीसरे भाग में प्राणेशाचार्य के दीर्घ आत्मालापों को तोड़कर कथा को रुचिकर बनाने का काम भी करता है।

8.6 चन्द्री : अनासक्त चाहत की प्रतिछवि

संस्कार की नायिका चन्द्री, प्राणेशाचार्य तथा नारणप्पा की तरह उपन्यास की केन्द्रीय चरित्र हो, न हो, कथानक की धुरी तो वह है ही। यह चन्द्री ही है जिसके प्रेमपाश में फँसे होने के कारण नाराणप्पा ने अपना संस्कार लुटा दिया था, जबकि प्राणेशाचार्य भी एक भटकाव भरे क्षण में उसके प्रति कामोत्तेजना से भरकर अपना संस्कार खो बैठे। अपने व्यक्तित्व और रूप लावण्य में वह ब्राह्मण कुल की भद्र महिलाओं से सर्वथा अलग है : बिल्कुल वात्स्यायन द्वारा चर्चित चित्रिणी जैसी। नीची जाति की होने के कारण उसे उन तमाम बंदिशों से कोई मतलब नहीं, जिससे कि ब्राह्मणी महिलाएँ बंधी हुई हैं। काम अथवा सेक्स को लेकर भी वह इन ब्राह्मणी महिलाओं की तरह कुण्ठाग्रस्त नहीं है। नैतिक और सामाजिक मर्यादाओं के बोझ तले जिन्दगी गुजारने की बजाय वह वही करती है जो उसके प्रेमी को भाता है या फिर यूँ कहें कि जो स्वयं उसे अच्छा लगता है।

उपन्यास में चित्रित दो अन्य नारी पात्रों भागिरथी और लक्ष्मीदेवम्मा की तुलना में चन्द्री कहीं अधिक मानवीय दीख पड़ती है। बीमारी की वजह से भागिरथी को तो छोटी उम्र में ही विधवा हो जाने के कारण लक्ष्मीदेवम्मा को सम्पूर्ण नारीत्व का सुख कभी नहीं मिल सका। वैसे तो चन्द्री की भाँति ही उन्हें भी कोई संतान नहीं है, लेकिन उनकी स्थितियों में पर्याप्त भिन्नता है। भागिरथी और लक्ष्मीदेवम्मा जहाँ बाँझ हैं, वहीं चन्द्री का नि:संतान होना उसका सकारात्मक पहलू है। लेखक ने जहाँ तहाँ उसकी तुलना उन अप्सराओं से की हैं जो रति क्रीड़ा के बावजूद चिर यौवना होती हैं और नि:संतान होना जिनकी नियति न होकर जिनका वैभव होता है। फिर भी प्राणेशाचार्य के संसर्ग से संतान की प्राप्ति की इच्छा उसे है तो सिर्फ इस वजह से कि उसकी माँ कहा करती थी कि वेश्याओं को इसी तरह के पावन पूज्य लोगों से गर्भ धारण करना चाहिए, जैसे रूप और तेज इन आचार्यजी में है।

रति सुख का पूर्ण अनुभव और ज्ञान होने के बावजूद प्राणेशाचार्य के साथ संसर्ग की उसकी यह चाहत कामुकतावश नहीं है, बल्कि उसमें निसर्ग की सी अनासक्ति है। उसकी यह चाहत उस सामाजिक चेतना से निसृत है, जो समाज के निचले तबके में पैदा होने के कारण उसके भीतर व्याप रहा है। प्राणेशाचार्य के साथ संसर्ग में वह महज संतान सुख का अनुभव करने की इच्छा नहीं रखती, बल्कि उसे यह भी आशा और विश्वास है कि इससे उसका सामाजिक उत्थान कुछ उसी प्रकार से होमा जैसा कि गौतम ऋषि के चरणों के स्पर्श से शापग्रस्त अहिल्या का हुआ था।

चन्द्री में अनासक्ति का यह भाव तब भी दीख पड़ता है जबकि वह अपने प्रेमी नारणप्पा के दाह संस्कार के लिए सहज भाव से अपने कंगन उतार कर धर देती है। उसके इस भाव के सम्मुख लक्ष्मणाचार्य तथा उनकी पत्नी अनुसूया और गरुड़ाचार्य तथा उनकी पत्नी सीतादेवी किसी भी तरह से सोने के कंगन को हथिया लेने की लोभी प्रवृत्ति के कारण अत्यंत क्षुद्र नजर आते हैं। चन्द्री के चरित्र के माध्यम से अनन्तमूर्ति ने इन तथाकथित संभ्रांत ब्राह्मणी महिलाओं के मुकाबले एक तथाकथित शूद्र महिला की उदात्तता तो उजागर की ही है, प्राणेशाचार्य के चरित्र को भी संपूर्णता देने की कोशिश की है। प्राणेशाचार्य जहाँ अनुर्वर हो चुकी रूढ़िवादी संस्कृति की व्यवस्था तथा शक्ति के प्रतीक हैं, वहीं चन्द्री प्राकृतिक तथा स्वाभाविक काममयी जीवन का मूर्त रूप।

8.7 सारांश

इस तरह हम देखते हैं कि संस्कार में लेखक ने न सिर्फ तमाम चरित्रों को अलग-अलग व्यक्तित्व दिया है, बल्कि उन्हें निखरने का पूरा-पूरा मौका भी दिया है। उनकी चारित्रिक विशेषताएँ घटनाओं तथा स्थितियों से उभरकर प्रकट होती हैं, जोकि किसी भी श्रेष्ठ उपन्यास का महत्वपूर्ण गुण कहा जा सकता है। यही कारण है कि संस्कार में सिर्फ घटनाएँ ही कथानक के भीतरी तनाव को उजागर नहीं करतीं, बल्कि उसके चरित्र भी विद्रोह संघर्ष का तानाबाना बुनते हैं।

8.8 प्रश्न

1. संस्कार में पात्रों का चरित्र उभारने के लिए लेखक ने चरित्र चित्रण की किन तकनीकों का उपयोग किया है? चर्चा कीजिए।
2. प्राणेशाचार्य की चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. नारणप्पा के चरित्र की विशिष्टताओं का विवेचन करते हुए उसके भारतीपुर के जगन्नाथ से उसकी तुलना कीजिए।
4. चन्द्री की चारित्रिक विशेषताओं की चर्चा कीजिए।

इकाई 9 'संस्कार' : एक मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 शिल्पगत विवेचन

9.3 सामाजिक विवेचन

9.4 मनोवैज्ञानिक विवेचन

9.5 मिथकीय विवेचन

9.6 औपन्यासिक त्रिवेणी

9.7 सारांश

9.8 प्रश्न

9.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई 'संस्कार' उपन्यास पर आधारित खंड की अंतिम इकाई है। इससे पहले की तीन इकाइयों में हमने यू.आर. अनन्तमूर्ति के व्यक्तित्व, तथा उनके उपन्यास संस्कार के शिल्प एवं भाव पक्ष के विविध पहलुओं पर चर्चा की। इस इकाई में हम लक्ष्य प्रतिष्ठित आलोचकों द्वारा संस्कार के मूल्यांकन पर विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- शैलीगत विशिष्टता के संदर्भ में आलोचकों की दृष्टि की चर्चा कर सकेंगे।
- सामाजिक दृष्टि से संस्कार किए गए संस्कार के मूल्यांकन का परिचय दे सकेंगे।
- 'संस्कार' मनोवैज्ञानिक और मिथकीय आघातों पर किए गए विवेचन का विश्लेषण कर सकेंगे; और
- अनन्तमूर्ति के तीनों उपन्यासों की तुलना कर सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

अब तक आप संस्कार के लेखक डॉक्टर यू. आर. अनन्तमूर्ति और उनके उपन्यास संस्कार के कथ्य और शिल्प के विभिन्न पक्षों से अवगत हो चुके हैं। इस अध्याय में हम देखेंगे कि संस्कार के बारे में आलोचकों का क्या कहना है। यूँ तो संस्कार अनन्तमूर्ति का पहला उपन्यास था, पर चर्चा और विवाद में वह सबसे अधिक रहा। आधुनिक कन्नड़ साहित्य में तो उसका स्थान अक्षुण्ण है ही, आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी वह अप्रतिम स्थान रखता है। यही करण है कि उस पर वृहद रूप से लिखनेवालों में कन्नड़ विद्वान एम. जी. कृष्णमूर्ति, एस. नागराजन, के. बी. सुबन्ना, शांतिनाथ देसाई आदि तो हैं ही, ए.के. रामानुजन द्वारा अनूदित अंग्रेजी संस्करण के प्रकाशन के बाद तो इस पर लिखने की मानो होड़ लग गई। दक्षिण भारतीय भाषाभाषी परिधि के बाहर एक तरफ

जहाँ डॉ. नामवर सिंह तथा डा. मीनाक्षी मुखर्जी जैसे विचारकों ने उस पर अपनी कलम चलाई तो वहीं दूसरी ओर इ.एच. इरिक्सन और बी.एस. नैपाल जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के लेखकों-आलोचकों ने भी उस पर अपनी राय प्रकट की।

9.2 शिल्पगत विवेचन

1970 में संस्कार पर बनी फिल्म को लेकर उठे बवाल को छोड़ दें तो सर्वत्र इसकी प्रशंसा ही हुई है। बल्कि इसकी भाषा और शैलीगत विशिष्टता तथा इसकी साहित्यिक महत्ता को लेकर तो आलोचकों में पूरी मतैक्य रहा है। फिल्म को लेकर भी जो बवेला मचा उसका साहित्य और साहित्यिकता से कोई लेना-देना नहीं था। कुछ रूढ़िवादी हिन्दुओं ने उपन्यास और फिल्म में अपनी छवि के अंकन को लेकर विरोध जताया था और फिल्म के प्रदर्शन को बाधित करने की कोशिश की थी।

1967 में नव्य साहित्य दर्शन पर अपने विचार रखते हुए शांतिनाथ देसाई ने न केवल कन्नड़ उपन्यास के क्षेत्र में, बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य के क्षेत्र में ही इसे नए अभिनव और अप्रतिम उपलब्धि बताया था। कहने का मतलब यह कि प्रकाशन के साल भर के भीतर ही संस्कार चर्चा के घेरे में आ चुका था। उसी तरह कन्नड़ आलोचक कोटा परमेश्वर ऐथल ने इसके भाषिक प्रयोग की चर्चा करते हुए प्रत्येक चरित्र के बोलने-बतियाने के विशिष्ट अंदाज पर तो प्रकाश डाला ही है, उपन्यास में जिस बारीकी से माधव ब्राह्मणों की जीवन शैली को उकेरा गया है, उस पर भी सुधी पाठकों का ध्यान दिलाया है। इसी तरह विश्व प्रसिद्ध लेखक वी.एस. नैपाल ने इसे एक मुश्किल उपन्यास बताने के साथ ही यह भी लिखा है कि यूँ तो अनुवाद हमेशा स्पष्ट नहीं होता और फिर हिन्दू मान्यताओं का अंग्रेजी में अनुवाद करना और भी कठिन हो जाता है, तब भी कहानी कहने का अंदाज वशीभूत कर लेने वाला है और इसी से मूल कन्नड़ के लेखन की खूबसूरती, का अनुमान लगाया जा सकता है।

जर्मन विद्वान हेडरून ब्रूकनर ने संस्कार की शैलीगत विशेषता पर ज्यादा गहराई से चर्चा की है। उपन्यास के तीनों भागों पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने बताया है कि पहले और दूसरे भागों के बीच कथानक का विकास क्रमबद्धता दर्शाता है, जबकि तीसरे भाग की शैली नितांत भिन्न है। पहले दोनों भागों की बनावट बेहद सधी हुई है। वर्णन संक्षिप्त और सुतीक्ष्ण है। काल की लघुता, कथानक की गति और स्थानों की सीमित संख्या के कारण उपन्यास में जबरदस्त नाटकीयता है। आखिरी भाग की बनिस्पत पहले दो भागों का केन्द्र बिन्दु एक सा रहा है। सिर्फ दृष्टिकोण बदला है और इससे स्थितियों के स्तर पर समृद्धि आई है। इन भागों में उपन्यास सर्वत्र विद्यमान सूत्रधार यानी कि लेखक के नजरिये से कहा गया है। जबकि तीसरे भाग में ज्यादातर कथन स्वगत है। प्राणेशाचार्य के आत्मालाप बहुत बड़े-बड़े हैं और कई बार तो एक ही अनुच्छेद दो-तीन पन्नों में है। अंग्रेजी (हिन्दी में भी) संस्करण के तीसरे भाग में तो केवल दो ही अध्याय पृथक-पृथक हैं, पर मूल कन्नड़ में अध्यायों की संख्या अत्यधिक है। प्राणेशाचार्य के विचारों की परिधि से बाहर जो भी वर्णन हैं, वे बेहद छोटे हैं ताकि आचार्य की विचार यात्रा में गतिरोध न हो। कन्नड़ संस्करण में इन अति संक्षिप्त वर्णणों को तारांकनो से अलग किया गया है।

कन्नड़ की मूल कृति को विदेशी पाठकों तक पहुँचाने वाले ए. के. रामानुजन का मानना है कि संस्कार की कहानी किसी पारंपरिक कथा के तौर पर प्रश्न के साथ शुरू

होती है। इस प्रश्न का उत्तर बार-बार टाला जाता है। इस तरह इस उपन्यास में प्रश्न, विलंब तथा उत्तर की पारंपरिक शैली देखी जा सकती है। हालांकि तीन भागों की इस पद्धति के बावजूद इसमें सामान्य तौर से आने वाला उत्कर्ष या अन्त नहीं है। निष्कर्ष तक पहुँचाने की बजाय अवकर्ष के तौर पर परंपरा का प्रयोग इस आधुनिक कहानी का अविभाज्य हिस्सा है। उनके अनुसार, उपन्यास के नायक की तरह ही उपन्यास का प्रारूप भी त्रिस्तरीय है। ये तीन स्तर हैं–अलगाव, बदलाव और पुनर्गठन। उपन्यास इस तीसरे स्तर की शुरुआत तक ही पहुँचकर समाप्त हो जाता है। रामानुजन लिखते हैं कि संस्कार सिर्फ रचना का विषय नहीं है, बल्कि यह प्रारूप का भी विषय है। आचार्य तीन स्तरों से गुजरते हैं। हालांकि हम उन्हें तीसरे स्तर से गुजरता हुआ नहीं देख पाते, बल्कि उसके पायदान तक ही देख पाते हैं।

9.3 सामाजिक विवेचन

भौतिक अथवा विशुद्ध सामाजिक दृष्टि से देखें तो यह उपन्यास नारणप्पा के दाह संस्कार और अग्रहार के माधव ब्राह्मणों के रूढ़िवादी संस्कारों की कहानी जान पड़ती है। इसमें कहीं कोई शक नहीं कि संस्कार के माध्यम से अनन्तमूर्ति का एक बड़ा प्रयोजन ब्राह्मण समाज, खास तौर से माधव समाज, की सड़ी-गली मान्यताओं, अंधविश्वासों और चारित्रिक दोगलेपन पर कटाक्ष करना रहा है। भारत में संस्कार को लेकर जो थोड़ा-बहुत विरोध प्रर्दशन हुआ, वह इसके अर्थ को इसी भौतिक स्तर पर ग्रहण करने की वजह से ही हुआ।

यहाँ तक कि कुछ विद्वानों ने भी संस्कार की विवेचना इसी सतही स्तर पर करने की कोशिश की है। राबर्ट ज़ाइडेनबास ने संस्कार पर चर्चा करते हुए इसी संकीर्ण दृष्टि का परिचय दिया है। उनके अनुसार, संस्कार का मूल विषय रूढ़िवादिता का संकट है और इस संकट को वह हिन्दू धर्म के आलोक में देखते हैं। यहाँ एक वाजिब सवाल उठता है कि क्या यह संकट सिर्फ हिन्दू धर्म या समाज का है? क्या झूठ-फरेब, कंजूसी-लालच, ईर्ष्या-द्वेष और नैतिक दोगलापन सिर्फ हिन्दू धर्म में ही हैं? फिर संस्कार में इन मानवीय दोषों के चित्रण के आधार पर इसे हिन्दू धर्म पर कुठाराघात मान लेना कहाँ तक उचित है?

नोबल पुरस्कार विजेता साहित्यकार वी.एस. नैपाल ने भी इसे इसी आलोक में देखा है। श्री नैपाल वैसे भी भारतीय संस्कृति पर अपने पूर्वाग्रह के लिए खासे जाने जाते हैं। यहाँ भी उनका मकसद संस्कार की समीक्षा करना न होकर भारतीय सभ्यता और संस्कृति की चीड़-फाड़ करना है। तभी तो उन्होंने संस्कार के साथ-साथ महात्मा गांधी की आत्मकथा को भी निशाना बनाया है और यह दिखाने की कोशिश की है कि भारतीय मानस बाहरी दुनिया के यथार्थ का इस्तेमाल अपने स्वत्व की क्रमबद्धता बनाए रखने के लिए करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वह अपने भीतरी मन को टटोलने तथा उसे परीक्षा से गुजारने के लिए ही बाहरी अनुभवों से गुजरता है।

अपनी इस एकांगी दृष्टि की वजह से नैपाल को संस्कार में बर्बर सभ्यता का चित्रण दिखाई देता है। उनके शब्दों में, अनन्तमूर्ति ने जाने या अनजाने एक ऐसी बर्बर सभ्यता का चित्रण किया है, जहाँ धर्म ग्रंथों और नियमों के पीछे जादूई ताकत है और जहाँ एक व्यापक सामाजिक संगठन किसी भी नैतिक दायित्व के बोध से रहित है। वह सिर्फ अपनी मुक्ति की कामना रखता है। ये लोग असहाय और आसानी से अपना संतुलन खो बैठने वाले हैं। जिस सभ्यता में ये जन्में हैं, वह सड़-गल गई है। वे एक ऐसा समाज बनाते हैं, जिसका कि कोई अगुवा नहीं है।

नैपाल आगे लिखते हैं, इससे हर एक को खतरा है। यह लोगों का किस तरह से असंतुलित कर देता है, इसे कोई बाहरी आदमी शायद ही समझ सके। जाति और वर्ण और सुरक्षा और विश्वास और संकुचित दृष्टि, सभी एक साथ चलते हैं। दूसरे को नुकसान पहुँचाए बिना इनमें से कोई एक भी न तो बदला जा सकता है और ना ही बढ़ाया जा सकता है। बचपन से ही जिसे समूह की सुरक्षा और बेहद सावधानीपूर्वक नियंत्रित जिन्दगी की हिफाजत में लगाया गया हो, वह अपने स्वत्व से परिपूर्ण व्यक्ति बन कैसे सकता है? वह तो अनजानी दुनिया की भीड़ में खो जाएगा। वह अनन्तमूर्ति के उपन्यास के आचार्य की तरह हो जाएगा, जो अपनी निराकृति से संतप्त है।

फिर प्राणेशाचार्य के अलक्ष्य घूमने की तुलना युवा मोहनदास करमचन्द गांधी से करते हुए वह कहते हैं, गांधीजी ने अनजान जगह और अनजान लोगों के बीच अपनी पवित्रता और मान्यताओं को बचाए रखने की कोशिश की, जबकि आचार्य विकृतियों का संग्रह कर रहे हैं। अपनी बिरादरी को वह यह नहीं बताएंगे कि उन्होंने क्या कुछ देखा, ना ही उस दुनिया के बारे में बताएँगे जिसमें अब वह जाना चाहते हैं, बल्कि बताएँगे उन विकृतियों के बारे में, जिसे कि उन्होंने भोगा है। दोनों व्यक्तियों में आत्मलिप्तता की समान प्रवृत्ति है, फिर भी उनमें एक महत्वपूर्ण अंतर है - आचार्य अपनी मृत सभ्यता में कैद हैं। वह स्वयं को परिभाषित भी उसी के बीच कर सकते हैं। उन्हें इंग्लैण्ड में रह रहे गांधीजी की तरह अपना विश्वास टटोलने और यह देखने की जरूरत नहीं पड़ी कि इस विशाल विश्व में वह कहाँ खड़े हैं।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रति पूर्वाग्रह से भरे नैपाल उसकी चीड़-फाड़ के उत्साह में यह भी भूल जाते हैं कि गांधीजी और प्राणेशाचार्य में एक और भी अंतर है। गांधीजी एक ऐतिहासिक पुरुष हैं, जबकि आचार्य महज एक औपन्यासिक चरित्र। इसलिए दोनों की तुलना सामाजिक परिप्रेक्ष में करना गलत है। लेकिन इन दोनों के आधार पर भारतीय सभ्यता को बर्बर सिद्ध करते हुए नैपाल दावा करते हैं कि भारतीय व्यक्तित्व अर्द्धविकसित है। अनन्तमूर्ति के उपन्यास के आलोक में उन्होंने खास तौर से हिन्दू धर्म के संस्कारों पर कटाक्ष करते हुए लिखा है कि भारतीय मानस इस कदर आत्मलीन रहता है कि उसे हकीकत की समझ ही नहीं हो पाती। इस कारण वह अपने वातावरण के प्रति सही तौर से सजग नहीं हो पाता और ना ही किसी अनुभव की सही-सही विवेचना कर पाता है। संस्कार का स्थूल अर्थ ग्रहण करते हुए उन्होंने प्राणेशाचार्य के चारित्रिक संस्कार पर ही ध्यान दिया है। उपन्यास में उन्हें सिर्फ विकृतियाँ, जातीय पहचान का लोप, जादू आदि ही दिखाई देते हैं और कुछ नहीं।

9.4 मनोवैज्ञानिक विवेचन

हालाँकि हिन्दू धर्म में संस्कार कहीं अधिक व्यापक अर्थ रखता है। यह भौतिक के साथ-साथ अभौतिक परिवर्तनों को भी समाहित करता है। चन्द्री के साथ संभोग के बाद प्राणेशाचार्य के मन में जो उथल-पुथल चलता है और उनके सोच और विचार की धारा जिस तरह से बदल जाती है, वह संस्कार के इसी अभौतिक अर्थ को प्रकाशित करता है। यही कारण है कि चन्द्री द्वारा रात के अंधेरे में चुपचाप नारणप्पा का दाह संस्कार करा दिए जाने के बाद भी उपन्यास समाप्त नहीं होता, बल्कि प्राणेशाचार्य की मानसिक गुत्थियों के ब्याज में कहानी आगे बढ़ती जाती है। इससे यह बात तो साफ हो जाती है कि उपन्यास को लिखने के पीछे अनन्तमूर्ति का उद्देश्य सिर्फ नारणप्पा की मौत से पैदा हुई सामाजिक स्थितियों को उकेरना नहीं रहा है।

उपन्यास के अंग्रेजी अनुवादक रामानुजन ने संस्कार के इसी अर्थ की ओर इशारा करते हुए कहा है कि रंगमंच ग्रामीण हिन्दू समुदाय से हटकर नायक के शरीर और आत्मा तक पहुँच जाता है। मधु प्राशर इसे भौतिक शव के अभौतिक शव में रूपांतरित होने की प्रक्रिया के तौर पर देखती हैं। नैपाल के मतों को चुनौती देते हुए वह लिखती हैं, इस उपन्यास का जो सबसे महत्वपूर्ण पहलू है और जिस पर कि नैपाल का ध्यान नहीं गया है, वह है भौतिक और अभौतिक यथार्थ के बीच इसका संतुलन। घटनाएँ क्षरण होते ब्राह्मण अग्रहार में घटित होती हैं। और जहाँ तक सामाजिक चित्रण का सवाल है, इस अग्रहार की जीवन शैली का बारीकी से वर्णन हुआ है। स्थितियाँ बेहद ठोस हैं–वहाँ एक मौत हुई है और उसके कारण पनपने वाली समस्या तकनीकी है। यह कि नैतिक रूप से धर्म च्युत व्यक्ति के शव का दाह संस्कार कौन करे? उपन्यास के बीच में शव का अंतिम संस्कार हो जाता है और उसके दाह संस्कार को लेकर सबसे ज्यादा चिंतित लोगों को इसका पता भी नहीं चलता। और इस तरह शव अब वास्तविक समस्या न होकर भी साये की तरह पसरा रहता है। वह बाह्मणों को इसका रूढ़िवादी हल खोजने के लिए उकसाता और छेड़ता रहता है।

प्राशर का मानना है कि भौतिक शव के अभौतिक शव में बदलने से उपन्यास एक अलग तरह के यथार्थ तक जा पहुँचता है। उनके अनुसार इसमें मौत भी दो स्तरों पर है। नारणप्पा की भौतिक मौत होती है, जबकि प्राणेशाचार्य अपने भीतर ही एक नई दुनिया में जन्म लेते हैं। इसके साथ ही वह उपन्यास के बेरंग केन्द्रीय पात्र की श्रेणी से उठकर उसकी केन्द्रीय चेतना की श्रेणी में जा पहुँचते हैं, जो कि परेशान करने और मन को मथने वाली है। प्राणेशाचार्य जब तक इसके नायक रहते हैं, उपन्यास का अर्थ सामाजिक विवरणों से उभरता चलता है, और जब वह उसकी चेतना बन जाते हैं तो उपन्यास एक और ही धरातल पर पहुँच जाता है और तब उसका अर्थ भी दूसरे स्तर पर पहुँचकर की समझा जा सकता है।

उपन्यास के बारे में बताते हुए प्राशर लिखती हैं, उपन्यास की शुरुआत में आचार्य स्वयं के वेदान्त शिरोमणि होने के ज्ञान को लेकर निश्चिंत दिखाई देते हैं। स्वयंभू भूमूर्तिभंजक नारणप्पा पहले-पहल उनके इस आत्म संतोष को झकझोरता है। इससे ज्ञान और सहानुभूति की यह मूर्ति अपना आपा खो बैठती है। नारणप्पा उन्हें दूसरी चुनौती खुद मर कर देता है। जो भी व्यक्ति उसका क्रिया कर्म करेगा, वह मृतक का संस्कार भी अपना लेगा। ऐसे में उसका दाह संस्कार कर के कौन अपना बाह्मणत्व गँवाना चाहेगा? इसका उत्तर वेदान्त शिरोमणि प्राणेशाचार्य को खोजना है–अपनी व्यक्तिगत क्षमता में नहीं, बल्कि प्राचीन धार्मिक मान्यताओं के व्याख्याता के तौर पर। यदि उन्हें उत्तर नहीं मिला तो वह उन लोगों का सामना कैसे करेंगे, जो कि उन पर विश्वास करते रहे हैं? ऐसे में वह किसी जादू की ओर उन्मुख नहीं होते, जैसा कि नैपाल ने माना है। बल्कि यह तो महज उनका पूर्वानुमान है कि भगवान मारूति उन्हें ज्ञान की शक्ति देंगे। और इस पूर्वानुमान से वह मन ही मन मुदित भी होते रहे हैं। लेकिन इस परीक्षा काल में जब भगवान भी उनकी मदद नहीं करते तो पहले से ही सुगबुगा रहा उनका आत्म संशय फिर डगमगाने लगता है।

इसी तरह डॉ. मीनाक्षी मुखर्जी नायक की मुख्य समस्या को चिन्हित करती हुई लिखती है कि यदि वह अपना बाह्मणत्व त्याग देता है तो उसके पास बच क्या जाएगा। पर उसकी इस समस्या को वह महज हिन्दू धर्म से जुड़ा हुआ न मानकर व्यक्ति की निजी और सामाजिक भूमिका के बीच चलने वाले टकराव से जोड़ती हैं। उनके अनुसार यह टकराव धार्मिक पहलू से कहीं ज्यादा बड़ा है। इस स्थिति की तुलना शेक्सपीयर के रिचर्ड तृतीय से करते

हुए वह कहती हैं, रिचर्ड के लिए यह त्रासदी सिर्फ एक ही मायने रखती है। वह यह कि बादशाही के चले जाने से वह कहीं का नहीं रह जाएगा। जबकि संस्कार के नायक के लिए उससे उसकी सामाजिक भूमिका के छिने जाने का मतलब एक तरह की मुक्ति और पुनरूत्पत्ति है। यह स्थिति कुछ ऐसी ही है जैसी कि अर्द्धशती पहले गोरा की थी, जिससे कि उसकी जाति छीन ली गई थी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अमर पात्र गोरा और अनन्तमूर्ति के प्राणेशाचार्य की स्थितियों की अधिक विषद तुलना करते हुए हिन्दी के प्रख्यात समीक्षक डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि गोरा का नायक हिन्दू बना रहने के लिए अपने सामर्थ्य के अनुसार हर संभव प्रयास करता है, पर आखिरकार उसे भारतीय बनने के लिए बाध्य होना पड़ता है। संस्कार का नायक प्राणेशाचार्य ब्राह्मण पुरोहित की तरह बर्ताव करने के लिए तमाम कोशिश करता है, पर नैतिकता से च्युत होकर वह साधारण मनुष्य रह जाता है।

जर्मन विद्वान हेडरून ब्रूकनर के अनुसार, सामाजिक स्तर पर जो घटना नायक का ह्रास जान पड़ती है, मनोवैज्ञानिक धरातल पर वही उसके वास्तविक स्वत्व की खोज में मददगार बनकर उभरती है। आधुनिक युग में अस्तित्व की समस्या और अग्रहार की बनावटी दुनिया के बीच का यह तनाव उपन्यास का आकर्षण बढ़ा देता है। एक तरफ जहाँ गर्मी में नारणप्पा के सड़ते हुए शव की तरह ब्राह्मण समाज के ढाँचे का क्षरण भी अवश्यंभावी जान पड़ता है, वहीं दूसरी ओर नायक का भीतरी स्वत्व खुलता चला जाता है। उसका ह्रास सिर्फ बाहरी है। इसके बाद उपन्यास वैयक्तिकता की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को लेकर आगे बढ़ता है।

9.5 मिथकीय विवेचन

हालाँकि श्री ब्रुकनर का प्रतिपाद्य मनोवैज्ञानिक विवेचन करना नहीं है। उन्होंने लिखा भी है, संस्कार का अन्वेषण और व्याख्या करते हुए मैं इस पुस्तक में तीन भिन्न-भिन्न स्तर पाता हूँ - सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और मिथकीय। सामाजिक स्तर कहानी में वर्णित प्रारंभिक समस्या तथा स्थानीयता से संबद्ध है। मनोवैज्ञानिक स्तर नायक के भीतरी उधेड़बुन से जुड़ा हुआ है। जबकि मिथकीय स्तर से तात्पर्य शब्दों से परे उसके आंतरिक अर्थ के आयाम से है, जिस पर अब तक कम ही ध्यान दिया गया है। मैं यह दिखाने की कोशिश करूँगा कि यह स्तर एक तरह से 'उपन्यास की मिथकीय अर्द्धचेतना' है। उपन्यास ऐसे प्रतीकों तथा तुलनाओं से भरा पड़ा है, जिनकी जड़ें प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय साहित्य तथा पुराणों में हैं और जो सिर्फ अपने-अपने संदर्भों में सीमित भूमिका ही नहीं निभाते, बल्कि अवधारणा के स्तर पर एक दूसरा ढाँचा भी प्रस्तुत करते हैं। ये तीनों ही आयाम संस्कार में अद्वितीय ढंग से समाहित हैं। संभवत: यह बेहद कसा हुआ बहुआयाम के कारण ही उपन्यास में एक जबरदस्त आकर्षण है, जिसकी बराबरी अनन्तमूर्ति के बाद के उपन्यासों भारतीपुर तथा अवस्था में भी नहीं हो पाई।

श्री ब्रुकनर ने यह दिखाने की कोशिश की है कि जिस तरह से शंकराचार्य ने पूर्ण अनुभव प्राप्त करने की खातिर किसी मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर के उसकी रानी के साथ संभोग किया, उसी तरह प्राणेशाचार्य ने भी चंद्री के सम्मुख होने पर मृतक नाराणप्पा का स्थान ले लिया। इससे पहले तक प्राणेशाचार्य भी अपने विरोधी की तुलना में काम के अनुभव से च्युत थे। उपन्यास में शंकराचार्य का प्रसंग उपन्यास के प्रारंभ में ही दुर्गाभट्ट के साथ गुरुड़ाचार्य के संवाद के क्रम में आया है। ब्रुकनर ने उसे उद्धृत

करते हुए लिखा है कि इस प्रसंग की मार्फत अनन्तमूर्ति वस्तुत: प्राणेशाचार्य की ही प्रतिछवि पेश करना चाहते थे।

इसी तरह उपन्यास के तीसरे भाग में प्राणेशाचार्य ने खुद ही मुत्यु के बाद नारणप्पा के बढ़ते हुए महत्व की तुलना विष्णु के वामन अवतार से की है। इस मिथक के अनुसार राजा बली के पास पृथ्वी पर कोई जगह ही नहीं बची। उसी प्रकार नारणप्पा की मौत से पनपी समस्या इतनी व्यापक होती जा रही थी कि प्राणेशाचार्य के लिए सिर छिपाने की जगह ढूँढना मुश्किल लगने लगा। इस तरह वामन में नारणप्पा की प्रतिछवि तो है ही। ब्रुकनर के अनुसार, त्रिशंकु के संदर्भ में भी यह बात देखी जा सकती है। प्राणेशाचार्य न सिर्फ स्वयं को दो सत्यों के बीच लटका हुआ पाते हैं, बल्कि अपनी स्थिति की तुलना ऋषियों और स्त्रियों के साथ उनके संबंधों की स्थिति से भी करते हैं। उनके अनुसार, त्रिशंकु की पौराणिक कहानी में समझौता स्वरूप त्रिशंकु को उसका अपना स्वर्ग दिया गया था, जोकि देवताओं के स्वर्ग के समान ही था। इसके विपरीत संस्कार के च्युत होकर प्राणेशाचार्य को अपनी दुनिया खुद से ही बनानी है और वह भी इसी धरती पर। समीक्षक का मानना है कि इन संदर्भों के माध्यम से उपन्यासकार ने शब्दों से परे अर्थ को एक अन्य और व्यापक आयाम दिया है।

समीक्षक का मानना है कि संस्कार के मूल अर्थ शरीर की दाह क्रिया के आलोक में भी इन प्रतीकों को देखा जा सकता है। चूँकि नारणप्पा को जाति से बहिष्कृत नहीं किया गया था, अत: उसकी अंतिम क्रिया ब्राह्मण रीति से ही होनी चाहिए। ये क्रियाएँ सिर्फ दाह संस्कार तक ही सीमित नहीं है, बल्कि इनमें उसके आगे की क्रिया पिण्डों की पुनर्रचना भी शामिल है। इस दृष्टि से देखें तो यह और नारणप्पा की मृत्यु के बाद प्राणेशाचार्य के अन्य अनुभव एक अलग आयाम अधिग्रहित करते हैं। जब वह मृतक का स्थान ले लेते हैं और उसी की तरह नियमों का उल्लंघन करने लग पड़ते हैं तो एक तरह से वह नारणप्पा के पिण्डों की पुनर्रचना में लग जाते हैं। दूसरी तरफ मृतक, जोकि अब भी ब्राह्मण ही है, दाह संस्कार में हुए विलम्ब की वजह से ब्रह्मराक्षस बन जाता है, जो कि प्रेत से भी ज्यादा शक्तिशाली है। ब्रह्मराक्षक बनकर वह अपने विपक्षी प्राणेशाचार्य को और भी सख्ती से जकड़ कर रखता है। नारणप्पा को जाति से बहिष्कृत न कर के आचार्य ने जो गलती की थी, इसकी कीमत उन्हें चुकानी पड़ती है। इस तरह हम पाते हैं कि जो क्रियाएँ नारणप्पा को मना हो गई थीं, वे सभी फिर भी पूरी होती हैं, भले ही उसका रूप दूसरा हो।

ब्रुकनर के अनुसार, इस तरह से शंकराचार्य तथा त्रिविक्रम से जुड़े ये दोनों ही संदर्भ आरोपित कथाएँ हैं जो मूल कथा के प्रतिरूपी के तौर पर काम करते हैं। समीक्षक का मानना है कि प्राणेशाचार्य द्वारा सामाजिक नियमों का उल्लंघन किए जाने के साथ ही आत्म निरीक्षण और व्यैक्तिकता की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया शुरू हो जाती है, जो उन्हें आधुनिक नायक की श्रेणी में ला खड़ा करती हैं।

अपनी बात को जोर देकर वह आगे लिखते हैं कि प्राचीन भारतीय साहित्य से निसृत इन मूल्यों, परिकल्पनाओं और प्रतिमानों को जोड़कर लेखक ने एक ऐसे आयाम को उभारा है, जिसमें नायक की मुक्ति की यह प्रक्रिया एक ओर तो प्राचीन प्रतिमानों एवं परिकल्पनाओं और दूसरी तरफ व्यक्तिवाद की आधुनिक परिकल्पना का मेल बन जाता है।

चन्द्री और आचार्य के संबंधों की व्याख्या करते हुए ब्रुकनर लिखते हैं कि 'चन्द्री के साथ उनका संसर्ग का डर आप से आप कुछ कम हो जाता है, जबकि प्राणेशाचार्य उसकी

व्याख्या ऋषियों और अप्सराओं के बीच के पौराणिक संबंधों से जोड़कर करते हैं, जिनपर सामाजिक बंधन लागू नहीं होते थे। उपन्यास में वर्णित प्रारंभिक समस्या का हल धर्मशास्त्र तो नहीं कर पाए, किन्तु इन आख्यानों में प्राणेशाचार्य को अपने बर्ताव को सही ठहराने के लिए अवश्य तर्क मिल गया।'

9.6 औपन्यासिक त्रिवेणी

के. वी. सुब्बना ने अनन्तमूर्ति के तीनों औपन्यासिक कृतियों को त्रिवेणी के तौर पर देखने का सुझाव दिया है। उनके अनुसार, अवस्था ने मुझे आश्वस्त किया है कि अनन्तमूर्ति के तीनों उपन्यास, तीन अलग-अलग उपन्यास न होकर एक ही रचना के तीन खंड हैं। संस्कार की कहानी तीर्थहल्ली ताल्लुक के एक छोटे से अग्रहार से शुरू होती है और फिर 20-30 मील के दायरे में फैलती है। भारतीपुर की कहानी उसी ताल्लुक के एक छोटे से नगर की है और जब कभी वह जिला मुख्यालय तथा राजधानी के बीच झूलती रहती है। अवस्था की कहानी उसी ताल्लुक के एक छोटे से गाँव से शुरू होकर जिला मुख्यालय और फिर राजधानी तक चली जाती है।

संस्कार की तरह अवस्था भी ब्राह्मणों से ही संबद्ध है। वैसे तो दूसरा उपन्यास भी ब्राह्मणों से ही सरोकार रखता है, परन्तु उसमें दूसरी जातियाँ भी हैं। तीसरे उपन्यास में अनेक गैर ब्राह्मण जातियाँ अग्रभूमि में दिखाई देती हैं। पहले उपन्यास में एक छोटे से अन्तर्मुखी समुदाय का विघटन आरंभ होता है। दूसरे उपन्यास में हम ब्राह्मणवादी व्यवस्था की विभिन्न जातियों के बीच मेलजोल, आदान-प्रदान तथा संघर्ष की शुरुआत देखते हैं। तीसरे उपन्यास में यह प्रक्रिया और भी तेज हो जाती है। इस तरह हम इन तीनों खंडों में जाति व्यवस्था के टूटने की सुनिश्चित एवं क्रमबद्ध प्रक्रिया पाते हैं। यह प्रक्रिया फिर सामाजिक मेलजोल तथा उत्थान और फिर सामाजिक परिवर्तन के आवश्यक उत्प्रेरक के तौर पर चलने वाली राजनीतिक गतिविधियों में दिखाई देती हैं।

अपनी बात को स्पष्ट करते हुए सुब्बन्ना लिखते हैं, संस्कार में मंदिर, जो कि अग्रहार का केन्द्रबिन्दु है, अपनी रहस्यमयता और शक्ति बरकरार रख पाने में नाकामयाब रहता है। अन्त में तो स्वयं प्राणेशाचार्य ही मेलीगे के मंदिर की पवित्रता भंग करते हैं। भारतीपुर में मंदिर के चारों ओर बने झूठे आभामंडल को तोड़ने की सायास चेष्टा होती है। अवस्था एक कदम और आगे बढ़कर इस प्रयास को मंदिर के दायरे से बाहर तक ले जाता है।

9.7 सारांश

'संस्कार' का कन्नड़ तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अप्रतिम स्थान है। यही कारण है कि इसकी अन्तर्वस्तु एवं शिल्प आदि को लेकर कन्नड़ तथा अन्य विद्वानों ने अपने विचार प्रस्तुत किए। उपन्यास के शिल्प मिथक मनोविज्ञान आदि के संबंध में कन्नड़ आलोचक एवं विद्वान योतिनाथ देसाई, तथा कौटा परमेश्वर ऐथल, विश्व प्रसिद्ध विद्वान वी. एस नैपाल, जर्मन विद्वान हेडरन ब्रूक्नर, मधु प्राशर, हिन्दी के प्रतिष्ठ विद्वान डॉ. नामवर सिंह आदि वे अपने विचार व्यक्त किए हैं। इसे संपूर्ण भारतीय साहित्य में अभिनव एवं अप्रतिम उपलब्धि बताया गया किन्तु इसके साथ ही उपन्यास के शिल्प, मिथक आदि के संदर्भ में कुछ प्रश्न खड़े किए।

9.8 प्रश्न

1. संस्कार की शैलीगत विशिष्टता के संदर्भ में आलोचकों के मतों पर विचार कीजिए।
2. उपन्यास के सामाजिक विवेचन के संबंध में विद्वानों द्वारा किए गए मूल्यांकन पर प्रकाश डालिए।
3. विविध विद्वानों द्वारा संस्कार के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर प्रकट किए गए विचारों की चर्चा कीजिए।
4. अनन्तमूर्ति के तीनों उपन्यासों की विषयवस्तु की तुलना कीजिए।

खंड

3

मानवीनी भवाई

इकाई 10
पन्नालाल पटेल का जीवन परिचय और कृतित्व 5

इकाई 11
पन्नालाल पटेल का युग संदर्भ 15

इकाई 12
'मानवीनी भवाई' की कथावस्तु और विशेषताएँ 22

इकाई 13
'मानवीनी भवाई' का मूल्यांकन 32

इकाई 14
पन्नालाल पटेल की रचनाशीलता 43

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-20/17, कुतुब एन्क्लेव, फेज़-1,
गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. असगर वजाहत
जामिया मिलिया इस्लामिया
नई दिल्ली

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय परिसर,
मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रो. ललिताम्बा
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय
इंदौर

संकाय सदस्य
प्रो. वी. रा. जगन्नाथन
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीता रानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. विमल खांडेकर
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखक
प्रो. मणिलाल एच. पटेल,
बल्लभ विद्यानगर
गुजरात

इकाई संख्या
10, 11, 12, 13 एवं 14

खंड संपादक
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी
वरिष्ठ व्याख्याता, हिन्दी विभाग
इं.गां.रा.मु.वि.
नई दिल्ली

पाठ्यक्रम संयोजक एवं संपादक
प्रो० वी. रा. जगन्नाथन
मानविकी विद्यापीठ
इं.गां.रा.मु.वि., नई दिल्ली

सामग्री निर्माण सहयोग

मुद्रण
श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, नई दिल्ली

फरवरी 2004 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2003

ISBN-81-266-0715-7

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुन: प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित ।

HI-09/112

लेजर कम्पोजिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, 5A/177, W.E.A, करोल बाग, नई दिल्ली-5

खंड परिचय

हिन्दी में स्नातकोत्तर कार्यक्रम के पाठ्यक्रम-16 'भारतीय उपन्यास' का एक तृतीय खण्ड है जिसका शीर्षक है – मानवीनी भवाई। 'मानवीनी भवाई' गुजराती के प्रसिद्ध उपन्यासकार पन्नालाल पटेल का चर्चित उपन्यास है। यह खण्ड इसी उपन्यास पर आधारित है जिसमें इस उपन्यास का अध्ययन किया गया है। इस खण्ड में कुल पाँच इकाइयाँ हैं।

इकाई 10 पन्नालाल पटेल के जीवन परिचय और कृतित्व से संबंधित है जिसमें लेखक के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। पन्नालाल पटेल का जीवन बहुत उतार-चढ़ाव वाला रहा है और जीवन की पाठशाला में ही उन्होंने अधिकांश शिक्षा हासिल की है। इकाई 11 पन्नालाल पटेल के युगीन संदर्भों की जाँच-पड़ताल पर आधारित है। किसी भी रचना को जानने-समझने के लिए यह जरूरी है कि हम पहले यह जान लें कि रचना ने जिस काल और स्थान पर जन्म लिया है, वह क्या और कैसा है। इकाई 12 में मानवीनी भवाई उपन्यास की कथावस्तु और उसकी विशेषताओं की जाँच-पड़ताल करती है। हालाँकि यहाँ संक्षेप में उपन्यास की कथा दी गई है परन्तु अच्छा होगा कि आप इस उपन्यास को खरीद कर पढ़ लें। इकाई 13 में मानवीनी भवाई का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। वास्तव में इस उपन्यास पर जो भी आलोचनात्मक दृष्टियाँ और काम हुए हैं उन्हें ही इस इकाई का आधार बनाया गया है।

इस खण्ड की अंतिम एवं इकाई 14 में पन्नालाल पटेल की रचनाशीलता पर विचार किया गया है। पन्नालाल पटेल की जीवन-दृष्टि, रचना-दृष्टि क्या है, किन मूल्यों के वे अपने लेखन में पक्षधर हैं, उनकी रचनात्मकता की क्या विशेषताएँ हैं, इन सभी बिंदुओं पर इस इकाई में प्रकाश डालने की कोशिश की गई है।

इकाई 10 पन्नालाल पटेल का जीवन परिचय और कृतित्व

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 जीवन परिचय

10.3 शिक्षा

10.4 व्यवसाय

10.5 प्रेरक प्रसंग

10.6 साहित्य सर्जन

10.7 सारांश

10.8 प्रश्न

10.0 उद्देश्य

इस इकाई में श्री पन्नालाल पटेल का जीवन परिचय दिया गया है। इसमें पन्नालाल पटेल के जन्म-स्थान, उनके समाज, उनकी शिक्षा आदि का उल्लेख करने के बाद, उन्होंने आजीविका के लिए कौन-से कार्य किए, इसकी चर्चा की गई है। इसके अलावा साहित्य सर्जन के लिए श्री पन्नालाल पटेल की प्रेरक शक्तियों का भी परिचय कराया गया है। पन्नालाल पटेल ने छोटे-बड़े कुल मिलाकर सौ से अधिक सर्जनात्मक ग्रंथ रचे हैं। यहाँ पर उनमें से कुछ महत्वपूर्ण ग्रंथों का निर्देश किया गया है। इस तरह 'मानवीनी भवाई' का अध्ययन करने के लिए इस प्रथम इकाई में पन्नालाल पटेल के व्यक्तित्व के विषय में आवश्यक जानकारी दी गई है। इस इकाई के अध्ययन से आपको :

- पन्नालाल पटेल के जन्म-स्थान और उसके आसपास के समाज का परिचय प्राप्त हो सकेगा,
- पन्नालाल पटेल की शिक्षा तथा जीवन-यापन के लिए उन्होंने कौन-कौन से कार्य किए, इसकी जानकारी मिलेगी।
- पन्नालाल पटेल को लेखक के रूप में तैयार करने वाली परिस्थितियों एवं प्रेरक शक्तियों का परिचय मिलेगा।
- पन्नालाल पटेल की महत्वपूर्ण सर्जनात्मक कृतियों की एक संक्षिप्त सूची यहाँ मिलेगी।

10.1 प्रस्तावना

भारतीय उपन्यास साहित्य आधुनिक युग की देन है। प्राचीन काल में अर्थात् संस्कृत काल में महाकाव्य थे। मध्यकाल में रासो, फागु, आख्यान तथा पद्यवार्ता जैसे काव्यरूप किसी न किसी कथा को केंद्र में रख कर लिखे जाते थे। आधुनिक काल में उपन्यास ने उक्त काव्यरूपों का स्थान ले लिया है। आधुनिक काल गद्य का काल है। पूरे विश्व साहित्य में

आधुनिकता के साथ ही गद्यविधाएँ अस्तित्व में आई हैं। विश्व भर में उपन्यास साहित्य द्वारा गद्य का विकास होता रहा है। गद्य की समस्त विधाओं में उपन्यास को विशेष लोकप्रियता तो मिली ही, साथ ही उसने हर युग में हमें उत्तम लेखक तथा कालजयी कृतियाँ भी दी हैं। श्रेष्ठ कृतियों में गिने जाने वाले अनेक विश्व प्रसिद्ध उपन्यास आज भी साहित्य प्रेमियों तथा अध्येताओं के लिए रुचि तथा अध्ययन के विषय हैं। ऐसे उत्तम उपन्यास भारतीय साहित्य में भी काफी संख्या में हैं। भारतीय उपन्यास साहित्य प्रादेशिक साहित्य द्वारा समृद्ध होता रहा है। अन्य प्रादेशिक भाषाओं की तरह गुजराती भाषा ने भी भारतीय साहित्य को अनेक कलात्मक एवं मूल्यवान उपन्यास दिए हैं; जैसे – श्री गोवर्धनराम त्रिपाठी का 'सरस्वतीचंद्र'; कन्हैयालाल मुंशी का 'गुजरातनो नाथ'; श्री मनुभाई पंचोली 'दर्शक' का 'झेर तो पीधां छे जाणी जाणी' आदि। युगबोध के साथ-साथ भारतीय जीवन, संस्कार, परंपराओं तथा सामाजिक समस्याओं का चित्रण इन कृतियों में देखने को मिलता है। इसी श्रेणी में जिनका नाम गौरवपूर्वक लिया जा सकता है; बल्कि गुजराती साहित्य में प्रथम पंक्ति के श्रेष्ठ उपन्यासकार के रूप में जिनका नाम लिया जाता है, ऐसे पन्नालाल पटेल तथा उनकी औपन्यासिक कृति 'मानवीनी भवाई' का विशेष महत्व है। मतलब यह है कि भारतीय उपन्यासकारों में पन्नालाल पटेल का तथा भारतीय उपन्यासों में 'मानवीनी भवाई' का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है।

10.2 जीवन परिचय

पन्नालाल पटेल का जन्म डुंगरपुर जिला (तालुका-सिमलवाड़ा) के मांडली गाँव में सन् 1920 में हुआ। आज यह गाँव राजस्थान राज्य में है। स्कूल तथा सरकारी दस्तावेजों में पन्नालाल पटेल की भाषा राजस्थानी है। परंतु मांडली गाँव गुजरात की उत्तरी-पूर्वी सीमा से सटा हुआ है; इसलिए वहाँ के लोगों की बोलने की भाषा गुजराती है। मांडली और उसके आसपास के गाँव गुजरात की सीमा से एकदम लगे हुए हैं। इतना ही नहीं, पन्नालाल पटेल के आधे सगे-संबंधी राजस्थान में हैं और आधे गुजरात में बसे हुए हैं। गुजरात के साबरकाँठा जिले के मेघराज तालुका (तहसील) का आखिरी गाँव ऊँडवा है। ऊँडवा के खेत और सिवान पूरा होने के बाद मांडली की सीमा शुरू होती है। इस तरह पन्नालाल पटेल गुजरात और राजस्थान की सीमा पर बसे गाँव के निवासी माने जाते हैं। राजस्थान के लोग पन्नालाल पटेल को गुजराती में लिखने वाला राजस्थानी का लेखक मानते हैं। इसीलिए ज्ञानपीठ पुरस्कार मिलने पर पन्नालाल का स्वागत उन लोगों ने भारी धूम-धाम से किया था। गुजराती में लिखने की वजह से गुजराती के लेखक तो हैं ही; परंतु यह भी ध्यान देने योग्य है कि उनकी कृतियों की सामाजिक पृष्ठभूमि गुजरात की है।

मात्र आठवें दर्जे तक पढ़े पन्नालाल ने जीवन की पाठशाला से बहुत कुछ सीखा है। लेखक का निर्माण तो उसके आसपास का परिवेश और उसका लोकजीवन ही करता है। पन्नालाल की कृतियों में उनके ग्रामजीवन की माटी की सुगंध है। अपने आठ दर्शकों के सुदीर्घ जीवन काल में उन्होंने सौ से अधिक रचनाएँ कीं। स्वभावत: यह हमारी जिज्ञासा का विषय हो सकता है कि प्रेरणा और प्रोत्साहन देने वाली कौन-सी परिस्थितियाँ और ताकतें थीं?

पन्नालाल पटेल के पिता का नाम 'नानालाल' था। लोग उन्हें 'नानशा' कहते थे। अपने इलाके में उनकी बड़ी पूछ थी। वे थोड़ा-बहुत पढ़े-लिखे भी थे। घर में रामायण और महाभारत जैसे धार्मिक ग्रंथ थे, तो 'काव्यदोहन' जैसी पुस्तकें भी वे रखते थे। प्रात: वे लोगों को 'ओखाहरण' की कथा गाकर सुनाया करते थे। कभी-कभी रामायण-महाभारत भी लयबद्ध स्वर में पढ़कर सुनाते थे। वैसे तो 'नानशा' कम पढ़े-लिखे थे; परंतु एक

समझदार व्यक्ति के रूप में वे जाने जाते थे। हिसाब-किताब में बहुत होशियार थे। ब्राह्मण उनको सम्मान देते थे; और लेन-देन करने वाले बनिये उनसे डरते थे। वे अपनी प्रतिष्ठा तथा दबदबे का उपयोग गाँव के लोगों की भलाई के लिए करते थे। इसलिए गाँव के लोग यही मानते थे कि 'नानशा' के परिवार से विद्या लुप्त नहीं होनी चाहिए। परंतु नानशा का अवसान बहुत जल्द हो गया। उस समय पन्नालाल सिर्फ दो वर्ष के थे। अपनी किशोरावस्था में ही वे अपने पिताजी के बारे में बहुत कुछ सुन चुके थे। पन्नालाल में अपने पिता का संस्कार विरासत के रूप में दिखाई पड़ता है। पूरे इलाके में उस समय शिक्षित गिने-चुने ही थे। पन्नालाल विद्या के मामले में अपने पिता के रास्ते पर ही चले; ऐसी उनके बड़े भाई हरीभाई की इच्छा थी। गाँव में गबा गोर (गबा पुरोहित) की पाठशाला शुरू हुई थी; पर वह अधिक दिनों तक चल न सकी। पन्नालाल को पढ़ाने का हरीभाई का पक्का इरादा था; उन्होंने पन्नालाल को 6 वर्ष के अल्पवय में मेघराज के रामजी मंदिर में भेजा। वहाँ पर जयशंकरानंद नाम के साधु पन्नालाल को पढ़ाते थे और जीवन के गूढ़ रहस्यों को सिखाते थे। पाठकों को ध्यान होगा कि पन्नालाल के उपन्यासों में कहीं न कहीं साधु-संत अथवा भगत का कोई पात्र आता ही है। उसके पीछे जयशंकरानंद के साथ पन्नालाल का बचपन का साहचर्य ही हो सकता है। ऐसे ही सच्चाई और भलाई के लिए जीने वाले पात्र भी उनकी कृतियों में मिलते हैं। उनका भी मूल हम पन्नालाल के पारिवारिक जीवन में खोज सकते हैं। माता-पिता के व्यक्तित्व जाने-अनजाने उन्हें इस संस्कार की ओर खींचते हैं।

पन्नालाल की माँ का नाम हरीबा था। पिता के अवसान के बाद माँ हरीबा ने अगाध स्नेह से बालक पन्नालाल का पालन-पोषण किया। भाइयों में पन्नालाल सबसे छोटे थे; इस कारण भी उन्हें माँ का विशेष स्नेह मिला। घर में तथा बाहर भी लोग पन्नालाल को मावडिया (माँ का लाड़ला) कहते थे। जब देखो तब बालक पन्नालाल माँ से चिपका रहता था। माँ खेत में निराई करने या घास लेने जाती, तब भी वे साथ ही होते। माँ काम करती जातीं और कोई न कोई रोचक कहानी सुनाती जातीं। किशोरावस्था तक पन्नालाल माँ से 'छप्पनिया अकाल' की बहुत-सी बातें जान चुके थे। उन्हीं संस्मरणों के आधार पर उन्होंने 'मानवीनी भवाई' में अकाल का जीवंत चित्रण किया है। माँ सामने की पहाड़ी की ओर दिखाते हुए बतातीं कि रात होने पर उस पहाड़ी में से भूखे लोगों का झुंड गाँव पर टूट पड़ता था। 'छप्पनिया अकाल' सन् 1900 में पड़ा था; वि. सं. 1956 का वह वर्ष था; इसलिए गाँव में से लोग 'छप्पनिया अकाल' के नाम से जानते हैं। उस अकाल की बातें वर्षों तक गाँव में चली थीं। पन्नालाल ने अपने उपन्यास 'मानवीनी भवाई' में माँ से तथा लोगों से सुनी उन बातों को अंतर्ग्रथित करके भारतीय साहित्य को एक उत्तम उपन्यास दिया।

पन्नालाल का इलाका उन दिनों वृक्ष-लताओं और जंगल-झाड़ से हरा-भरा था। बालक पन्नालाल हरी-भरी पहाड़ियों पर और लहराते सिवान में घूमा करते थे। गाँव के नज़दीक ही वात्रक नदी बहती थी। उस जमाने में नदी में पानी रहा करता था। पन्नालाल का शैशव वात्रक के तटवर्ती हरे-भरे जंगलों में बीता था। उनकी कृतियों में वर्णित प्रकृति और खेतों का साहचर्य पन्नालाल को जन्मघुटी में मिला था। परिवार गरीब था; घर में सुख-सुविधाएँ नहीं के बराबर थीं; परंतु प्रकृति के बीच जीते हुए वे अभाव महसूस नहीं करते थे। उनके द्वारा सर्जित अधिकांश पात्र उसी इलाके के हैं और उसी माटी से उपजे हैं।

किशोर पन्नालाल बहुत खूबसूरत थे। छोटा किंतु भरा हुआ गोल-मटोल शरीर; श्री उमाशंकर जोशी के शब्दों में कहें तो यूरोपियन जैसा गोरा-एकदम लाल चेहरा, चुटकी भरो, तो खून निकल आए। गंभीर किंतु भारी आवाज़। किशोर पन्नालाल की चमकदार

आँखें मानो कहतीं कि मैं सब कुछ समझता हूँ। सहपाठियों के साथ उनका व्यवहार खुला और बिल्कुल निश्छल होता था। वे स्वभाव से कल्पनाशील, किंतु आत्मविश्वास से भरे-पूरे थे। वे कक्षा में खुद पहला स्थान लाने की कोशिश करने की बजाय दूसरों को पहला स्थान दिलाने के लिए कभी-कभी झूठ भी बोल देते थे। इस तरह वे हमेशा दूसरे ही स्थान पर रहे। प्रार्थना और गीत वे बहुत सुंदर गाते थे। अल्पवय में ही वे समझदार और पारीपक्व हो गए थे। अध्ययन के लिए घर से दूर रहते हुए भी वे घर-परिवार, भाई-बहन, गाँव-सिवान सबको याद किया करते थे; घर आने पर बालक सबके साथ घुल-मिल जाते थे।

10.3 शिक्षा

साधु जयशंकरानंद के पास मेघराज में जब पन्नालाल पढ़ने गए, तब उनकी उम्र छह वर्ष की थी। उस समय तक उन्हें अक्षरज्ञान हो गया था और वे पढ़ना-लिखना सीख गए थे। दूसरे दर्जे की परीक्षा देकर पन्नालाल जब घर आए, उस समय किसी के मरने के समाचार वाला एक पत्र आया था; पन्नालाल ने उसे पढ़कर सुना दिया। लोग तो वाह-वाह कर उठे। उस जमाने में साक्षर ही कितने होते थे! काला अक्षर भैंस बराबर! उस समय कम पढ़े-लिखे पन्नालाल की अपने समाज में एक बड़े आदमी के रूप में पहचान थी। मेघराज में संस्कृत या अंग्रेज़ी पढ़ाने वाला कोई न था। साधु जयशंकरानंद इस चिंता में थे। किसी मौलवी के पास भेज कर पन्नालाल को उर्दू सिखाने का विचार उनके मन में आया था। उसी समय एक बार हिम्मतनगर के राजकुमार मेघराज में आए; वे वसंत ऋतु के दिन थे; अमराइयाँ मंजरियों से लद गई थीं। महाराज कुँवर के निवास पर सभी उनसे मिलने आए थे। वहाँ पर पन्नालाल को एक गीत गाने का मौका मिला। सुमधुर कंठ से उन्होंने 'बंसीवालाऽ..... आना मोरे देश....' गीत सुनाया। महाराजकुँवर बहुत प्रसन्न हुए; उन्होंने अपने मातहतों से कहा कि 'इस बालक को ईडर के बोर्डिंग में भेज दिया जाए।' इस तरह पन्नालाल अपने गाँव-घर से लगभग सौ किमी. दूर ईडर में पढ़ाई करने पहुँच गए। वहाँ उनकी भेंट उमाशंकर जोशी नामक एक विधार्थी से हुई, जो आगे चलकर गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि हुए। ईडर के जिस स्कूल में वे पढ़ते थे, वह आज का 'सर प्रताप हाईस्कूल' है। अंग्रेजी स्कूल के 'केसरी बोर्ड्रिंग हाउस' में महाराज कुँवर के आदेश से पन्नालाल को रखा गया था। उस समय वे गुजराती स्कूल के विधार्थी थे। उनकी देखरेख के लिए उमाशंकर जी को भी उसी छात्रावास में रहने को मौका मिला। जबकि वास्तव में उमाशंकर की पूरी देखरेख पन्नालाल करते थे। ईडर के धुळेटा दरवाजा के पास स्थित 'बोर्डिंग' से उमाशंकर को लेकर पन्नालाल कस्बे की पूरी गलियों को घूमाते हुए गढ़ की तलहटी में स्थित गुजराती स्कूल तक ले जाते थे। वहाँ पर आठवीं कक्षा तक दोनों साथ ही पढ़े। उमाशंकर के साथ का ही परिणाम था कि पन्नालाल को पुस्तकों के साथ प्रेम हुआ। गीत-संगीत का अच्छा-खासा अनुभव भी वहीं से मिला। अर्थाभाव के कारण उन्हें आठवीं कक्षा के बाद स्कूल की पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। उमाशंकर ईडर से अहमदाबाद पढ़ने के लिए चले गए और उधर कुदरत ने पन्नालाल को जीवन की पाठशाला में भर्ती कर दिया। अब उन्हें अपने घर-परिवार के लिए कमाना था। इसीलिए वे किसी भी परिस्थिति में रास्ता निकालना सीख गए थे। विधार्थी जीवन के उनके कई संस्मरण बड़े रोचक और प्रेरक हैं।

10.4 व्यवसाय

स्कूली दिनों में पन्नालाल ने दो बातें विशेष रूप से सीखीं। एक यह कि अपना काम करने में कभी आलस न करना; और जहाँ तक संभव हो सके, दूसरों की मदद करना; तथा

दूसरी बात यह कि कभी झूठ न बोलना। कुछ गलती हुई हो; या नासमझी के कारण कभी चोरी की हो; अथवा बिना टिकट यात्रा की हो, तो पन्नालाल मित्रों को तथा अध्यापक को बता देते थे। वे भूत-प्रेत से तो नहीं डरते थे; परंतु झूठ और चोरी से बहुत डरते थे। किसी के प्रेमभाव से तो एकदम पिघल जाते थे। महात्मा जयशंकरानंद जी ने मेघराज में यज्ञ किया था; उस समय पन्नालाल की उम्र 14-15 वर्ष की थी। उस समारोह में बैजीबा तथा उनकी सहेली के साथ उनकी आकस्मिक पहचान हो गई थी। पान खाते-खिलाते बैजीबा के साथ प्रेम का प्रथम अनुभव हुआ था। उमाशंकर जोशी से उन्होंने एक बार कहा था – 'उमाशंकरभाई! प्रेम भी बहुत ग़ज़ब की वस्तु लगता है।'

जब तक सेठों की मदद मिली, तभी तक पन्नालाल पढ़ सके। ऐसे ही दान में मिली कुछ पुस्तकों को बेच कर उन्होंने अहमदाबाद की एक मिल में कुछ समय तक नौकरी की थी। माँ का अवसान हो चुका था; घर-परिवार बिखरता जा रहा था; इसलिए पन्नालाल को गाँव वापस आना पड़ा। खेती में मन नहीं लगता था। थोड़ा पढ़े-लिखे होने के कारण गाँव के लोगों में घुल-मिल नहीं पाते थे। कभी-कभी उन्हें यह भी लगता कि वे एकदम अकेले पड़ गए हैं। गाँव में ही एक कपड़े की दुकान की; पर वह कुछ खास चली नहीं। डुंबरपुर के पास बोरी की डिस्टिलरी में (शराब की भट्‌टी में) नौकरी शुरू की। तनख्वाह सात रुपया। जल्दी ही सेठ रुस्तमजी के विश्वासपात्र बन गए। फिर सेठानी जरबाई की सिफारिश से बारह रुपये वेतन पर सागवाड़ा के शराब के अड्डे के मैनेजर बन गए; उस जमाने में बारह रुपया बहुत अच्छा वेतन माना जाता था। उन दिनों पन्नालाल थोड़े छैल-छबीले भी बन गए थे। मित्रों के साथ बैठकर विदेशी शराब पीते तथा ग़जलें भी गाते। जैसा सुंदर चेहरा, वैसी ही मीठी आवाज़; इसलिए सागवाड़ा में भी थोड़ा प्रेम के चक्कर में पड़ गए थे। किसी बुजुर्ग ने उनसे कहा था कि सागवाड़ा में कभी गाना मत गाना! उनके वे दिन थोड़े रंगीन थे। लगभग सोलह वर्ष की उम्र में पन्नालाल की सगाई वालीबेन के साथ हुई। वालीबेन की उम्र उस समय छः वर्ष थी। सागवाड़ा की नौकरी छोड़कर पन्नालाल थोड़े समय के लिए फिर से गाँव में आ गए; और नौकरी से बचाई रकम से शादी की। फिर कमाने के लिए अहमदाबाद चले गए। बाद में वहाँ से डुंगरपुर जाकर पाइप में चूड़ी काटने का काम करने लगे। उस दौरान बीड़ी पीने की भी आदत पड़ गई। बाद में फिर से अहमदाबाद में एक कारिंदे जैसी नौकरी शुरू की। सेठ के यहाँ ही खाना-पीना और सेठ की इलेक्ट्रीसीटी कंपनी में ऑयलमैन की नौकरी करना। वे इलेक्ट्रीसीटी कंपनी में ऑयल मैन, घर में नौकर, रसोइया तो थे ही; साथ ही सेठ के बच्चों को पढ़ाना भी पड़ता था। वे परिश्रम से तो घबराते न थे। उस दौरान उन्हें जीवन के काफ़ी अनुभव मिले। 'जिंदगीना खेल' (ज़िंदगी के खेल) की कुछ कहानियाँ उन्हीं अनुभवों के आधार पर लिखी गई हैं।

उन्हीं दिनों उनके एक मित्र ने प्रेम-विवाह किया था। उनकी मदद करने के लिए पन्नालाल उन्हें अपने गाँव ले आए। उनके भरण-पोषण के लिए गाँव में ही उन्होंने एक दुकान खोली। पर उधार के धंधे के कारण दुकान बंद करके फिर वापस अहमदाबाद जाना पड़ा। उस प्रेमी युगल को उनके घरवालों के पास ले गए और समझा-बुझाकर उनका मेल कराया। 'वाटर वर्क्स' में ऑयलमैन की नौकरी करते हुए पन्नालाल को ब्वायलर की राख की टोकरी उठानी पड़ती थी। पर वह नौकरी भी छूट गई। उसके बाद उन्होंने आटा पीसने की चक्की बैठाई। पर उस काम में भी जम न सके और चक्की बेच देनी पड़ी। एक बार किसी मुसीबत मे फँसी एक युवती की मदद करने के लिए उसका नकली पति भी पन्नालाल को बनना पड़ा था। एक बार फिर इलेक्ट्रीसीटी कंपनी की नौकरी शुरू की। उस दौरान अहमदाबाद सहित पूरे देश में आज़ादी की लड़ाई चल रही थी। पन्नालाल को भी

उसमें शामिल होने का मन हुआ; परंतु रोटी की चिंता ने उन्हें नौकरी न छोड़ने के लिए मज़बूर किया और वे आंदोलन में शामिल न हो सके। गांधीजी के विषय में तब तक वे बहुत कुछ जान चुके थे। 'नाछूटके' (मजबूरन) तथा उसके बाद के उपन्यासों में इसका उल्लेख आता है। अहमदाबाद में सोलह घंटे की नौकरी करते हुए पन्नालाल घर-परिवार की जिम्मेदारी भी निभाते थे। यह सब कुछ वर्ष 1930 से 36 के दौरान घटित हुआ। उसके बाद वर्ष 1936 में एक विशेष घटना घटित हुई; जिसमें से सर्जक पन्नालाल का जन्म हुआ।

10.5 प्रेरक प्रसंग

ईडर के सहपाठी श्री उमाशंकर जोशी इस दौरान अहमदाबाद और मुंबई में शिक्षा प्राप्त करके शिक्षक बन गए थे। स्वतंत्रता आंदोलन में भी हिस्सा लेने लगे थे। पन्नालाल को पता चला कि उनके सहपाठी उमाशंकर कवि हो गए हैं; वे कविताएँ लिखते हैं। तब उन्होंने उमाशंकर जी का मुंबई का पता कहीं से प्राप्त किया और कविमित्र को काव्यमय पंक्तियों में एक पत्र लिखा - 'मुंबई तणी सड़को ऊपर कईं मोजथी फरता हशो.....।' लौटती डाक से उमाशंकर का प्रसन्नतापूर्वक जवाब आया; और लिखा था कि इस वर्ष (सन् 1936) की 'गुजराती साहित्य परिषद्' का सम्मेलन महात्मा गांधी की अध्यक्षता में अहमदाबाद में होने वाला है। मैं उसमें आने वाला हूँ और तुम भी 'प्रेमाभाई हॉल' के पास मुझसे मिलिए; मजा आएगा। सम्मेलन के दिन पन्नालाल अपनी दस रुपये की जापानी-गुजराती साइकिल लेकर 'प्रेमाभाई हॉल' पर गए। वहाँ पर उमाशंकर जोशी तथा सुंदरम् दोनों उनसे मिले। एक होटल में चाय-नाश्ता करते-करते नयी-पुरानी बातों का दौर चला। अचानक उमाशंकर जोशी ने कहा, 'पन्नालाल, तुम भी लिखो।' पन्नालाल के पास रंग-बिरंगे जीवन के विविध अनुभव तो थे ही। वैसे अनुभव अभिजात समाज के पास शायद ही हों। पन्नालाल ने कहा, मैं लिखूँ तो सही, पर अच्छे-बुरे की पहचान मुझे कैसे होगी? मैं लिखकर दिखाऊँगा किसे? आप तो मुंबई में पड़े हैं!' उमाशंकर जी ने कहा, ये सुंदरम कवि हैं, और यहीं अहमदाबाद में विद्यापीठ में रहते हैं। लिखकर तुम इन्हीं को दिखाया करो।' इस तरह उमाशंकर जोशी की प्रेरणा से तथा सुंदरम की देख-रेख में पन्नालाल ने साहित्य-सर्जन की शुरूआत की। पहले तो उन्होंने कविताएँ लिखकर सुंदरम् को दिखाईं। परंतु उसमें उन्हें सुंदरम् की ओर से कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिला। फिर उन्होंने कहानी लिखने की बात कहीं; और फिर सुंदरम् की सम्मति लेकर 'शेठनी शारदा (सेठ की शारदा) नामक कहानी लिखी; और उसे 'फूलछाब' दैनिक में छपने के लिए भेजी। झबेरचंद मेघाणी ने उत्साहपूर्वक उस कहानी को प्रकाशित किया। पन्नालाल के पड़ोस में रहने वाले कॉलेज के युवकों ने सलाह दी कि अब 'प्रस्थान' में भेजिए; उसमें आपकी कहानी छपेगी, तो आप सच्चे कहानीकार माने जाएँगे। 'प्रस्थान' मासिक पत्रिका थी; उसके मालिक गुजराती के प्रसिद्ध लेखक रामनारायण पाठक थे। सुंदरम् के द्वारा पास की गई 'कंकु' कहानी रामनारायण पाठक ने नहीं छापी; परंतु दूसरी कोई कहानी लिखकर भेजने को कहा। फिर पन्नालाल ने 'सुख-दु:खना साथी' कहानी भेजी। पाठकजी को वह कहानी पसंद आई। उसके बाद तो लिखने का दौर शुरू हुआ और पन्नालाल कहानीकार बन गए। अधिक श्रम और समय नौकरी में लग जाता था; इसलिए पढ़ने का समय उन्हें कम मिल पाता था। फिर भी उमाशंकरजी के संपर्क के कारण शेक्सपीयर, चेखोव, तुर्कनेव आदि की कृतियों के बारे में अब तक बहुत कुछ जान चुके थे। उनका प्रथम उपन्यास 'वळामणा' सन् 1940 में छपा और उसे लोगों की प्रशंसा भी मिली। फिर उन्होंने 1941 में 'मळेला जीव' लिखा। झबेरचंद मेघाणी ने उसकी प्रस्तावना लिखी और 'फूलछाब' के दिवाली विशेषांक की विशेष भेंट के रूप में प्रकाशित

किया। उस रचना से पन्नालाल को काफी ख्याति मिली और वे गुजराती उपन्यासकार के रूप में प्रतिष्ठित हो गए।

इस दौरान वे कहानियाँ भी लिखते रहे। अहमदाबाद में वे पाँच रुपये भाड़े की कोठरी लेकर परिवार के साथ रहते थे। अहमदाबाद छोड़ कर एक बार फिर वे अपने गाँव मांडली चले गए; और वहाँ खेती करने लगे। उसी समय 'मळेला जीव' की कथा पर हिन्दी में 'उलझन' नाम से फिल्म बनी और उसकी पटकथा लिखने के लिए वे मुंबई चले गए। एक श्रमजीवी ग्रामीण का मुंबई पहुँचने पर ऐसा लगने लगा, मानो वह स्वर्ग में पहुँच गया हो। मुंबई में वे चार वर्ष रहे। उसी बीच एक बार गाँव आते समय डुंगरपुर राज्य के पुलिस के किसी सिपाही ने शराब के नशे में पन्नालाल को गांधीवादी समझ कर बूट से बहुत मारा। अभावों में पले-बढ़े पन्नालाल के शरीर में ताकत कम थी; ऊपर से मुंबई का भारी पानी और साथ में असहाय मार। एकाध वर्ष में वे क्षयरोग के शिकार हो गए। फिर मित्रों और डॉक्टर की सहायता से स्वस्थ हुए। मुंबई में रहते समय ही उनकी प्रथम पुत्री अल्प समय की बीमारी में दिवंगत हो गई; और मुंबई से उनका मन उठ गया। यद्यपि मेघाणी ने तो उन्हें पहले ही सलाह दी थी कि 'तुम जिस तालाब की मछली हो, उसी पानी में रहना।' मुंबई की खारी हवा को छोड़ कर वे पुन: अपने गाँव की मधुर हवा में आ गए। परंतु अभी उनकी मुसीबतें कम नहीं हुई थीं। गाँव आने पर उनके यहाँ एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ; परंतु वह आठ मास तक जीवित रह कर उन्हें बिलखता छोड़ कर चला गया। मुंबई प्रवास के दौरान वे फिल्म के लिए 'सुरभि' और 'यौवन' नामक दो उपन्यास लिख चुके थे। अब गाँवों में आकर अभाव, खालीपन तथा दुख को भूलने के लिए और कर्ज चुकता करने के लिए वे संपूर्ण रूप से सर्जन में जुट गए। 'मानवीनी भवाई' उपन्यास वर्ष 1946-47 में मांडली में ही लिखा गया। उसे दो बार लिखा गया। फिर तीसरी बार में उसका परिमार्जन किया। बरसात का मौसम; हरियाली से हरा-भरा सिवान; वात्रक नदी के तट पर स्थित खेत में लहराती मक्के की फसल; मक्के की रखवाली के लिए तैयार किए गए मचान पर बैठकर पन्नालाल 'मानवीनी भवाई' लिखते जाते थे और कौवों-तोतों को उड़ाते जाते थे। सन् 1947 में मुंबई में क्षय की दवा चल रही थी, उसी दौरान प्रकाशक ने 'मानवीनी भवाई' की पहली प्रति उनके हाथों में रखी थी। उधर 'मानवीनी भवाई' खूब प्रसिद्ध हुई; परंतु इधर क्षय था कि पन्नालाल को छोड़ने का नाम ही नहीं लेता था। यह जानकर रामनारायण पाठक ने उस समय के सौराष्ट्र राज्य के मुख्यमंत्री श्री ढेबरभाई की मदद लेकर पन्नालाल को भावनगर के पास स्थित सोनगढ़ के नज़दीक 'जीथरी' अस्पताल में भर्ती कराया। उमाशंकर जोशी पन्नालाल को पहुँचाने साथ में आए थे। उस समय के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार पन्नालाल से मिलने के लिए प्रतिदिन आते थे। सन् 1949 में पांडीचेरी जाकर उन्होंने श्री अरविंद और माताजी के दर्शन किए। वहाँ लगभग तीन महीने तक रहे। वहाँ उन्हें ऐसा अनुभव हुआ था; मानो नया जीवन मिला हो। क्षय की दवा तो चालू ही थी। धीरे-धीरे तबियत सुधरने लगी; वजन भी बढ़ने लगा। इस बीमारी की वजह से मानो पन्नालाल श्री अरविंद के उपासक बन गए। उनके वे अनुभव 'जिदंगी संजीवनी' नामक उपन्यास के आखिरी हिस्से में चित्रित हैं। 1958 तक पन्नालाल अपने गाँव मांडली में ही रहे। पर उसके बाद संतानो -अरविंद, उषा, नंदा और भरत की पढ़ाई-लिखाई के चलते गाँव छोड़ कर हमेशा के लिए अहमदाबाद के वासी बन गए। यद्यपि वे स्वभाव से गाँव के ही व्यक्ति थे। मांडली में उनका एक बड़ा मकान था और घर के बगल में ही शौक से रहने के लिए उन्होंने एक बैठक बनवा रखी था। परंतु परिस्थिति उन्हें शहर में घसीट लाई। यहाँ उनका संपर्क अनेक लेखकों से हुआ। ईश्वर पेटलीकर, पीतांबर पटेल, जयंती दलाल तथा गुलाबदास ब्रोकर तो उनके खास मित्र थे। उन सब के साथ साहित्यिक चर्चाएँ होती रहतीं; और

पन्नालाल जीवन के अनुभव को अपनी कहानियों में सर्जनात्मक रूप दिया करते। जीवन के अंतिम दिनों तक उन्होंने साहित्य सर्जन को ही अपने जीवन का ध्येय बनाए रखा। मूल ग्रामीण प्रकृति, मुंबई के अनुभव, सुख-दुख का उतार-चढ़ाव, लेखकों के साथ मैत्री, पांडीचेरी के आध्यात्मिक अनुभव तथा गांधीजी की परोक्ष प्रेरणा–ये सब मिलकर उन्हें साहित्य सर्जन के लिए सतत उत्तेजित किया करते।

10.6 साहित्य सर्जन

वैसे देखें, तो पन्नालाल की दो मातृभाषाएँ थीं–गुजराती और राजस्थानी। जन्म से आजणा पटेल। वे संस्कृत, हिंदी, अंग्रेज़ी तथा उर्दू भी थोड़ा-थोड़ा जानते थे। आजणा पटेलों में उनके पहले शायद ही कोई लेखक हुआ हो। परंतु पन्नालाल लेखक हुए; और इतना ही नहीं, बड़े सर्जक के रूप में प्रसिद्ध हुए। भारतीय साहित्य में जो स्थान सरस्वतीचंद्र (गोवर्धनराम त्रिपाठी), गोरा (रवीद्रनाथ), श्रीकांत (शरद्बाबू) आदि का है, वही स्थान पन्नालाल की कृति 'मानवीनी भवाई' का भी है। पचास वर्ष से भी अधिक समय तक उन्होंने लेखन कार्य किया और सौ से अधिक पुस्तकें लिखीं; चार सौ से अधिक कहानियाँ लिखीं। इस तरह उन्होंने गुजराती कथा साहित्य को समृद्ध किया। बीस से अधिक उनके कहानी संग्रह प्रकाशित हुए हैं। कुछ प्रमुख कहानी संग्रह इस प्रकार हैं-

1. सुख-दुःखना साथी (1940)
2. जिदंगीना खेल (1941)
3. जीवोदांड (1941)
4. लख चोरासी (1944)
5. साचा समणां (1949)
6. वात्रकने काँठे (1952)
7. पन्नालालनो वार्ता वैभव (1954)
8. ओरता (1954)
9. पारेवडाँ (1956)
10. पन्नालालनी श्रेष्ठ वार्ताओ (1958)
11. मनना मोरला (1958)
12. पानेतरना रंग (1961)
13. धरती आभनाँ छेटा (1962)
14. दलासो (1964)
15. चितरेली दीवालो (1965)
16. मोरलीनाँ मूगा सूर (1966)
17. माळो (1967)
18. वटनो कटको (1969)

उन्होंने सौ से भी अधिक उपन्यास लिखे, जिनमें सामाजिक उपन्यास विशेष महत्वपूर्ण हैं। जीवन के उत्तरार्द्ध में उन्होंने पौराणिक उपन्यास भी लिखे। जिस दौरान शहर में रहे, उस समय नगर जीवन पर भी उपन्यास लिखे। उनके कुछ मुख्य उपन्यास इस प्रकार हैं-

1. वळामणाँ (1940)
2. मळेला जीव (1941)
3. यौवन (1944)
4. सुरभी (1945)
5. मानवीनी भवाई (1949)
6. भांग्यानां भेरुं (1947)
7. पाछले वारणे (1950)
8. फकीरो (1955)
9. ना छूटके (1955)
10. मनखावता (1961)
11. अमे बे बहेनो (1962)
12. आँधी अषाढ़नी (1964)
13. मीण माटीवा मानवी (1966)
14. घम्मर वलोणुँ 1-2 (1968)
15. अल्लड छोकरी (1973)
16. पार्थने कहो चढाने बाण (1974)
17. रामे सीताने मार्या जो (1976)
18. शिवपार्वती (1979)
19. देवयानी ययाति (1982)
20. जेणे जीवी जाण्युँ (1984)
21. ऊर्वशी पुरुरवा (1986)
22. जिदंगी संजीवनी (1986)

इतिहास के प्रसंगों, दंतकथाओं, तथा लोककथाओं को लेकर उन्होंने छोटे-बड़े उपन्यास और कहानियाँ लिखीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने नाटक, एकांकी और बाल साहित्य भी लिखा। 'अलप-झलप' (1973) और 'अलक-मलक' (1986) ये दोनों आत्मकथात्मक संस्मरण ग्रंथ हैं। इसी तरह एकाधिक भागों वाला 'ज़िदंगी संजीवनी' नामक उपन्यास उनके अपने अनुभव पर आधारित आत्मकथात्मक उपन्यास कहा जा सकता है। 'जेणे जीवी जाण्युँ उपन्यास पू. रविशंकर महाराज के जीवन पर आधारित चरित्रात्मक उपन्यास है। दूसरी भाषाओं के उपन्यासों-कहानियों का अनुवाद भी उन्होंने किया। मात्र आठवीं कक्षा तक की स्कूली शिक्षा पाए पन्नालाल का नाम विश्व के बड़े रचनाकारों की पंक्ति में लिखा जाता है, यह एक चमत्कार ही है।

10.7 सारांश

पन्नालाल पटेल का बचपन अभावों में बीता था। बड़े स्कूल तथा पैसे के अभाव के कारण वे आठवीं कक्षा से आगे नहीं बढ़ सके। परंतु अभावग्रस्त जिंदगी के उन कठिन रास्तों ने ही एक लेखक के रूप में उनका निर्माण किया था। ग्रामीण समाज, ग्रामीण जीवन, ग्रामीण चरित्रों ने उनकी संवेदना को और अधिक संवेदनशील तथा वेगवती बनाया था। उनकी रचनाओं में प्रकृति का जो काव्यात्मक चित्रण तथा मानव मन की जटिलताओं का जो सूक्ष्म आलेखन मिलता है, वह उनके ग्राम्य जीवन की ही देन है। जो केवल स्कूली शिक्षा से शायद ही मिल पाता है, वह पन्नालाल का उनके जीवन की पाठशाला से मिला था।

लेखक के रूप पन्नालाल पटेल एक चमत्कार हैं। इतना कम पढ़ा-लिखा आदमी, जीवन में अनेक व्यवसायों के होते हुए भी कहीं भी स्थिर न हो सकने वाला आदमी अंतत: लेखन-सर्जन में स्थिर हुआ और भारतीय लेखकों की प्रथम पंक्ति में अपने लिए स्थान बनाया, यह घटना सचमुच चमत्कार ही तो है।

10.8 प्रश्न

1. पन्नालाल पटेल के ग्रामीण समाज का परिचय दीजिए।
2. पन्नालाल पटेल को एक लेखक के रूप में तैयार करने वाली परिस्थितियों एवं शक्तियों का वर्णन कीजिए।
3. पन्नालाल पटेल के व्यक्तिगत जीवन के संघर्षों के बारे में लिखिए।
4. पन्नालाल पटेल की कृतियों का परिचय दीजिए।
5. पन्नालाल पटेल जैसे सर्जक का होना अपने आप में एक चमत्कार क्यों है? समझाइए।

इकाई 11 पन्नालाल पटेल का युग संदर्भ

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 युग संदर्भ

11.3 गांधीयुग

11.4 साहित्य में गाँव

11.5 पन्नालाल पटेल के समकालीन रचनाकार

11.6 सारांश

11.7 प्रश्न

11.0 उद्देश्य

कोइ भी लेखक अपने युग की उपज होता है। वह जिस युग में जीता है, उस युग की सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियाँ उसका निर्माण करती हैं; उसके सर्जन को भी उसका युग-संदर्भ प्रभावित करता है। उसके युग का सामाजिक जीवन, उसकी समस्याएँ, उसकी नीति-रीति उसकी रचनाओं में अभिव्यक्ति पाती हैं। वह जिस भाषा का प्रयोग करता है, वह भाषा भी उसकी युग-चेतना और युग-संस्कारों से ओतप्रोत होती है। पूर्ववर्ती रचनाकार तथा रचनाएँ भी किसी सर्जक की रचनाशीलता को प्रभावित करती हैं तथा उसका दिशा-निर्देश करती हैं। इसलिए पन्नालाल पटेल के बारे में जानने के लिए उनके युग को जानना ज़रूरी है। साथ ही पन्नालाल के पूर्ववर्ती तथा उनके समकालीन रचनाकारों के सर्जन का परिचय प्राप्त करेंगे, जिससे पन्नालाल को तथा उनकी कृति 'मानवीनी भवाई' को समझने में सुविधा रहेगी।

11.1 प्रस्तावना

पन्नालाल पटेल बीसवीं सदी के चौथे, पाँचवे और छठे दशक के सर्जक रहे हैं। जिस समय उन्होंने लिखना शुरू किया, उन दिनों गांधीजी द्वारा प्रेरित स्वतंत्रता आंदोलन शुरू हो चुका था। समाज में नर्मद के जमाने की तुलना में भिन्न प्रकार का नवजागरण आरंभ हो चुका था। साहित्य तथा समाज दोनों एक मंच से आज़ादी तथा मानवता के लिए कार्य कर रहे थे। दूसरी ओर गुजराती साहित्य में 'पंडितयुग' का प्रभाव क्षीण हो रहा था और 'गांधीयुग' के लिए वातावरण तैयार हो रहा था। साथ ही गुजराती गद्य विधाओं का विकास बहुत तेजी से हो रहा था। निबंध, उपन्यास, कहानी तथा एकांकी में रचनाएँ होने लगी थीं। सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि गांधीयुग के प्रारंभ से ही गुजराती साहित्य में गाँव, गाँव के लोगों तथा गाँव की समस्याओं का निरूपण स्थानीय बोली-भाषा में होने लगा था। ऐसी परिस्थितियों में पन्नालाल का उदय एक लेखक के रूप में हुआ।

कवि नरसिंह (नरसी) मेहता गुजराती के आदि कवि माने जाते हैं; उनका समय चौदहवीं सदी का उत्तरार्ध और पंद्रहवीं सदी का पूर्वार्ध है। वैसे तो इतिहास का मध्यकाल समग्र

भारत में 'अंधकारयुग' के रूप में भी जाना जाता है। कला और संस्कार के क्षेत्र में ईसा के ग्यारहवें शतक तक का समय तो मानो शुष्क और शून्य ही था। शोधकर्ताओं ने नरसी मेहता के पहले जैन एवं जैनेतर कवियों द्वारा रचित विपुल साहित्य जैन भंडारों को खोज निकाला है। नरसी मेहता के पूर्व के युग को 'रास-रासा युग' के नाम से जाना जाता है।

11.2 युग संदर्भ

मध्यकाल का सार साहित्य पद्यात्मक है। कथात्मक साहित्य भी पद्य में ही लिखे नहीं गए हैं। उस जमाने में छापाखाना तो था नहीं; इसलिए स्वाभाविक है कि गाकर प्रस्तुत किया जाने वाला साहित्य ही प्रचलित हो। नरसी मेहता तथा उनके बाद के भक्त कवियों ने जिस भक्ति साहित्य की रचना की, उसमें साहित्यिक गुणवत्ता अधिक है। मध्यकाल का सही समय ईसा की पंद्रहवीं सदी से अठारहवीं सदी तक माना जा सकता है। उस युग के प्रमुख गुजराती भक्त कवियों में नरसी मेहता, भालण, मीराबाई, प्रीतम, धीरा, अखा, प्रेमानंद तथा शामण माने जा सकते हैं। वैसे तो गुजराती भाषा का उद्भव भालण के समय से माना जाता है। परंतु उसमें सही निखार प्रेमानंद और अखा आदि में मिलता है। दयाराम मध्यकालीन गुजराती साहित्य के आखिरी प्रतिनिधि माने जाते हैं।

वैसे देखें, तो जिस समय कवि दयाराम पदों और गरबियों (कृष्णभक्ति के गेय पद) की रचना कर रहे थे। उस समय तक परोक्ष रूप से अंग्रेजों का शासन शुरू हो चुका था और आधुनिक युग के प्रारंभिक कवि दलपतराम (सन् 1818) तथा नर्मद (सन् 1833) पैदा हो चुके थे। दलपतराम ने सन् 1833 के आसपास शब्दों को जोड़ना भी शुरू कर दिया था। व्यापार के लिए आए अंग्रेजों ने देशी राजाओं की निर्बलता का लाभ उठा कर उनके साथ शासन-व्यवस्था में भागीदारी शुरू कर दी थी। भारतीय जनता को अंग्रेज़ी शिक्षा देने के लिए सन् 1820 में कानून बन गया था और कलकत्ता में अंग्रेज़ी स्कूल की शुरूआत हो गई थी। कवि दलपतराम को तो अंग्रेजी शिक्षा का सीधा लाभ नहीं मिला; परंतु सन् 1850 के आसपास मुंबई युनिवर्सिटी की स्थापना होने के कारण नर्मद को अंग्रेजी शिक्षा का लाभ अवश्य मिला। सन् 1845 में कवि दलपतराम ने मध्यकालीन काव्य-परंपरा से भिन्न 'बापानी पीपर' नाम की एक पद्य की रचना की थी। वह समय आधुनिक गुजराती साहित्य का प्रारंभिक समय था।

सन् 1820 के आसपास से ही पश्चिम के प्रभाव से भारतीय समाज के उच्चवर्ग में तथा खासकर बड़े शहरों में लोकजागृति आने लगी थी। उस युग को पूरे भारत में 'नवजागरण' के नाम से जाना जाता है। गुजराती में उस युग को 'सुधारक युग' अथवा 'नर्मद-दलपत युग' कहा जाता है। नर्मद के पूर्व दुर्गाराम, रणछोड़ गिरधर, नगीनदास, नृसिंहाचार्य जैसे अनेक उग्र विचारों वाले विचारकों ने नये विचारों की दिशा में चिंतन आरंभ किया था। वैसे तो वह समय भारी मनोमंथन का समय था। कितने ही विचारक भारतीय संस्कृति और सनातन धर्म को आग्रहपूर्वक पकड़े रहने के पक्ष में थे; तो कितने ही पश्चिमी संस्कृति तथा उसके नये विचारों को अपनाने के लिए आतुर थे। इसके लिए समाज में वैचारिक संघर्ष भी हुए। विचारों के मामलों में सदियों से नींद में पड़ा समाज अब जग गया था। ऐसे ही वातावरण में 'सुधारकयुग' की कविताएँ रची गई थीं। समाज-सुधार और नवजागरण उस युग के मंच थे। वह मंथन काल कुछ भिन्न रूप में 'पंडितयुग' में गोवर्धनराम और मणिलाल नभुभाई द्विवेदी तक चला।

गुजराती का पहला परिष्कृत उपन्यास 'करणघेलो' (सन् 1866) इतिहास पर आधारित है। उस दौरान उपन्यास लेखन का प्रयत्न दूसरे लोगों ने भी किया। नाटक, निबंध, चरित्र

तथा समीक्षात्मक लेखन भी शुरू हो गया था। इस तरह नर्मदयुग (सन् 1845 से 1885) में सभी गद्यविधाओं का विकास हुआ।

सन् 1886 से 1125 तक का 'पंडितयुग' एक तरह से सुधारक युग की ही नवीन आवृत्ति है। सुधारक युग के विचार इस युग में दर्शन और चिंतन के रूप में अभिव्यक्त होने लगे। नर्मदयुग की मंथनशीलता ने इस युग में समन्वय का रूप धारण कर लिया। स्थूल तथा घटनाप्रधान रचनात्मकता को छोड़ कर युग का मानस जीवन, धर्म, कला, संस्कृति, प्रेम और अध्यात्म जैसे विषयों को गहन चिंतन के साथ प्रस्तुत करने लगा। इसका उत्तम उदाहरण गोवर्धनराम त्रिपाठी कृत चार खंण्डों वाला विशालकाय उपन्यास 'सरस्वतीचंद्र (सन् 1886 से 1905) है। उसमें प्रौढ़ता के साथ-साथ स्वच्छंदता भी है; तथा यथार्थ के चित्रण के साथ-साथ आदर्शों का भी निरूपण है। उसमें व्यक्ति जीवन परिवार जीवन, राजनीतिक जीवन तथा साधु जीवन–इस तरह चार भागों में कथा का वर्णन करके क्रमशः कर्म, अर्थ, धर्म और मोक्ष को दार्शनिक पीठिका पर प्रस्तुत किया गया है। लोककल्याण और लोकमंगल को केंद्र में रख कर लिखे गए और इस उपन्यास में पाश्चात्य संस्कृति, प्राचीन भारतीय संस्कृति तथा वर्तमान भारतीय संस्कृति का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। भारतीय उपन्यास साहित्य में जो स्थान रवींद्रनाथ टैगोर के 'गोरा' का है, वैसा ही स्थान गोवर्धनराम त्रिपाठी के 'सरस्वतीचंद्र' का भी है। सामाजिक कथा के रूप में प्रशंसित यह उपन्यास गुजराती साहित्य में आज भी एक उत्तम और प्रौढ़ कृति माना जाता है। उसी जमाने में रमणभाई नीलकंठ ने 'भद्रंभद्र' (सन् 1900) नामक हास्य-व्यंग्य प्रधान उपन्यास लिखकर सनातन धर्म की त्रुटियों का निर्देश किया तथा 'राईनो पर्वत' जैसे नाटक के द्वारा राजधर्म को प्रस्तुत किया। वैसे तो पंडितयुग भव्यता और दिव्यता की आराधना करने वाला युग रहा; परंतु यह भी मानना पड़ेगा कि उस युग में ही विश्वविद्यालयी शिक्षा प्राप्त विद्वान् लेखकों ने गुजराती साहित्य को सुदृढ़ बनाया।

11.3 गांधीयुग (सन् 1926-1945)

बहुत-से विचारक गांधीयुग का आरंभ 1930 ई. से मानते हैं; क्योंकि उनके अनुसार उसी वर्ष उमाशंकर जोशी की लंबी कविता 'विश्वशांति' प्रकाशित हुई थी। परंतु सच तो यह है कि सन् 1920 के आसपास ही गांधीयुग शुरू हो चुका था। उस समय तक पंडितयुग का आदर्श और चिंतन-दर्शनपरक साहित्य सर्जन यथार्थ से बहुत दूर हो चुका था और उधर जीवन की समस्याएँ तथा समाज की विचारधारा बदलने लगी थी। अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध सन् 1905 से ही विरोध शुरू हो गया था। सन् 1915 में गांधीजी दक्षिण अफ्रीका से स्वदेश वापस आए थे। दक्षिण अफ्रीका में सफलतापूर्वक सत्याग्रह कर चुके थे। यहाँ आकर उन्होंने अपने देश की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति से परिचित होने के लिए अभियान आरंभ किया। अपने राजनीतिक गुरु श्री गोखले जी की प्रेरणा से उन्होंने पूरे देश की अनेक यात्राएँ कीं। देश की वास्तविक स्थिति देखकर वे विह्वल हो उठे थे। गाँवों में गरीबी, अज्ञान और अंधविश्वास तो था ही मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव भी बहुत गहरा था। शहरों की स्थिति भी उससे बहुत भिन्न न थी। राज्य शासन के नाम पर अंग्रेज़ सबका शोषण करने में लगे हुए थे और देश की जनता जाने-अनजाने सब कुछ सहन कर रही थी। समग्र देश धर्मभेद, जातिभेद, जातिभेद, प्रांतभेद, संस्कार-भेद और भाषा-भेद के असंख्य आघातों से क्षत-विक्षत हो रहा था। राष्ट्रीयता के नाम पर किसी प्रकार की जागृति न थी। वर्ण-भेद की वजह से सारा समाज अलग-अलग खेमों में बँटा हुआ था और छिन्न-भिन्न हो चुका था। भयंकर शोषण का दौर चल रहा था। ऐसे समय में गांधीजी को देश में

समता, मानवता और बंधुत्व की भावना जगाने की ज़रूरत महसूस हुई। उन्हें यह लगा कि इस समाज को एकमात्र स्वतंत्रता आंदोलन के ज़रिये जागृत नहीं किया जा सकता। शोषण रहित तथा सर्वोदयी भावना वाले समाज की रचना करने की उनकी प्रबल इच्छा थी। गाँवों को हरेक प्रकार से जागृत करने की ज़रूरत उन्हें महसूस हुई। इसी दौरान उन्हें फिर से दक्षिण अफ़्रीका जाना पड़ा; दो वर्ष में ही वे स्वदेश वापस आ गए। इस बार वे खाली हाथ नहीं आए; बल्कि 'मेरा हिंद स्वराज का स्वप्न' नामक एक छोटी-सी पुस्तिका के रूप में अपने दृढ़ निश्चय के साथ वापस आए और मात्र तीन वर्ष में ही उनका सिंहनाद देश भर में गूँजने लगा। 'हरिजन आश्रम', साबरमती आश्रम' आदि की स्थापना करने के साथ-साथ अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए 'हरिजन बंधु', 'यंग इंडिया' तथा 'नवजीवन' जैसी पत्रिकाओं का प्रकाशन भी उन्होंने आरंभ किया। सन् 1857 के विद्रोह के निष्फल हो जाने के बाद अचेत पड़ा भारतीय समाज अब पुनः जागृत होने लगा। जीवन के अनेक क्षेत्रों में गांधीजी का प्रभाव तेज़ी से बढ़ने लगा। कितने ही नेता और सामाजिक कार्यकर्ता उनके साथ जुड़ गए। सन् 1925 तक तो मोहनदास करमचंद गांधी नामक व्यक्ति हिंदुस्तान की सीमा के पार तक विख्यात हो गया। आज़ादी की लड़ाई निंरतर आगे बढ़ने लगी। इसी बीच सन् 1926 में गांधीजी की आत्मकथा 'सत्यना प्रयोगो' (सत्य के प्रयोग) नाम से प्रकाशित हुई; और उसी के साथ गुजराती साहित्य में 'गांधीयुग' की आधारशिला पड़ी।

उसी दौरान कन्हैयालाल मुंशी अपने ऐतिहासिक उपन्यास लेकर फलक पर आए। उन्होंने अपने उपन्यासों (गुजरातनो नाथ, जय सोमनाथ आदि) के तेजस्वी पात्रों के माध्यम से गुजरात की अस्मिता लोगों के सामने प्रस्तुत की। गांधीजी के द्वारा उद्घोषित देशप्रेम तथा राष्ट्रीयता की भावना को उससे बल मिला। उधर धूमकेतु कहानी लेखन में सक्रिय हुए। पहली बार गुजराती साहित्य में उनकी कहानियों में गाँव तथा गाँव का आम आदमी चित्रित हुआ। अब तो साहित्य सिर्फ़ नगर की या उच्चवर्ग की वस्तु न रहकर गाँव की झोपड़ियों तक पहुँच गया। यह सब गांधीजी के प्रभाव से हुआ। ऐसा नहीं हुआ होता, तो पन्नालाल पटेल सर्जक (उनके पुरोगामी मेघाणी समेत) ग्राम्य जीवन के चित्रण की ओर शायद ही उन्मुख हुए होते। हालाँकि अन्य प्रेरक परिस्थितियों ने भी ग्राम्य जीवन पर आधारित साहित्य सर्जन की पृष्ठभूमि तैयार की थी, जिनमें शिक्षा, उद्योग और शहर की ओर गाँव की अभिमुखता का उल्लेख किया जा सकता है।

गांधीयुगीन साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं-

- दलितों, पीड़ितों और शोषित के प्रति समभाव दिखाने वाला साहित्य।
- मानवता के गान और समानता तथा समभाव के आदर्श वाला साहित्य।
- ग्राम्य जीवन का चित्रण तथा आम आदमी का निरूपण करने वाला साहित्य।
- उत्तम चरित्र वाले नागरिकों के आदर्श का चित्रण करने वाला साहित्य।
- वर्गभेद मिटाने की हिमायत करने वाला साहित्य।
- गांधीजी के जीवन, उनके कार्यों और विचारों का आलेखन करने वाला साहित्य।
- प्रकृति एवं प्रेम को यथार्थ की भूमिका पर प्रस्तुत करने वाला साहित्य।
- विश्वमानवता की भावना जगाने वाला साहित्य।

- शुद्ध कला के बजाय जीवन के चित्रण पर बल देने वाला साहित्य।
- सन् 1940 के बाद शुद्ध साहित्य की दिशा में कदम बढ़ाने वाला साहित्य।
- उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, कविता, चरित्र आदि तमाम विधाओं में समाज और मूल्यों के चित्रण पर बल देते हुए भी साहित्यिक गुणवत्ता की रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील साहित्य।
- सरल-सहज भाषा और स्थानीय बोली को महत्व देने वाला साहित्य।

11.4 साहित्य में गाँव

गांधीजी ने जब गाँवों में बसे भारत का पहली बार दर्शन किया, तब उन्हें महसूस हुआ कि भारत की आत्मा तो गाँवों में पड़ी-पड़ी घुट रही है। इसीलिए उन्होंने स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ ग्रामोद्धार की योजना बनाई। गाँवों के उद्धार तथा पुनर्रचना के लिए ग्रामाभिमुख होने की भावना को उन्होंने तेज़ किया। स्वदेशी भावना को जागृत करके उन्होंने चरखे जैसा उपार्जन का एक साधन दिया। गाँवों के उत्थान के लिए उन्होंने शिक्षा के साथ-साथ वर्गभेद तथा वर्णभेद मिटा करके अस्पृश्यता को दूर करने का अभियान चलाया। सत्य और अहिंसा जितना ही महत्व गांधीजी ने अस्पृश्यता निवारण को दिया था। साहित्य पर गांधीजी का प्रभाव स्वाभाविक रूप से ही पड़ा। एक तरफ तो गांधीजी की सादगी और उनकी विचारधारा ने साहित्य को यथार्थवादी बनाया, तो दूसरी ओर उनकी भावनाएँ साहित्य को आदर्शवाद की ओर ले गई। झबेरचंद मेघाणी यथार्थवादी रचनाशीलता के उदाहरण हैं; तो रमणलाल वसंतलाल देसाई आदर्शवादी साहित्य सर्जन के उदाहरण हैं।

शिष्टवर्ग के लिए ही साहित्य सर्जन का आग्रह गांधीयुग में खंडित हुआ। इसी तरह दिव्य तथा भव्य विषय वाला साहित्य ही साहित्य कहा जा सकता है–यह धारणा भी गांधीयुग में टूटी। साहित्य के दृष्टिकोण में व्यापकता आई और संकीर्णता दूर हुई। उच्चवर्ग या उच्च मध्यवर्ग को लक्ष्य में रखने वाला पंडितयुगीन साहित्य गांधीयुग में परिवर्तित हुआ। यहाँ तक आते-आते आम आदमी और उसका जीवन साहित्य का विषय बना। सीधे एवं सरल ढंग से कहें, तो सामान्य जनता के द्वारा सामान्य जनता के लिए साहित्य रचा जाने लगा। एक सामान्य मजदूर भी समझ सके, ऐसी सरल भाषा-शैली का प्रचलन भी हुआ। इस तरह गाँव पहली बार साहित्य का विषय बना।

धूमकेतु की कई कहानियों में तथा 'पराजय' और 'अजिता' जैसे उपन्यासों मे ग्राम-जीवन की पक्षधरता सन् 1926 से ही दिखने लगी थी। उमाशंकर जोशी ने 'सापना भारा' (सन् 1931-32) के एकांकियों में पूर्वोत्तर गुजरात के ग्रामीण इलाकों का चित्रण किया। उसके बाद मेघाणी ने साहित्य में सोरठी (काठियावाड़ी) लोकजीवन का चित्रण शुरू किया। तदुपरांत पन्नालाल पटेल और उनके समकालीनों ने गुजरात के अलग-अलग भागों के लोकजीवन को साहित्य के माध्यम से मुखरित किया। गाँव का कृषि आधारित जीवन, गाँव के लोगों के व्यसन तथा अंधविश्वास में रचे-पचे लोकमानस के आपसी ईर्ष्या-द्वेष तथा उससे पैदा होने वाले झगड़े, दाँव-पेच, पारिवारिक वैर तथा मान-अपमान की ग्रामीण धारणाओं का चित्रण साहित्य में होने लगा। इसके अलावा प्रेम, स्त्री-पुरुष-संबंधों की जटिलताएँ, जाति-बंधन, प्राचीन लोककथाएँ तथा शौर्यकथाएँ भी साहित्य में काफी मात्रा में चित्रित होने लगीं। गाँव के किसानों और कारीगरों का जीवन साहित्य की पीठिका के रूप में उभरने लगा। कहीं-कहीं स्वच्छंदतावाद का प्रभाव था, तो अधिकांशत:

यथार्थवादी दृष्टि की प्रधानता थी। कन्हैयालाल मुंशी, धूमकेतु आदि लेखक इतिहास का आधार लेकर जनता के जीवन की अस्मिता को उजागर करने लगे थे। और, इस तरह गाँव तथा गाँव का उपेक्षित जनसमूह, अपनी दिनचर्या, अपने जीवन के क्रिया-कलापों तथा रीति-रिवाजों के साथ अपनी ही बोली-भाषा में अभिव्यक्ति पाने लगा। पन्नालाल पटेल और रचनाकार में यह सब कुछ अत्यंत स्वाभाविकता से अभिव्यक्त हुआ है।

11.5 पन्नालाल पटेल के समकालीन रचनाकार

सन् 1940 में पन्नालाल का पहला उपन्यास 'वळामणा' प्रकाशित हुआ। उसके पहले उमाशंकर जोशी के 'सापना भारा' के एकांकियों तथा 'श्रावणी मेळो' आदि कहानियों में, झवेरचंद्र मेघाणी के उपन्यास 'सोरठ तारा बहेता पाणी' में ग्राम जीवन तथा ग्रामीण जनमानस का निरूपण हो चुका था। सामान्य विषयों का वर्णन करने वाली कविताओं ने भी विषय के प्रति अपनी घेरेबंदी को तोड़ दिया था। रमणलाल वसंतलाल देसाई जैसे युगमूर्ति कथाकार ने 'ग्रामलक्ष्मी' जैसे उपन्यास की रचना करके गांधीजी के समग्र जीवन, कार्य तथा जीवन दर्शन को साहित्य द्वारा जनता के समक्ष रखा था। पन्नालाल के सामने रमणलाल वसंतलाल देसाई का आदर्श था; परंतु यह कहना चाहिए कि उन्होंने एकांकीकार और कहानीकार उमाशंकर जोशी तथा कथाकार मेघाणी की यथार्थवादी रचनाशीलता का मार्ग ही पकड़ा था। उस दौरान कविता भी प्राय: यथार्थवादी रही। पन्नालाल ने इन सर्जकों के बीच अपने विवेक से अलग रास्ता अपनाया। जीवन की विसंगतियों के प्रति उमाशंकर जोशी की भाँति पन्नालाल कठोर नहीं बने; क्योंकि वे समाज सुधारक बनना नहीं चाहते थे। उन्होंने गाँवों के सुधार की कोई योजना नहीं बनाई। दूसरी तरफ़ उन्होंने रमणलाल वसंतलाल देसाई की तरह आदर्शों के प्रचार-प्रसार का भी मार्ग नहीं पकड़ा। वे कन्हैयालाल मुंशी के समान इतिहास के अध्येता नहीं थे; साथ ही उन्होंने देश-विदेश का साहित्य भी नहीं पढ़ा था। ऐसी स्थिति में स्वाभाविक था कि पन्नालाल पटेल ने अपने आसपास के, अपने देखे-भाले तथा अपने जिए-भोगे जीवन को व्यक्ति चरित्र के रूप में यथार्थवादी दृष्टि से चित्रित करना पसंद किया। यही नहीं वे अपने सर्जन के द्वारा किसी लोकमंगल की भावना का प्रचार भी नहीं करना चाहते थे। फिर सुधार का उपदेश देकर जनता को किसी आदर्श की दिशा में ले जाने का उनका कोई इरादा भी न था। उनका सरोकार तो पारिवारिक जीवन और उसी बहाने ग्रामीण समाज के जीवन के चित्रण के साथ था। गाँव की खेती, गाँव के लोगों के पर्व, तीज-त्योहार तथा उनके जीवन के अच्छे-बुरे प्रसंगों को किसी कथासूत्र में पिरोकर चित्रित करना पन्नालाल का लक्ष्य था। उन्हें तो किसान-मजदूर की बात करनी थी; प्रेम और विरह के बहाने व्यक्ति की कूवत का परिचय देना था तथा साथ ही प्राकृतिक आपदाओं से जूझते मनुष्य की औकात को उभारना था। इन सब विशेषताओं के कारण पन्नालाल पटेल कुछ अलग किस्म के सर्जक के रूप में उभर कर हमारे सामने आते हैं।

पन्नालाल के अन्य समकालीनों में 'जनमटीप' और 'भवसागर' के लेखक ईश्वर पटेलीकर, 'खेतरने खोळे' के लेखक पीतांबर पटेल तथा 'लीलुडी धरती' तथा 'वेळा वेळानी छांयडी' के लेखक चुनीलाल मडिया विशेष उल्लेखनीय हैं। एक तरह से कहें, तो ये सभी लेखक 'गांधीयुग के उत्तरार्ध के लेखक हैं; और इनके सर्जन पर गांधीजी के जीवन तथा उनके क्रिया-कलापों का परोक्ष प्रभाव लक्षित होता है। पीतांबर पटेल के

उत्तर गुजरात के लोकजीवन का, मडिया ने सोरठी (काठियावाड़ी) लोकजीवन का तथा ईश्वर पेटलीकर ने मध्यगुजरात के जन जीवन का चित्रण किया है। सचमुच वह काल जनपदी (ग्राम-केन्द्रित) कथा साहित्य का स्वर्णकाल था।

11.6 सारांश

पन्नालाल पटेल आधुनिक युग के सर्जक हैं। गुजराती साहित्य में आधुनिक युग का प्रारंभ दलपत-नर्मद (सन् 1950) से शुरू हुआ। उस युग का साहित्य मुख्यत: सुधारवादी साहित्य था। वह नवजागरण का काल था; अंग्रेजों के शासन तथा पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से उस दौरान जन-जागृति आने लगी थी। गुजरात के सांस्कृतिक क्षेत्र में उस काल को प्रथम नवजागरण का काल कहा गया है। दलपत-नर्मद का समय पूरा होते ही 'पंडितयुगीन' साहित्य का उदय होता है। उस युग में विश्वविद्यालयी शिक्षा प्राप्त विद्वानों द्वारा विचार तथा चिंतन प्रधान साहित्य लिखा गया। भावनाओं तथा संवेदनाओं के साथ-साथ जीवन की विसंगतियों का परिचय कराने वाला साहित्य उन सर्जकों ने हमें दिया। गोवर्धनराम त्रिपाठी का चार खंडों का विशालकाय उपन्यास 'सरस्वतीचंद्र' पंडितयुग की एक अनुपम देन है। उसमें उस युग की सभी विशेषताएँ एक साथ उभरकर सामने आई हैं। उसके बाद कन्हैयालाल मुंशी ने इतिहासपरक उपन्यासों की रचना की। सन् 1920 के आसपास देश और समाज पर गांधीजी का प्रभाव व्यापक होने लगा था; परिणामत: साहित्य पुन: समाज तथा उसकी समस्याओं के चित्रण की ओर अभिमुख हुआ। पन्नालाल पटेल के पूर्ववर्ती तथा समकालीन सर्जक के रूप में मेघाणी, धूमकेतु, रामनारायण विश्वनाथ पाठक (रा. वि. पाठक), उमाशंकर जोशी आदि ने गांधीयुगीन विचारधारा का पोषण करने वाला साहित्य रचा। सन् 1940 से पन्नालाल पटेल ने साहित्य सर्जन के क्षेत्र में प्रवेश किया और सन् 1947 में उन्होंने 'मानवीनी भवाई' जैसी श्रेष्ठ रचना हमें दी। इस तरह आपको, इस इकाई में इस विषय पर समीक्षात्मक जानकारी मिली।

11.7 प्रश्न

1. आधुनिक गुजराती साहित्य के युग-संदर्भ का चित्रण कीजिए।
2. पंडितयुगीन साहित्य की पृष्ठभूमि बताइए।
3. गांधीयुगीन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का वर्णन कीजिए।
4. साहित्य में गाँव का प्रवेश कैसे हुआ तथा उसका परिणाम क्या हुआ?
5. पन्नालाल पटेल के समकालीन सर्जकों का परिचय दीजिए।

इकाई 12 'मानवीनी भवाई' की कथावस्तु और विशेषताएँ

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 कथावस्तु

12.3 'मानवीनी भवाई' की विशेषताएँ

12.4 सारांश

12.5 प्रश्न

12.0 उद्देश्य

इस इकाई में पाठक को 'मानवीनी भवाई' उपन्यास का कथासार प्राप्त होगा। यह उपन्यास जिस परिवेश में तथा जिस प्रदेश में रचा गया है, उसे प्रदेश की जीवन-चर्या का भी यहाँ परिचय मिलेगा। राजू और कालू इस उपन्यास के प्रमुख पात्र हैं। वे दोनों प्रेमी शादी क्यों नहीं कर सके? आगे का उनका जीवन कैसे बीता? खलपात्र बुढ़िया माली ने उन्हें किस प्रकार सताया? अकाल कितना भयानक था? कालू-राजू आदि पात्रों की कैसी दुर्गति होती है? इन सारे प्रश्नों का विस्तृत उत्तर यहाँ मिलेगा। यहाँ यह भी जानने को मिलेगी कि इस रचना की कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं। आशय यह है कि इस इकाई में 'मानवीनी भवाई' उपन्यास की कथावस्तु की प्रमुख विशेषताएँ प्राप्त हो जाएँगी।

12.1 प्रस्तावना

पन्नालाल का मूल स्थान (जन्म-स्थान) गुजरात तथा राजस्थान को जोड़ने वाले, पुराने समय के बनजारी मार्ग पर स्थित है। 'मांडली सीमलवाडा तालुका (तहसील), जिला डुंगरपुर का एक छोटा-सा गाँव है। पहाड़ियों, झरनों और नदी-नालों वाला वह प्रदेश है। एक तरह से कहा जाए, तो आरण्यक परिवेश है। मांडली गाँव कृषि प्रधान था। पन्नालाल भी किसान परिवार में पैदा हुए थे। बीसवीं सदी के आरंभ का वह समय था। वह इलाका सभ्य समाज से बिल्कुल अलग-अलग था। अज्ञान, अशिक्षा, अंधविश्वास तथा गरीबी की चपेट में जीवन गुजारते इस इलाके की दूसरी भी अनेक कठिनाइयाँ थीं। दरबारी शासन के अन्याय और जुल्म वहाँ की जनता को सहन करने पड़ते थे। आर्थिक स्थिति भी अच्छी न थी। इसलिए साहुकार ब्याज वसूल करने में ही उनका सब कुछ चूस लेते थे। अनाज-पानी भी बहुत मुश्किल से मिल पाता था। पन्नालाल पटेल के मानस पटल पर स्थानीय (आंचलिक) परिवेश हमेशा छाया रहता था। वहाँ का मौसम और वहाँ की विविधरंगी प्रकृति उन्हें बहुत प्रिय थी। उस गाँव की जनता के तीज-त्योहारों और नाना प्रसंगों में लोकजीवन की अभिव्यक्ति देखने को मिलती; खेतों की जुताई के बाद बुवाई, निराई और फसल की कटाई में एक से अधिक मौसम गुज़र जाते; वहाँ की जनता आनंद के लिए तीज-त्योहारों के अलावा मेलों का भी आयोजन करती। कहीं-कहीं लोग ढोल और बाँसुरी भी बजाते; सिवान और जंगल गूँज उठते। इस सबके बीच प्रेमियों की प्रेमकथाएँ बहुत रंगीन रूप धारण कर लेतीं। कभी-कभी लोग मध्यकालीन प्रेमकथाएँ कहते; अकाल

भी पड़ता, दावाग्नि भी लगती और महामारी भी फैलती। कभी सगाई-विवाह होता, कभी गोद-भराई की रस्म होती, तो कभी गौने का प्रसंग आता। थोड़े पढ़े-लिखे एक-दो लोग कभी-कभी रामायण-महाभारत तथा ओखाहरण की कहानियाँ पढ़कर सुनाते। हुक्का-बीड़ी पीकर रोज़-रोज़ की थकावट को मिटाने की कोशिश करते लोग जीवन की लाचारी को भूलने के लिए कभी-कभी अफीम और कसुंबा भी ले लेते। ऐसा है वह प्रकृति और ग्राम-संस्कृति से ओतप्रोत गुजरात के उत्तर-पश्चिम का इलाका। वहाँ सुख-दुख का संघर्ष है, तो प्रेम की मिठास और प्यास भी है। परिवारों के आपसी दाँव-पेच और वैर-विरोध है, शादी-ब्याह या गौने के दावत-भोज भी हैं। पन्नालाल पटेल ने 'मानवीनी भवाई' में इस इलाके को केंद्र में रखकर भूख और गरीबी की कथा का अंकन किया है। इस रचना में जहाँ एक ओर हृदय की भूख (प्रेम) का आक्रंद अपनी चरम सीमा पर है, तो दूसरी ओर पेट की भूख का हाहाकार भी कम नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह गुजरात का पल्ली समाज है। और शरदबाबू की तरह कहें, तो यह गुजरात का ही नहीं भारतीय पल्ली समाज है। 'मानवीनी भवाई' कालू और राजू के शैशव और किशोर वय की सगाई तथा उनके प्रेम की कहानी कहने वाली कृति है। छल-प्रपंच की वजह से कालू और राजू की शादी नहीं हो पाती। इस रचना में उनकी जुदाई की कथा भी अत्यंत हृदय-विदारक रीति से कही गई है। कथा के उत्तरार्ध में लेखक ने कथानायक और कथानायिका को भयंकर अकाल के बीच डालकर मनुष्य की भूख और उसकी लाचार वेदना का सविस्तार चित्रण किया है। व्यक्तियों के जीवन पर आधारित, लोकजीवन का चित्रण करने वाला यह उपन्यास भारतीय कथा-साहित्य में एक उत्तम कृति है।

12.2 कथावस्तु

'मानवीनी भवाई' का पहला प्रकरण 'फलैशबैक' पद्धति पर लिखा गया है। एक ठंडी रात में, खेत की एक झोपड़ी में अलाव के पास बैठकर हुक्का पीता वयोवृद्ध कालू अपने अतीत को याद करता है। परंतु आगे की कथा कालानुक्रम से ही चलती है। अर्थात् थोड़ी देर के लिए यदि पहला प्रकरण कथा से निकाल भी दें, तो कथा में कोई विक्षेप नहीं पड़ेगा। 'मानवीनी भवाई' का दूसरा भाग 'भांग्यना भेरूं' नाम से लिखा गया है। उसमें नायक-नायिका कालू और राजू की संघर्ष कथा आगे बढ़ती है। तीसरा भाग 'घम्मर वलोणुं' दो भागों में विभक्त है। उनमें कालू और भली के पुत्र प्रताप तथा उसकी पत्नी चंपा की कथा केंद्र-स्थान में है। हम यहाँ पर 'मानवीनी भवाई' की मुख्य कथा को केंद्र में रखेंगे।

'मानवीनी भवाई' की कथा कालू के जन्म से समय से आरंभ होती है। किसी सुसुवाती रात में तीस-पैंतीस घरों वाले एक छोटे-से गाँव में कालू के जन्म का वर्णन है। कालू की माँ का नाम रूपाडोसी तथा बाप का नाम वालाभाई पटेल है। उनके जीवन की प्रौढ़ावस्था में भगवान को भूख बुझानी थी; इसलिए कालू के जन्म ने वाला पटेल के घर में तथा पूरे गाँव में भी उत्साह का रूप ले लिया था। गाँव की स्त्रियाँ वाला पटेल के यहाँ जमा होती हैं। बेटे का जन्म हुआ है; इसलिए उसके नामकरण के लिए तथा ग्रहदशा की गणना कराने के लिए ब्राह्मण को बुलवाया गया है; पत्थर पर दूब सरीखे बेटे का जन्म हुआ है और वह भी उस इलाके में पूजे जाने वाली 'काळियादेव' (पास में ही शामळाजी (श्यामजी-श्री कृष्ण) का मंदिर है। वहाँ के लोग शामळाजी को काळियादेव (कालादेव) के नाम से पूजते हैं।) के आशीर्वाद से हुआ है। इसलिए उसका नाम काळु (कालू) रखा जाता है। वाला पटेल के ही खानदान की एक औरत है माली। उसे यह सब कुछ अच्छा नहीं लगता। माली परमा पटेल की पत्नी है। परमा पटेल गाँव का मुखिया है। वह खुद उदार और रीति-नीति वाला

आदमी है; परंतु उसकी पत्नी माली स्वभाव से अत्यंत झगड़ालू तथा ईष्यालु है। ईश्वर ने उसे रणछोड़, नाथा और नाना नाम के तीन बेटे दिए हैं। घर में बहुएँ हैं; नाती-पोते भी आ गए हैं। परंतु माली को तो दूसरों का सुख सुहाता नहीं। अपने खानदान के वाला पटेल के बेटा पैदा हो और जो उसे सुख फूटी आँख से भी नहीं भाती, ऐसी रूपा (कालू की माँ) की गोद में किलकारी मारे-यह माली को सहन नहीं होता। ज्योतिषी ग्रहदशा देखकर बताते हैं कि बड़ा होकर यह बालक समाज का अगुवा बनेगा और इसके नसीब में दो औरतें लिखी हैं। यह सुनकर माली जल कर कोयला हो जाती है। वह कोई न कोई बहाना लेकर कालू के माँ-बाप के साथ झगड़ती रहती है। वह मन ही मन यह भी तय करती है कि इस कलमुँहे कालू को दो बार तो क्या एक बार भी शादी करने दूँ, तो मेरा नाम माली नहीं। वाला पटेल की पूरे इलाके में बड़ी पूछ थी; परंतु वह कालू को चार वर्ष का छोड़कर परलोक सिधार गया। माँ रूपा ने किसी तरह पाला-पोसा और जिसके मन में वाला पटेल के लिए बहुत इज्ज़त थी, ऐसी फूलीडोसी के प्रयत्न से गाँव में ही कालू की सगाई हो गई। इस घटना से बौखला कर माली ने झगड़ा किया और अपना सिर पीटने लगी। बुरा आदमी बुरा काम किए बिना नहीं रह सकता। ऐसे ही माली भी मौका मिलने पर छल-कपट करके राजू और कालू की सगाई तोड़वा देती है। कालू और राजू बचपन में एक साथ खेले-कूदे थे; खेतों में एक साथ घूमे-फिर थे। दोनों के मन में आकर्षण पैदा हो गया था। वे दोनों प्रेम को समझें, उसके पहले ही उनकी सगाई खटाई में पड़ गई। पर जवान होते ही दोनों की समझ में आ जाता है कि समाज ने भले ही उन्हें अलग कर दिया हो, परंतु दोनों के हृदय तो एक-दूसरे के लिए बैचेन थे। माली के सामने कालू की माँ का कोई वश नहीं चलता। उधर राजू की सगाई पड़ोसी गाँव के एक 'दुवाह' वर के साथ हो जाती है। शादी के बाद वह विदा हो जाती है। राजू के जेठ की बेटी भली के साथ कालू की शादी होती है। और इस तरह, जो प्रियतमा थी, और पत्नी बनने वाली थी, वह राजू कालू की चाची सास बन जाती है। भाग्य की विडंबना तो देखिए, कि अब राजू को कालू के साथ मिलना तो है, और कालू का कुशल-समाचार पूछना भी है; परंतु चाची सास के संबंध से; प्रेयसी या पत्नी के रूप में नहीं। वैसे तो शादी और समाज के सूत्र से बँध कर साथ तो रहना है, परंतु प्रेम के लिए आजीवन तरसते रहना है। बल्कि उनकी असली कसौटी तो आगे आती है। मरते समय कालू की माँ कालू से यह वचन ले लेती है कि वह दूसरी शादी नहीं करेगा। मानो रही-सही कसर वह पूरी कर देती है। बिरादरी में उस जमाने में एक के रहते दूसरी पत्नी लाने की रोक न थी। कालू ने माँ को वचन दे दिया है और राजू अब चाची सास बन चुकी है। वह करे तो क्या करे? कालू जब भी ससुराल जाता, राजू के लिए उसकी तड़प बढ़ जाती। कभी-कभी वह मन में यह भी तय करता है कि भले दुनिया जो कहे या करे; परंतु राजू की माँग में सिंदूर डाल दूँ और उसे अपने घर में लाकर बैठा लूँ। समझदार राजू सब कुछ समझती है और वह यह भी जानती है कि अब ऐसा कुछ भी संभव नहीं है। तभी कालू के कान में यह बात आती है कि माली किसी भी तरह से राजू की शादी अपने बेटे नाना के साथ कराने का इरादा रखती है। इससे कालू बहुत बेचैन हो उठता है। इतना ही नहीं, वह उग्र भी बन जाता है। उसका प्रेम सारे बंधन तोड़कर बाहर आ जाता है। वह राजू को बुलाकर खरा-खोटा सुना देता है। राजू को कालू के उन वचनों में अपार प्रेम दिखाई पड़ता है और उसकी आँखें भीग जाती हैं। वह कालू से कहती है कि राजू के सामने अभी इतनी लाचारी नहीं आई है कि वह ऐसी हरजाई बनेगी। तुम अपना कलेजा सवा मन का रखो। इससे कालू को थोड़ी राहत मिलती है। परंतु प्रेम की भूख शांत नहीं होती। घर में भली जैसी पत्नी है; परंतु कालू का मन शांत नहीं होता। पति-पत्नी दोनों के बीच बोलचाल बंद रहती है। भली कालू और अपनी चाची राजू के पुराने रिश्ते को जानती है। इसीलिए वह अधिक चिढ़ी रहती है। बेचारी

राजू को ही दोनों के बीच समझौता कराते रहना पड़ता है। कथा के बीच-बीच में माली और उसके परिवार की लड़ाइयों का भी ज़िक्र आता है। माली घर में किसी को चैन से रहने नहीं देती। परमाडोसा जैसे पति को भी खरी-खोटी सुनाती रहती है।

'मानवीनी भवाई' के प्रकरणों के शीर्षक भी काफी ध्यानाकर्षक हैं। कई प्रकरण तो कहानी के शीर्षक जैसे लगते है; जैसे – 'बावानी लँगोटी' 'धरतीना बीज' 'भूँडे भूँडानो भाग भजव्यो' 'दुखियारों परमो पटेल', 'अबोलाँ काळु-राजू', 'थाक्याना विसामा' 'जोवनाईना डंख', 'एमाँ तारे शुं' 'परथमानो पोठी', मनना मोरला', 'जीव्या-मार्याना जुहार', 'भूखी भूतावळ', 'मालीनुं मोत', 'मानवीनी भवाई', 'खोडणियामाँ माथाराम' और 'उज्जड आभले अमी' अड़तालीस प्रकरणों में विभक्त इस उपन्यास के महत्वपूर्ण प्रकरण हैं। पन्नालाल पटेल वर्णन कला में माहिर हैं। ग्रामीण परिवेश और कृषक जीवन की पृष्ठभूमि पर मुख्य और गौण-पात्रों की कथाओं का वर्णन उन्होंने संतुलन बनाए रखकर किया है। उस वर्णन में ग्रामीणजीवन की कथा विस्तार से चित्रित हुई है। पन्नालाल द्वारा बदलते मौसमों के चित्रण के एक उदाहरण से प्रकृति और मानव जीवन दोनों की गतिशीलता का अनुभव किया जा सकता है-

'इधर गेंद और डंडे (हॉकी) का खेल खेलता उत्तरायण (मकर संक्राति) भी आ गया; और साथ-साथ शिशिर में काँपती फसल के वासंती वस्त्र भी गायब हो गए; वसंत ने धरती पर पीले-पीले पत्तों का बिस्तर लगा दिया; और उसे भी फागुनी हवा ने तितर-बितर कर दिया। एक तरफ पकी फसल पर हँसिया चलने लगे, तो दूसरी तरफ होली के ढोल धमक उठे।' (पृ. 262)

ऐसी प्रकृति के साहचर्य में जीवन को गतिशील बनाने वाले लोग 'मानवीनी भवाई' उपन्यास की लोकचेतना को व्यापक फलक प्रदान करते हैं। पन्नालाल 'भवाई' के खेल, डेरा लेकर आते-जाते बंजारों, नटों के खेल, भिखमंगों के भजनों, होली के ढोल और फाग, गौने के प्रसंग, पहली बारिश, और खेतों की जुताई आदि लोकजीवन के विविध क्रिया-कलापों का चित्रण 'मानवीनी भवाई' में करते हैं। कथा में बार-बार राजू के प्रति कालू की लालसा का वर्णन आता है। ससुराल के संबंध के कारण कालू का राजू के घर बार-बार जाना और उससे मिलना होता है। पत्नी भली के साथ उसकी बनती नहीं है। राजू यह सब जानती है और उन्हें समझा-बुझाकर उनमें मेल कराने की भी कोशिश करती रहती है। साथ ही वह अपने पति द्याळजी (दयालजी) में पूरी निष्ठा भी रखती है और एक आर्य नारी की तरह जीवन जीती है। एक बार वह अपने मायके आती है। वहाँ स्वाभाविक है कि वह अपने जेठ की बेटी भली से मिलने कालू के घर भी जाती है। वहाँ भली अपने मन की भड़ाँस उसके सामने निकालती है और फिर खेत में काम करते कालू के लिए कलेवा लेकर राजू को भेजती है। खेत में काम करता कालू राजू को अपना कलेवा लेकर आते देखता है। उसे देखकर वह क्षण भर के लिए खुशी से झूम उठता है। परंतु दूसरे ही क्षण, पत्नी रूप में राजू को न पा सकने का दुख उसकी खुशी को वेदना में बदल देता है। राजू कालू को समझा-बुझाकर खाना खिलाती है। तब कालू उससे कहता है- 'राम जाने मुझे क्या चाहिए? पर इतना ज़रूर जानता हूँ कि मन को किसी भी तरह से चैन नहीं पड़ता। लगता है जैसे जनम से प्यासा हूँ और प्यासा ही रह जाऊँगा।'

इसके बाद कालू राजू से ज्यादा न मिलने का, और मन की साध को मन में दबाकर जीवन बिता देने का निश्चय करता है। फिर प्रेमियों की विरह-वेदना अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचती है। कथा के मध्यभाग से 'छप्पनिया अकाल' का चित्रण शुरू होता है। उसमें कालू और राजू की कसौटी भिन्न ढंग से होती है। पेड़ों के पत्ते झड़ जाते हैं; पेड़

ठूँठ बन जाते हैं। लोग गोबर में अनाज छिपाकर रखते हैं। रात होते ही भूखे भूतों के झुंड जैसे लुटेरे धावा बोलते हैं। भूखे लोग पेट की आग सह नहीं पाते; वे पशुओं को मारकर खाने लगते हैं। कोई भील की स्त्री दूर की एक पहाड़ी पर अपने बेटे को मारकर खा जाती है। कालू के मवेशियों को लुटरे हाँक ले जाते हैं। कालू अपने मवेशियों को बचाने के लिए जाता तो है, पर वहाँ पर भूख का विकराल रूप देख कर वह सुन्न हो जाता है। वह जिस तलवार से मवेशियों को बचाने गया था, वही तलवार 'लो सालो! अपनी माँ के खसमों!' कहकर उन भूखे लोगों की ओर फेंक देता है। जिंदे जानवरों को जहाँ खाया जा रहा हो, और भूख की पीड़ा से लोग हाहाकार कर रहे हों, वहाँ पर कालू के लिए रुकना मुश्किल हो जाता है। इसलिए हथियार फेंककर मानो वह बेजुबान पशुओं की मदद करता है। उनको जल्दी छुटकारा तो मिले। अकाल की मानो यह चरम स्थिति है। वापस आते कालू के मुँह से भगवान के लिए गाली निकल जाती है- 'अकाल डालने वाले भगवान तेरा सत्यानाश हो; तूने आदमियों की ये दशा की!' कालू के मन का आवेश फिर से बाहर निकलता है - 'मेरा वश चले तो दैव से भी भिड़ जाऊँ। अरे! इसे आसमान में छेद कर दूँ! यहाँ पर भूख की पराकाष्ठा दिखाई पड़ती है। दुबले-पतले कमज़ोर लोग तो कब के मर-खप गए। इस पर कालू और राजू कहते हैं कि अच्छा हुआ; उन बेचारों को मुक्ति तो मिली। यह सब देखकर उन्हें दुखी तो नहीं होना पड़ा।

इस भंयकर अकाल के समय में कालू अपनी ससुराल राजू की खोज-खबर लेने जाता है। अकाल के इस हाहाकार के बीच भी राजू के न मिलने की वेदना उसे टीसती रहती है। वह घड़ी भर के लिए सपनों में खो जाता है- लंबी, पतली, गोरी और नुकीले नयनों वाली राजू सीधी गरदन किए सामने से आती है और उसके घर को सँभाल लेती है। परंतु यह तो सपने की बात थी; जबकि सचमुच में राजू अभी हारी नहीं है। वह अपने परिवार तथा पति को बचाने के लिए नीति के मार्ग पर चलते हुए हर संभव कोशिश करती है। वह कालू को अपनी आपबीती सुनाती है- 'एक दिन मैं दुकान पर अनाज लेने गई। सेठ ने मेरे शरीर का बखान किया और मेरे साथ छेड़-छाड़ करने लगा। उस दिन मैं खाली हाथ वापस आई। लौटते समय मेरे मन में तरह-तरह के विचार उठने लगे। मैं सोचने लगी कि यदि मैं मरद होती तो उस सेठ का तो खून ही कर डालती और उसके गोदाम को भूखे लोगों द्वारा लुटवा देती।' कालू ने राजू का यह रूप नहीं देखा था। अपने पति को बचाने के लिए राजू कुछ भी कर सकती है। यह बात कालू को पता है। एक बार वह राजू से पूछ बैठा था कि 'राजू क्या तू सचमुच द्याळजी को बचाना चाहती है?' तब राजू ने जवाब दिया- 'तुम ऐसा सवाल करते हो?' फिर वह आगे कहती है- 'गहना-गुरिया, घर-जमीन भी बेचना पड़े तो बेच कर उन्हें बचाऊँगी। यदि हम जीते रह गए, तो फिर से बादशाही पैदा कर लेंगे।' यहाँ पर कालू की तुलना में राजू हाथ भर ऊँचा साबित होती है। द्याळजी के साथ वह सुखी है। यह बात राजू ने कालू को पहले भी बताई थी। फिर भी राजू काली की लालसा को जानती तो है ही। उसी प्रेम के कारण राजू कालू को सांत्वना देती है। अकाल के इस कठिन समय में साथ-साथ जीना तो संभव नहीं। परंतु साथ-साथ मरने और जलने की महेच्छा दोनों प्रेमी व्यक्त करते हैं।

सरकारी अनाज ले जा रही बैलगाड़ी को गाँव वाले रोकते हैं। कालू वहाँ बीच-बचाव करने की कोशिश करता है। तभी बंदूक की गोली उसे लगती है; और वह अपना आधा हाथ गँवा बैठता है। अब तो अपने गाँव में कुछ बचा है नहीं; वात्रक नदी सुख कर रेत बन गई है। बिना पत्तों के ठूँठ वृक्ष खाने को दौड़ते हैं। अब मवेशी भी नहीं रहे।

जहाँ देखो वहाँ अस्थि-पंजर ही नज़र आता है। बरस भर से गए मेघ वापस आने का नाम ही नहीं लेते। सब के साथ कालू, राजू भली और बचे हुए बच्चे पड़ोसी कस्बे डेगरिया की ओर चले जाते हैं। वहाँ के सेठों ने अन्नक्षेत्र खोल रखा है। डेगड़िया जाने के पहले ही लुटेरे दुष्ट माली को मार डालते हैं। दुष्टता का अंत कितना भयानक होता है, यह लेखक ने दिखाया है। मर जाने के बाद भी नाना अपनी माँ को सुनाते हुए कहता है- 'मरने के बाद जब तेरे पास आऊँगा, तब तेरा गला न दबाऊँ, तो समझना तेरी कोख का जाया नहीं।' माँ कहीं माली जैसी दुष्ट हो सकती है? कालू को वह सारी ज़िंदगी कलमुँहा कहती रही और गलियाँ देती रही; फिर भी माली की नंगी लाश पर कालू ही अपनी धोती का कफन ओढ़ाता है। पति, पुत्रों और बहुओं के साथ-साथ पूरे खानदान को चैन से जीने न देने वाली माली को लेखक ने मानो 'दैवीन्याय' (पोएटिक जस्टिस) द्वारा सुखद मौत दिलाई है।

डेगड़िया में नाना का परिवार भी आता है। वहाँ पर कालू की पत्नी जैसी स्त्रियाँ भी शरीर बेचने का धंधा करती हैं। यह सब देखकर कालू जैसे लोग अत्यंत दुखी होते हैं। कालू सोचता है कि यदि सत् कहीं है, तो वह सिर्फ दो जगहों पर है- एक राजू में तथा दूसरे मौत में। कुत्तों को डाले गए खाने पर लोग टूट पड़ते हैं। उन पर गोलियाँ बरसाई जाती हैं। अकाल में मनुष्य की क्रूरता भी बढ़ जाती है। ऐसी परिस्थिति में सेठ सुंदरजी धर्मादा अनाज शुरू करते हैं। सभी लोग अँजुरी भर अनाज लेने के लिए लाइन में खड़े हैं। परंतु एक कालू ऐसा है, जो अनाज लेने के लिए हाथ आगे नहीं बढ़ाता। वह कणबी (पटेल) का बेटा है। मंगन कैसे बन सकता है? इतना ही नहीं, वह यह भी कहता है कि 'हमारे सामने धान का जो ढेर लगा है, वह कौन-से खेत का है, कहो तो पहचान कर बता दूँ।' यह वाक्य सामाजिक विषमता तथा शोषण को उजागर करता है। उधर सेठ कहता है कि यह धान तो तुम्हारा ही है और तुम्हीं को देना है। जितनी शरम तुम्हें हाथ बढ़ाकर लेने में आती है, उतनी शरम हमें यह सदाव्रत करने में आती है। कालू हर रोज कमरे की सफाई जाने की शर्त पर अँजुरी भर अनाज लेता है। अँजुरी में अनाज लेकर वह रहने के ठिकाने पर पहुँचता है; परंतु तभी आँगन में ही भहराकर गिर पड़ता है। राजू उसे गोद में ले लेती है। तब कालू कहता है - राजू! तू कहती थी न कि भूख बहुत बुरी चीज है। परंतु भूख से भी खराब चीज आज मैंने देखी है। 'भूख से भी खराब भीख है। भूख तो सिर्फ शरीर को सिझाती है; परंतु भीख तो मन को भी मार डालती है।' ऐसी कठोर परिस्थिति में, लगता है अब मौत नज़दीक है।

राजू अब तक विधवा हो चुकी है। पहाड़ी की तलहटी में किसी ठूँठे पेड़ के नीचे कालू चित्त पड़ा है। वह राजू से आखिरी 'राम-राम' कहता है। यह सुनकर राजू भहराकर उसकी छाती पर गिर पड़ती है। दोनों यही कामना करते हैं कि ऐसे ही मौत आ जाए। राजू कालू को थोड़ा चलाने की कोशिश करती है। पर कालू मानो एकदम से थक गया हो; इस तरह कहता है- 'ऐसी मौत बार-बार नहीं आएगी राजू!' राजू समझ जाती है कि कालू को पानी की ज़रूरत है। परंतु पानी तो यहाँ कहीं था नहीं। राजू की गोद में कालू थोड़ा ऊपर उठता है; और उधर राजू थोड़ा झुकती है और अपना स्तन उसके होठों से लगा देती है। कालू की प्यास मिट जाती है। उसकी समग्र काया में चेतना का संचार होता है। आँखों में चेतना सुगबुगाने लगती है। हल्के स्मित के साथ वह राजू को निहारता है। और उधर उत्तरी क्षितिज पर बादलों का झुंड दिखाई पड़ता है। देखते ही देखते वे बादल उन दोनों को सराबोर कर देते हैं। लेखक लिखता है कि अब तो काल भी कालू और राजू को मार नहीं सकता। इस प्रकार अकाल से उबारने वाले बादलों के आगमन के साथ ही 'मानवीनी भवाई' कथाकृति पूरी होती है।

12.3 'मानवीनी भवाई' की विशेषताएँ

वर्ष 1985 में 'मानवीनी भवाई' को 'भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। यह उपन्यास आंचलिक उपन्यास के रूप में जाना जाता है। इसमे एक प्रदेश विशेष का कलात्मक निरूपण हुआ है। इसीलिए इसे प्रादेशिक उपन्यास भी कहा जा सकता है। जनपद के चित्रण की दृष्टि से यह उपन्यास तुरंत ध्यान खींचता है। खेती के सहारे जीने वाले गाँव और वहाँ के गरीबों के जीवन को ऋतुओं के ताने-बाने के साथ पन्नालाल ने इस रचना में बड़ी खूबी के साथ प्रस्तुत किया है। बदलती ऋतुओं के साथ वहाँ ही प्रकृति परिवर्तित होती है। लेखक सर्दी, गरमी और बरसात की खेती तथा उसकी तैयारियों का आलेखन सामाजिक जीवन की प्रकृति के साथ-साथ करता है। उपन्यास का प्रमुख पात्र किसान है तथा आसपास का ग्रामीण समाज भी खेती के काम में लगा हुआ है। इसलिए उपन्यास की कथा में खेती, गाँव-सिवान, ऋतुओं, मौसमों और मौसमों के अनुसार बदलती फसलों का तथा उसी से संबधित आनुषंगिक कथा का आलेखन होता है। गरमियों में खेतों में खाद डालना, असाढ़ में बरसात चालू होते ही खेतों में बुवाई करना, भादों में फसल की निराई करना, क्वार में तैयार फसल की कटाई करना; इसी तरह जाड़ों में गेहूँ-चने की बुवाई करना; उन्हें खाद-पानी देना; फिर होली बीतते-बीतते रबी की फसल की कटाई-मँड़ाई करना आदि किसानों की जीवन-चर्या का चित्रण बखूबी किया गया है। जाड़े की ओस भरी रातों में खेतों की रखवाली करते किसान 'दूहा' और भजन गाते हुए रात बिताते हैं। वर्षा ऋतु की पहली बारिश होती ही हळोतरा (हल चलाने का मुहुर्त) किया जाता है। इस मौके पर खाने के लिए कंसार बनाया जाता है। सावन में पक्के तथा ज्वार-बाजरे के खेतों में पक्षियों को भगाने के लिए मचान बनाए जाते हैं और उन पर बैठकर रखवाले पक्षियों को उड़ाया करते हैं। 'मानवीनी भवाई' नामक इस उपन्यास की रचना पन्नालाल पटेल ने खेत में मचान पर बैठकर ही की थी।

खेत-सिवान के जीवन की तरह ग्रामवासियों के सामाजिक जीवन का भी आलेखन इस उपन्यास में हुआ है। सगाई-विवाह के प्रसंग पर गुड़-लावा खाने के लिए लोग इकट्ठे होते हैं; होली के अवसर पर लोग खुशियाँ मनाते हैं। गरमियों में विवाह और फुलेका (विवाह के अवसर की एक रस्म) के अवसर पर स्त्री-पुरुष ढोलक की ताल पर नाचते-गाते हैं। सीमंत के समय भी प्रसंगोचित गीत गाए जाते हैं। ' वेसता वर्ष' (गुजरात में दिवाली के दूसरे दिन से नया वर्ष आरंभ होती है। इसीलिए उसे वेसता वर्ष कहा जाता है।) के दिन गाँव के युवक गायों को तोरण चढ़ाने का उत्सव मनाते हैं। समय मिलने पर एक-दूसरे के घर आना-जाना, किसी आपद्-विपद् में एक-दूसरे को सांत्वना देना और एक-दूसरे की मदद करना आदि सामाजिक व्यवहार ग्राम-जीवन के अंग हैं। साथ ही टोना-टोटका, अंधविश्वास, जंतर-मंतर, धागा-ताबीज, ओझा-सोखा, भूत-प्रेत आदि की अज्ञानपूर्ण मान्यताएँ भी उसी में घुली-मिली हैं। कालू-राजू जैसे मुख्य पात्रों की व्यक्तिगत तथा पारिवारिक कथाओं के सहज विकास तथा उन्हें गति देने के लिए इनका स्वाभाविक वर्णन उपन्यास में हुआ है। यह सारा वर्णन मुख्य कथा के साथ ओतप्रोत है। साथ ही मुख्य कथा को जीवंतता भी प्रदान करता है। यही नहीं, यह सारा वर्णन वहाँ की स्थानीय बोली-भाषा में वहाँ के अपने मुहावरों और कहावतों के साथ हुआ है। मतलब यह है कि यह उपन्यास सही अर्थों में आंचलिकता का वैशिष्ट्य लिए हुए है।

इस उपन्यास का मूल्यांकन उत्तम काल-प्रधान उपन्यास के रूप में भी किया जाता है। इसमें लेखक ने कालक्रम से जीवन के क्रिया-कलापों को बहुत सावधानी तथा बारीकी से

संग्रथित किया है। उपन्यास के पहले प्रकरण को छोड़ दें, तो बाकी के सारे प्रकरणों की कथा कालक्रम से आगे बढ़ती है। उपन्यास की कथा वर्ष 1900 के फलक पर रची गई है। वह वर्ष विक्रम सवत् 1956 वर्ष था। इसीलिए उस वर्ष का भयानक अकाल 'छिप्पनिया अकाल' के नाम से जाना जाता है। उपन्यास में उस अकाल का हृदय-स्पर्शी वर्णन हुआ है। एक तरह से देखें, तो काल की ही लीला है। एक छोटा-सा वर्णन देखिए- 'कालू के रास्ते में पड़ने वाला छप्पन के अकाल का मारा जंगल मानो खाने को दौड़ रहा था। पक्षी भी भूख और प्यास से बिलबिला रहे थे। चैती हवा भी बिगड़ गई थी। ऐसे में जली-भुनी धरती मानो कालू के पाँवों की दुश्मन बन गई थी, इस तरह वह आग उगल रही थी।' 'भूखी भूतावळ' नामक प्रकरण में भूख से जूझते लोगों की व्यथा-कथा प्रभावशाली ढंग से चित्रित की गई है। 'मानवीनी भवाई' का अर्थ भी 'जीवन का खेल' के रूप में सार्थक होता है। उसमें भी किसानों के लिए तो यह भवाई का खेल दो-चार मवेशियों और दो-चार बाल-बच्चों का ही खेल है। खेती के काम के लिए भी 'झाझा माणसनी भवाई' (ज्यादे आदमियों का खेल) जैसा भाषा-प्रयोग होता है। एक अकेला आदमी ठीक से खेती नहीं कर सकता। यह उपन्यास काल की कसौटी पर चढ़ने वाले, प्रेम की और पेट की भूख के लिए संघर्ष करते गाँव के सरल, किंतु साहसी लोगों की कथा है।

पात्रों की दृष्टि से भी यह उपन्यास उतना ही महत्वपूर्ण है। व्यक्तिजीवन के आलेखन में मुख्य और गौण दोनों पात्रों का बड़ा योगदान है। कालू और राजू दोनों विवेकशील पात्र हैं। दोनों परोपकारी और धैर्यवान् हैं। प्रेम के लिए तड़पते हुए भी वे कर्म की सामाजिक मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते। राजू को कालू जैसा मनमोहक छैल-छबीला पति नहीं मिला; जबकि उसका पति द्याळजी (दयालजी) रोगग्रस्त और लूला है। फिर भी वह कालू को ऐसा कोई मौका नहीं देती; जिससे मर्यादा का उल्लंघन हो। यही नहीं, वह अपने पति का इलाज अपने जेवर गिरवी रख कर कराती है। कालू भी राजू के प्रति अपार आर्कषण होते हुए भी, अपनी मर्यादा को अच्छी तरह से समझता है और उसे निभाता है। कालू पद से गाँव का मुखिया नहीं है; फिर भी गाँव और समाज में उसकी प्रतिष्ठा मुखिया जैसी ही है। अकाल के समय भी वह सभी की यथासंभव मदद करता है। उसकी काकी दुष्टा माली हमेशा उसे कलमुँहा कहा करती है; फिर भी माली के मर जाने पर उसकी लाश पर अपनी धोती का कफन डालता है। इस तरह कालू की गरिमा अनेक प्रसंगों में उभर कर सामने आती है। दूसरी तरफ राजू भारतीय उपन्यास साहित्य के अनेक नारी पात्रों की तरह ही एक गरिमापूर्ण पात्र है। उसकी तुलना प्रेमचंद के 'गोदान' की धनिया के साथ की जा सकती है। एक तरफ राजू अपने प्रेमी कालू की भावनाओं की रक्षा करती है, तो दूसरी तरफ पति द्याळजी का घर भी सँभालती है। अपनी भतीजी भली का घर-परिवार ठीक से चले, इसके लिए भी वह लगातार प्रयत्न करती रहती है। दुष्टा माली के छोटे बेटे नाना के साथ वह दूसरी शादी करने वाली है, यह अफवाह फैलती है। इससे कालू बौखला जाता है; तब राजू कालू को समझाती है कि दूसरी शादी की बात तो वह सपने में भी नहीं सोच सकती है। छोटे-बड़े सभी दुखों के बीच राजू सदैव हँसती रहती है। लेखक ने उसके यौवन का वर्णन करते हुए उसे वसंत ऋतु की हरी-भरी और विविधरंगी फूलों से लदी प्रकृति जैसी बताया है। स्वभाव से वह गंभीर और साथ-साथ चुलबुली भी है। उसके सिर पर जिम्मेदारियाँ धीरे-धीरे बढ़ती जाती हैं। कथा का अंत होते-होते तो वह विधवा हो जाती है। फिर भी हिम्मत नहीं हारती। साथ ही कालू को जीने की प्रेरणा भी देती है। खुद-दुख भोग कर भी दूसरों के सुख देना राजू का जीवन मंत्र लगता है। उसमें शरद् बाबू के नारी पात्रों की तरह अतिरिक्त भावुकता नहीं है। यथार्थ की भूमि पर उसका सर्जन हुआ है।

माली इस उपन्यास की खल पात्र है। गुजराती साहित्य में उसकी गणना एक विलक्षण पात्र के रूप में होती है। कारण कि किसी अन्य लेखक ने ऐसे दुष्ट स्त्री पात्र का चित्रण इतने विस्तार के साथ नहीं किया है। एक तरह से देखा जाए, तो उपन्यास के पूर्वार्द्ध में वाला, रूपा तथा कालू-राजू जैसे सत्पात्रों का संघर्ष माली जैसे दुष्ट पात्र के साथ निरंतर चलता रहता है। उपन्यास के उत्तरार्ध में माली का स्थान अकाल ले लेता है। इस तरह इस उपन्यास में सत् और असत् के बीच संघर्ष देखा जा सकता है। माली सगे बेटी को भी सुखी नहीं रहने देती; बहुओं और नाती-पोतों को भी शांति से खाने-पीने नहीं देती। वह अपने इज़्ज़तदार और प्रतिष्ठित पति को भी अकारण गालियाँ दे-देकर उसकी इज्जत को दो कौड़ी का कर देती है। राग-द्वेष से सुलगती माली अंत में लुटेरों के हाथों लूटी जाती है और बेरहमी से उनके हाथों मारी जाती है। उपन्यास के अन्य पात्र भली, नाना, परमा पटेल, कालू के माँ-बाप रूपा-वाला, फूली डोसी आदि हैं। ये सभी पात्र लेखक की कलम के जोर पर अपना-अपना प्रभाव छोड़ते नजर आते हैं। राजू का भाई कोदर इसका उदाहरण है। ग्रामीण समाज और वहाँ के लोगों का चित्रण सचमुच जीवंत और यादगार बन गया है।

वर्णन और वस्तु-चित्रण की दृष्टि से भी यह उपन्यास विलक्षण है। ऋतुओं तथा प्रकृति के वर्णन में काव्यात्मक शैली का उपयोग किया गया है, तो दूसरी ओर घटनाओं एवं पात्रों के चित्रण में चित्रात्मकता का सहारा लिया गया है। वर्णन के मामले में भी पन्नालाल मध्यकालीन कवि प्रेमानंद के जैसे कुशल हैं; कथा को कैसे रचा जाए, उसे रोचक कैसे बनाया जाए, किसका वर्णन करना है, किसका मात्र संकेत करना है, इन सब विषयों में पन्नालाल अत्यंत कुशल हैं। इस उपन्यास की कुछ सीमाएँ भी हैं; जैसे कि उपन्यास का पहला प्रकरण ही अनावश्यक लगता है। मानक भाषा के साथ बोलियों के प्रयोग में कभी-कभी असंतुलन दिखाई पड़ता है। कालू-राजू की विरह-व्यथा में कहीं-कहीं लेखक की भी आवाज़ सुनाई पड़ती है। परंतु ये सब नगण्य सीमाएँ हैं । वास्तव में 'मानवीनी भवाई' अपने समाजदर्शन एवं जीवनदर्शन की दृष्टि से एक उत्कृष्ट कृति है।

12.4 सारांश

इस उपन्यास के प्रमुख पात्र कालू-राजू के इर्द-गिर्द बुनी गई कथा के तंतु कुछ इस प्रकार हैं –सामान्य जीवन जीने वाले कुलीन दंपति वाला-रूपों के यहाँ जीवन के उत्तरार्ध में पुत्र का जन्म होता है। ब्राह्मण उसकी कुंडली की गणना करता है और स्थानीय चलन के अनुसार बालक का नाम 'कालू' रखा जाता है। फूली डोसी (बुढ़िया) की मदद से गला डोसा की बेटी राजू के साथ कालू की सगाई होती है। परंतु इसी बीच कालू के पिता वाला पटेल का देहांत हो जाता है। वाला पटेल के छोटे भाई परमा पटेल की ईर्ष्यालु पत्नी माली तथा राजू के मामा मनेगू के प्रपंच से कुछ ही समय में वह सगाई टूट जाती है। बिरादरी के पंचों की मध्यस्थता से जगा नरसी की बेटी भली के साथ कालू का तथा जगा नरसी के भाई द्याळजी के साथ राजू का विवाह होता है। कालू और राजू एक-दूसरे के लिए तड़पते रहते हैं। उस इलाके में 'छप्पनिया अकाल' पड़ता है। पेट की आग बुझाने के लिए पहाड़ी जंगलों में रहने वाले भील लोगों को लूटने लगते हैं। भय और भूख से पीड़ित ग्रामवासी पड़ोस के बड़े गाँव (कस्बे) डेगड़िया की ओर चले जाते हैं। उसी दौरान दुष्ट माली की करुण मौत होती है। अंत में कालू और राजू का मिलन होता है। साथ ही बारह महीने के वियोग को संयोग में बदलते हुए मूसलाधार बारिश होती है; और इस तरह कथा पूरी होती है।

इस तरह प्रस्तुत उपन्यास की कथावस्तु कालू-राजू की प्रणय कथा और 'छप्पनिया अकाल' से दुख भोगते ग्रामवासियों की व्यथा-कथा जैसी दो धाराओं में आगे बढ़ती है। मुख्य कथा के समानांतर कितने ही गौण पात्र तथा घटनाएँ कथा-प्रवाह को गति देने में सहायक सिद्ध होती हैं। इस तरह लेखक ने मुख्य और गौण कथानक के बहाने एक निश्चित भूखंड और वहाँ के वासिन्दों का जीवंत तथा मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। (शब्दाधीन, नितिन पडगामा)।

12.5 प्रश्न

1. 'मानवीनी भवाई' की कथावस्तु लिखिए।
2. 'मानवीनी भवाई' में निरूपित ग्राम्य जीवन की समीक्षा कीजिए।
3. 'मानवीनी भवाई' के प्रमुख पात्रों के बारे में लिखिए।
4. 'मानवीनी भवाई' में वर्णित अकाल के बारे में लिखिए।
5. 'मानवीनी भवाई' की विशेषताओं का निरूपण कीजिए।
6. उपन्यासकार के रूप में पन्नालाल पटेल का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई 13 'मानवीनी भवाई' का मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 मनुभाई पंचोली 'दर्शक' का अभिमत (मूल्यांकन)

13.3 चरित्र-चित्रण के बारे में डॉ. धीरेंद्र मेहता का अभिमत

13.4 नारी के चित्रण के बारे में भरत ना. भट्ट का अभिमत

13.5 कालू के बारे में डॉ. मणिलाल पटेल का अभिमत

13.6 माली के बारे में डॉ. पारुल राठोड का अभिमत

13.7 वातावरण चित्रण के बारे में रवीन्द्र पारेख तथा अन्यों के अभिमत

13.8 सारांश

13.9 प्रश्न

13.0 उद्देश्य

'मानवीनी भवाई' उपन्यास की अब तक (2002) लगभग चौदह आवृत्तियाँ (अधिकांशत: पुनर्मुद्रण) हो चुकी हैं। गुजराती के विशाल पाठक वर्ग में इस उपन्यास ने सारी लोकप्रियत हासिल की है। वैसे तो पन्नालाल पटेल के बारे के रचनाकारों द्वारा भी अच्छे और श्रेष्ठ उपन्यास लिखे गए हैं; परंतु 'मानवीनी भवाई' की श्रेष्ठता आज भी बरकरार है। उमाशंकर जोशी, सुंदरम तथा मेघाणी जैसे पन्नालाल के समकालीन सर्जकों ने भी 'मानवीनी भवाई' की प्रशंसा लोकजीवन का चित्रण करने वाली तथा अपने निजी जीवन दर्शन को प्रकट करने वाली औपन्यासिक कृति के रूप में की है। मेघाणी ने पन्नालाल को 'अपनी धरती का किसान' कहा है, उमाशंकर ने उन्हें भारतीय उपन्यासकारों में लोकजीवन को सूक्ष्म ढंग से तथा प्रवाहमयी भाषा में चित्रित करने वाला सर्जक कहा है। इस इकाई में पन्नालाल के बारे में लिखने वाले दूसरे समीक्षकों के अभिमत दिए जाएँगे। विशेष करके 'मानवीनी भवाई' की वर्णन कला, चरित्र-चित्रण संघर्ष निरूपण, वातावरण चित्रण, भाषा-संयोजन आदि महत्वपूर्ण घटकों के बारे में समीक्षकों के मत लेकर मूल्यांकन को प्रामाणिक बनाया गया है।

13.1 प्रस्तावना

किसी भी उपन्यास का सामाजिक जीवन के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध होता है। उपन्यास प्राय: अपने समय के सामाजिक जीवन का विस्तारपूर्वक दस्तावेज होता है। ऐसा पात्रों के माध्यम से होता है अथवा परिवार या समाज की समस्याओं के माध्यम से अर्थात् उपन्यास का पहला सरोकार तत्कालीन सामाजिक जीवन के साथ ही होता है। वैसे तो उपन्यास में कल्पना का भी योगदान होता है, परंतु उसमें यथार्थ चित्रण की ही प्रधानता होती है।

'मळेला जीव' उपन्यास पन्नालाल की पहली महत्वपूर्ण कृति है। प्रेम और विरह को लेखक ने भावपूर्ण कथा के रूप में इस तरह से ढाला है कि बहुत-से लोग उसे प्रेम पर आधारित स्वच्छंदतावादी कृति मानते हैं। कला एवं रचना-कौशल के स्तर पर देखें, तो 'मळेला जीव' पन्नालाल की एक नखशिख सुंदर रचना है। पन्नालाल में मौजूद सर्जक यहाँ पर स्वाभाविक रूप में प्रकट हुआ है। कला के स्तर पर 'मानवीनी भवाई' मळेला जीव' की तुलना में कहीं-कहीं पर शिथिल रचना प्रतीत होती है; परंतु वह बात नगण्य है; क्योंकि किसी रचना की सार्थकता सिर्फ उसकी कलात्मकता में ही निहित नहीं होती। उसमें पात्रों के पुरुषार्थ का भी महत्व होता है। पात्रों के अडिग पुरुषार्थ के स्तर पर ' मानवीनी भवाई' अधिक सुंदर है। संवेदना तो जीव मात्र के प्रति करुणा जगाने वाली होती है। परंतु उस करुणा को कलात्मक ढंग से सभी चित्रित नहीं कर पाते। करुणा तथा संवेदना का श्रेष्ठ आलेखन 'मानवीनी भवाई' में हुआ है। पन्नालाल इस रचना में व्यक्तिगत छोटे-बड़े सुख-दुख को आधार बनाकर समग्र समाज में हाहाकार मचाने वाले अकाल जैसे महादुख तक पहुँच सके हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि किसी साहित्यिक कृति की कलात्मकता की जाँच उसके कला नियमों या कला-मानदंडों के आधार पर करनी चाहिए; परंतु उस कृति की महानता की जाँच करने के लिए तो सामाजिक मूल्यों तथा जीवन के मानदंडों का ही आधार लेना चाहिए अर्थात् जीवन मूल्यों के आधार पर मूल्यांकन करने से 'मानवीनी भवाई' एक महान कलाकृति साबित होती है।

आदिकवि ने क्रौंच पक्षी के वियोग-विलाप से व्यथित होकर रामायण कथा की रचना की थी। महान कला हमेशा व्यक्तिगत वेदना और वियोग की अवगणना किए बिना आगे बढ़ती है अर्थात् महान कला के मूल में व्यक्तिगत वेदना ही निहित होती है। व्यक्तिगत जीवन की वेदनाएँ महान कृतियों में अंततः समग्र सामाजिक जीवन की वेदना बन जाती हैं। महान् कृतियाँ व्यक्तिगत या सामाजिक जीवन की वेदनाओं का चित्रण करते हुए जीवन के कितने ही सत्यों को उद्घाटित करती हैं। 'मानवीनी भवाई' पेट की भूख और प्रेम की भूख का, उत्कृष्ट कलात्मक आलेखन के द्वारा एहसास कराती है। इसके लिए पन्नालाल ने एक तरफ तो पारिवारिक और सामाजिक जीवन की कठिनाइयों तथा मानव स्वभाव की विचित्रताओं का इस्तेमाल किया है-जिसमें 'माली' जैसी 'असत्' पात्र के साथ अन्य 'सत्' पात्र जूझते हैं; तो दूसरी ओर कथा के उत्तरार्ध में अकाल और भूख की पीड़ा (असत्) के सामने सारा समाज जूझता है। गुजराती साहित्य में इस प्रकार की सर्जना पन्नालाल के पहले या बाद में भी बहुत कम देखने को मिलती है। ग्राम्य जीवन को आधार बनाकर लिखी गई यह रचना गांधीयुग के उत्तरार्ध की रचना है; फिर भी उसमें गांधीजी के मूल्यों के बजाय ग्रामीण जनता की यातनाओं का आलेखन हुआ है; तथा साथ ही भूख और भीख मनुष्य को किस तरह अशक्त और निरीह बना देती है, उसका मार्मिक चित्र इस रचना में देखा जा सकता है। उमाशंकर जोशी सहित गुजराती के लगभग सभी बड़े समीक्षकों ने 'मानवीनी भवाई ' के सभी पहलुओं का बारीकी से मूल्यांकन किया है; और उसकी कलात्मक उत्कृष्टता की सभी ने प्रशंसा की है। पन्नालाल के इस उपन्यास के कथावर्णन, वस्तु-चित्रण, वातावरण के आलेखन, संवाद-योजना, स्थानीय भाषा-शैली, संघर्ष आदि का विवेचन विस्तार से किया गया है। कुछ समीक्षकों के अभिमतों का उल्लेख हम यहाँ पर करेंगे।

13.2 मनुभाई पंचोली 'दर्शक' का अभिमत (मूल्यांकन)

श्री पन्नालाल पटेल की सर्जनशीलता का वर्णन प्रशंसा का विषय है? वह तो स्वतः सिद्ध है। रवींद्रनाथ या शरत्चंद्र के युगव्यापी प्रभाव से कोई भी संवेदनशील सर्जक बच नहीं सका

है-यह निर्विवाद है। परंतु देखने की बात यह है कि किस सर्जक ने उस प्रभाव को अपने कथासाहित्य में किस तरह से या किस रूप में उतारा है? वह प्रभाव सिर्फ अनुकरण में परिलक्षित होता है अथवा रचनाकार ने उसे आत्मसात् भी किया है?

पाठक को यह बरबस कहना पड़ेगा कि पन्नालाल ने 'मळेला जीव' तथा 'मानवीनी भवाई' में उस प्रभाव को आत्मसात् किया है। जीवी और राजू जो कुछ बोलती हैं, जो निर्णय लेती हैं, वह सब अपने ढंग से -अपनी आसपास की परिस्थिति में से लेती हैं। पहले से सोच-विचार कर वे ऐसा नहीं करतीं। वे तो दूसरी दिशा में जाने की तैयारी में होती हैं, कि तभी नयी परिस्थिति सामने आती है और वे एक निर्भर व्यक्ति की तरह नया निर्णय कर लेती हैं।

समाज के रीति-रिवाजों ने अथवा धर्म के विधि-विधानों ने उन्हें नियंत्रित नहीं रखा, बल्कि उन्हें नियंत्रित रखा उनकी स्वस्थ करुणा ने। राजू सोचती है कि कालू के साथ उसकी सगाई टूटने में, उसकी नयी ससुराल वालों का क्या दोष था? और कालू की बहू भली भी कहाँ दोषी है? तो फिर कालू का दोष इसमें कैसे निकाला जाए? अकाल के दौरान कालू राजू के यहाँ जाकर देखता है कि राजू के घर में खाने के लिए एक दिन के लिए भी अनाज नहीं है। वह उपवास करके दिन गुजार रही है। गाँवों में कोई ऐसा बचा नहीं जिसके पास अनाज हो। रोज घर के सामने ही मरने वालों की चिताएँ जलाई जाती हैं। घर के लोग कहीं दाना-पानी लेने गए हैं। भूख और चिंता से सूखी हुई राजू से कालू कहता है- 'तू तो पहचान में भी कहाँ आ रही है? घर में एक दाना भी नहीं?'

राजू हँसती है; परंतु पूरा शरीर फीका पड़ गया है, तो फिर उसकी हँसी में भी रंग कहाँ से आए? है थोड़ा-बहुत; एकदम से नंगा नहीं हो गए होंगे? परंतु कालू को उस पर विश्वास नहीं होता; वह कोठियों में धनुष डालकर देखता है- अंदर तो एकदम खाली है। दूसरे के घर आग लेने के लिए जाती राजू को देखकर वह कहता है-

'घर में अनाज हो, तब तो आग जलेगी न?' और राजू के वापस आते ही कहता है- 'भाड़ में जाए तमाकू! चल, आ जा मेरे साथ!'

राजू के चहरे को देखकर लगता है, वह हँसे या रोए? कालू आगे कहता है – मैं तो तुम्हें बेमौत मरने नहीं देख सकता!'

बेमौत तो सारा मुलुक मरेगा या मैं अकेली?....और फिर लोग क्या कहेंगे?.....लोग तो मरेंगे ही, पर जीव सब के एक जैसे ही हैं न?'

'लोग तो मरेंगे; पर मुझे लोगों की परवाह नहीं; उनका मुकाबला करने की हिम्मत मुझमें है; पर यहाँ जो सभी हैं, उनके भी जीव मेरे ही जैसे हैं!' यही है आत्मसात् का भाव।

राजू को समाज का भय नहीं है। किसी भी जमाने में प्राणवान् (साहसी) को समाज का भय नहीं होता-मृत्यु का भय नहीं होता। राजू कहती है- 'तुम्हें मौत से आश्चर्य हो रहा है; पर हम तो जहाँ जीवन का दाँव लगा कर बैठे हुए हैं। अभी से दिन में तीन-चार चिताएँ धधकती हुई हम यहाँ देखते हैं। इन्हीं के साथ एक दिन हमारी भी जलेगी।' प्राणवान् तो मृत्यु की अगवानी करते हैं; और यह विशेषता कहीं शास्त्र पढ़ने से नहीं आती, वह तो उनके साथ ही जन्म लेती है। जैसे फूलों को हजार बार मना करें, तो भी वे सुगंधि फैलाएँगे ही, वैसे ही प्राणवान को तो अपनी ज़िंदगी या मौत की परवाह किए बिना अपने साथ वालों को-अपने आसपास वालों को, अपनी हिम्मत का दान करते ही जाना है। महीने भर के लिए अनाज मिल जाने पर राजू खुशी से उछल पड़ती है- 'महीने भर में तो हम

बादशाहत खड़ी कर लेंगे।' मेहनतकश लोगों के आत्मविश्वास की यह ध्वनि है। रोज-रोज हल हाँकते-हाँकते, घन चलाते-चलाते, हँसिये चलाते-चलाते उनमें एक ऐसा आत्मविश्वास पैदा हो जाता है कि उनका बाहुबल जब तक सलामत है, तब तक कोई उनका क्या बिगाड़ सकता है? उधार की वस्तु चाहे जैसी भी हो, परंतु कला पर अधिकार के बिना, अपनी ज़मीन से जुड़े लोगों के आत्मविश्वास का सच्चा निरूपण नहीं किया जा सकता।

और उस कला का निरूपण करने के लिए लेखक ने फलक बनाया है 'छप्पनिया अकाल' को। उसके पात्रों की तेजस्विता, प्राणवत्ता, बेपरवाही, मनोमंथन तथा विकास गति को माध्यम बनाकर अकाल के संपूर्ण प्रभाव का वर्णन करने वाले प्रकरण हमारे लंबे समय तक काल-वर्णन के नमूने के रूप में याद किए जाएँगे।

'दर्शक' मानवीनी भवाई को सफल उपन्यास के रूप में महत्व देते हैं; और काल तथा अकाल के चित्रण को यादगार मानते हैं। दर्शक को ऐसे जुझारू पात्र पसंद हैं। कभी न टूटने वाले, परिस्थिति के साथ लड़ते रहने वाले और आत्मबल के सहारे संघर्ष में टिके रहने वाले पात्रों के बल पर ही यह उपन्यास एक उत्तम कलाकृति का दर्जा प्राप्त करता है। दर्शक का यह कथन ध्यान देने योग्य है।

13.3 चरित्र-चित्रण के बारे में डॉ. धीरेन्द्र मेहता का अभिमत

जाने-माने उपन्यासकार और गुजराती कथा साहित्य के समीक्षक डॉ. धीरेन्द्र मेहता ने 'मानवीनी भवाई' का मूल्यांकन सत् और असत् के बीच के संघर्ष के रूप में किया है। उपन्यास के मुख्य पात्र असद् से टक्कर लेते हैं और अंत तक काल के साथ कदम मिलाते हुए आगे बढ़ते हैं। उपन्यास के पूवार्ध में माली जैसी खलपात्र असद् का प्रतीक है, तो उपन्यास के उत्तरार्ध में अकाल और भूख असद् के प्रतीक हैं। धीरेन्द्र मेहता के ही शब्दों में कहें- 'पात्र-योजना पर ध्यान देने से इस कथा को बृहद पारिवारिक कथा कहा जा सकता है; वाला और परमा दो सगे भाई हैं; उनकी संतानों के बीच परंपरागत पैतृक ईर्ष्या और शत्रुता की घटनाएँ इसमें निरूपित हैं। परंतु 'मानवीनी भवाई' मात्र चचेरे भाइयों के बीच के वैर-विरोध की कथा बन कर नहीं रह गई है। इनका कारण यह है कि लेखक ने असद् के मूल को सामाजिक संबंधों में नहीं, बल्कि मानव मन में स्थित माना है; और घटनाओं में उसे सूत्र रूप में नियोजित करके उसका विस्मयजनक साक्षात्कार कराया है।' यही कारण है कि परमा मुखी (मुखिया) के घर वालों का दृष्टतापूर्ण व्यवहार मात्र अपने चचेरे भाइयों तक सीमित नहीं रहता; बल्कि ऐसा वे दूसरों के साथ भी करते दिखाए गए हैं।'

परमा की पत्नी माली के चरित्र में यह तत्व साकार हुआ है; और उसी की प्रेरणा से कथा आगे बढ़ती है। कालू के जन्म के समय उल्लास का वातावरण है; परंतु उस समय माली कहती है- 'यह भी कोई बात हुई!.....घर में पानी पीने का लोटा भी फूटा है; ऊपर से ऐसी खुशी किस काम की.....?'

इस उक्ति के रूप में मानो असद् अपनी उपस्थिति साबित कर रहा है; और आगे भी अपनी क्रियाशीलता के द्वारा घटनाओं का संयोजन करता रहता है। उधर ब्राह्मण बच्चे का भविष्य बताता है, और इधर परमा और रणछोड़ दोनों उल्टी भाषा बोलते हैं। परंतु माली की वाणी तो अभिशाप बन कर रह जाती है। वाणी और व्यवहार दोनों में उसकी ईर्ष्या, घमंड और वैरभाव प्रकट होता है। कालू की सगाई के समय तो वह अपने असली रूप में प्रकट होता है; और उसको तीव्र करने वाले प्रसंगों की रचना होती है। लड़की (राजू) का ननिहाल परमा मुखी के बेटे रणछोड़ के ससुराल में ही है। पर भलाई को सहन न कर

सकने वाली बुराई स्वजनों के बीच उभरते संबंधों को भी अपना ग्रास बनाती है। यह बात इस शुभ अवसर पर, परमा पटेल के घर में होने वाली हलचल से पता चलती है। ऐसे क्षण में कथा की गति रुक जाती है और पात्रों के वाणी-व्यवहार से दुष्टता प्रकट होने लगती है। लेखक का पूरा ध्यान माली पर है। उसके रोम-रोम में व्याप्त असद् (दुष्टता) उसे किस तरह से पीड़ित करता है, यह उसके वाणी-व्यवहार से पता चलता है।

'जा चुकी चुल्लू भर पानी में नाक रगड़ कर मर जा! निकम्मा! नामरद! कहीं जाकर साधू ..... फकीर हो जा न! और वो कहाँ गया नासपीटा रणछोड़? मुआ कहाँ से मेरी कोख में पैदा हो गया? ठेल दे अपनी उस राँड़ को उसके पीहर में।'

'माली का भूत' नामक प्रकरण में यह असद् (दुष्टता) माली की बैचनी बन कर खलबली मचाता है। उसका जीवंत चित्र माली की विविध प्रतिक्रियाओं में उभर कर सामने आता है। आधी रात को आँगन के खंभे की ओट लेकर कालू की माँ पर अकल्पनीय आरोप लगाती हुई माली, कालू की माँ के हाथों से मार खाने के बाद अपने घर वालों को बेहिसाब गालियाँ देती हुई माली, फिर थक कर मिलाप करती हुई माली, मंछाकाकी के सांत्वना देने पर और भड़कती हुई माली, सबको शांत देखकर खंभे से सिर पटकती हुई माली;-इन विविध स्थिति में असद् का ही कुरूप प्रकट होता है। यह असद् ही माली के द्वारा यह संकल्प कराता है- 'सगाई तो करा ली; पर इस कलमुँहे की शादी जो मैं होने दूँ, तो मुझे कुत्ती कहना.....।'

यह संकल्प रचना-सूत्र के रूप में कथा में आगे बढ़ता है। वाला डोसा की मृत्यु का प्रयोजन घटना-प्रवाह को आगे बढ़ाने से अधिक कुछ नहीं है। यहाँ चित्रण का जो मुख्यत मुद्दा है, वह यह कि माली कालू और उसकी माँ को अपने शिकंजे में लेती है। परमा और रणछोड़ को उनकी मदद के लिए जाने नहीं देती है। इसका क्या कारण हो सकता है? इसमें कालू के प्रति उसकी ईर्ष्या से अधिक तो उनकी स्वभावगत दुष्टता ही कारणभूत है। उसके इस दुष्ट स्वभाव के शिकार उसके खुद के घर वाले भी होते हैं और इस तरह उसकी दुष्टता का अत्यंत घृणास्पद रूप हमारे सामने प्रकट होता है। लेखक ने उसकी वाणी और उसके मनोजगत में इस दुष्टता को अच्छी तरह से विकसित होने दिया है।' (धीरेन्द्र मेहता, पन्नालाल का योगदान, पृ. 138-39)

असद् के दूसरे रूप का चित्रण पन्नालाल ने जिस तरह से किया है, उसकी तारीफ धीरेन्द्र मेहता 'मानवीनी भवाई' से ही उद्धरण लेकर इस प्रकार करते हैं-'इस असद् का बीभत्स रूप बाप-बेटे और पति-पत्नी के पारस्परिक व्यवहार में भी देखने को मिलता है, तो दूसरी ओर बिरादरी के पंचों को अपने वश में करके मनमाना करा लेने में भी देखने को मिलता है। माली का परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है, यह भी उस असद् की ही लीला है। कालू-राजू के प्रेम-बंधन को तोड़ने में भी उस असद् का ही हाथ है।' इस तरह अलग-अलग घटनाओं में यह असद् विविध रूपों में क्रियाशील दिखाई पड़ता है।

'मानवीनी भवाई' के उत्तरार्ध में यह असद् अपना रूप बदलता है। कथा के पूर्वार्ध में खलवृत्ति के रूप में उसने अपना परिचय दिया था, तो उत्तरार्ध में वह अकाल का रूप धारण कर लेता है। अकाल के वर्णन में लेखक की दृष्टि उसके असद् रूप को उद्घाटित करने पर केन्द्रित रही है। मनुष्य के विवेक का ह्रास करने वाली घटनाओं में वह दिखाई देता है। उसका परोक्ष वर्णन कालू-राजू की बातचीत में मिलता है। परंतु राजू से मिलकर लौटते समय तो कालू की आँखों के सामने असद् की प्रत्यक्ष लीला दिखाई देती है। 'भूखी भूतावळ' नामक प्रकरण का यह दृश्य देखिए -'बीस-पचीस अस्थि-पंजर उस मरे हुए ढोर

पर टूट पड़े थे; उनके दाँत ही छुरियाँ थीं; और आग तो उनके पेट में धधक ही रही थी न! कालू काँप उठा; क्षण भर के लिए तो वह शंका में पड़ गया--कहीं ये गिद्ध तो नहीं?'

उनका सारा क्रिया-कलाप गिद्धों की तरह ही था। कोई उन बच्चों को धक्के मार रहा था; तो कोई बुड्ढी मानो खून पी रही थी। ढोर के पाँवों को दो-दो, तीन-तीन जन दाँतों से काट रहे थे। तभी तलवार लिए दो जन आ धमके; और ढोर का मांस काट-काटकर बगल में तथा जाँघों के बीच में दबाने लगे-लंगोटी से ज्यादे कपड़ा हो, तब न उसमें बाँधें! तलवार का डर था, फिर भी कोई-कोई एकाध लोथड़ा झटक ही लेता।' (एजन, पृ.-140)

'मानवीनी भवाई' के प्रमुख पात्रों के विषय में भी गुजराती समीक्षा में बारीकी से लिखा गया है। यथार्थवादी उपन्यासकार होते हुए भी पन्नालाल प्रेम के चित्रण में सहज रूप से स्वच्छंदतावादी रहे हैं। स्त्री-पुरुष के यौवन का चित्रण करते समय उनकी कलम अधिक स्वच्छंद हो जाती है। 'मानवीनी भवाई' की नायिका का चरित्र-चित्रण गुजराती उपन्यासों के नारी चरित्रों में यादगार चित्रण है। उसके बारे में भरत ना. भट्ट लिखते हैं-

13.4 नारी के चित्रण के बारे में भरत ना. भट्ट का अभिमत

रचनाकार ने अपनी इस नायिका को दुर्लभ शरीर सौंदर्य दिया है। कथा के आरंभ में बेल-बूटेदार घाघरी और ओढ़नी उसने पहन रखी है। सिर पर मोतियों भरी गेडुल है और उसके ऊपर चमचमाता लोटा है। ऐसे बाह्य परिधान में सुशोभित राजू दूर से ही कालू को पहचान लेती है और मुस्करा उठती है। उस समय की बालिका राजू के देह सौंदर्य का वर्णन लेखक इस प्रकार करता है- 'वे छोटी और नुकीली आँखें हँस पड़ीं। हँसी के मारे उसका गोल-मटोल और गेहुँवा मुख थोड़ा चौड़ा हो गया। मोती सरीखे सफेद दाँत चमचमा उठे।'

कालू के साथ सगाई हो जाने के बाद की राजू जब कथा में प्रवेश करती है, तब वह दूर खड़े सारस युगल के बारे में अपने भाई कोदर से कुतूहलपूर्वक कुछ पूछती है-वह प्रसंग अनेक अर्थ-संदर्भों को जन्म देता है। कालू-राजू दोनों, भले ही विवाहित नहीं है; सिर्फ उनकी सगाई हुई है; परंतु बचपन से ही एक-दूसरे के प्रेमी हैं-इस अर्थ की भी कल्पना की जा सकती है। हमारी परंपरा में सारस युगल अनन्य प्रेम का प्रतीक रहा है। इस तरह से कालू-राजू के अनन्य प्रेम का आरंभ भी यहाँ से माना जा सकता है। राजू के व्यक्तित्व के मुख्य रहस्य, उसके प्रेम, उसकी भाव-प्रवणता और संवेदनशीलता आदि का प्रतीक भी उक्त प्रसंग को माना जा सकता है।

संपूर्ण उपन्यास में व्याप्त राजू का प्रभाव उसके व्यक्तित्व के इन दो पहलुओं पर आधारित है--देह सौंदर्य और संवेदनशीलता। देह सौंदर्य उसके प्रभाव का बीजारोपण करता है, तो उसकी संवेदनशीलता उसे अंकुरित और पल्लवित-पुष्पित करके उसे चिरंजीवी बनाती है। प्रथम पक्ष आकर्षक है, तो द्वितीय तृप्तिकारक।

राजू का देह सौंदर्य रचना और पात्र दोनों को सुशोभित करने के साथ-साथ कथा को अधिक व्यथा-मुक्त करने में सहायक हुआ है। अब मिलन असंभव होने पर भी राजू के प्रति कालू की लालसा और उसके विरह को उद्दीप्त करने का काम राजू का सौंदर्य की करता है। (एजन, पृ. 156)

राजू के बारे में एक दूसरी बात का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है। उसके देह सौंदर्य की तुलना में उसके हृदय का सौंदर्य अधिक आकर्षक है। राजू मानो प्रेम और

भावना की अविरल धारा है। ऐसी सुंदर नायिका अभिमानिनी न हो, तो यही आश्चर्य! परंतु राजू में न तो अभिमान है न ही ईर्ष्या। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि उसका पालन-पोषण कुदरत के बीच हुआ है। प्रेम और निष्कपट हृदय उसे प्रकृति से प्राप्त हुआ है। बुद्धि के मामले में पन्नालाल के नारी पात्र बहुत गहराई में नहीं उतरते। 'मळेला जीव' की 'जीवी' अपार वेदना के बीच भी कानजी के प्रेम के सहारे जी लेना चाहती है। इधर 'मानवीनी भवाई' की राजू उससे एक कदम आगे है। वह सामाजिक और प्राकृतिक आपदाओं को सहन करते हुए भी पति और प्रियतम दोनों को सँभालती है। कालू जैसा छैला-छबीला पति वह प्राप्त नहीं कर पाती; और जो पति मिलता है, वह रोगी है; फिर भी वह पति का घर जिस तत्परता और ज़िम्मेदारी से सँभालती है; उसे बेगार या बोझ नहीं समझती; – वह अदभुत है। उसका चरित्र कथा के उत्तरार्ध में निरंतर मानवीय गौरव की ऊँचाइयों की ओर बढ़ता जाता है – 'ससुराल जाने के बाद राजू के चरित्र का एक तीसरा पहलू उभर कर सामने आता है। यौवन के लक्षणों से भरपूर तन और मन वाली राजू, ससुराल आते ही अपने जवान तन में एक प्रौढ़ मन को धारण कर लेती है। राजू के इस परिवर्तन को लक्ष्य करके खुद लेखक ने लिखा है-'राजू यौवन की उस मस्ती, उच्छलंता, चुलबुलेपन और नटखटपन को मायके से ससुराल आते समय पाँच कोस पहले ही रास्ते में कहीं छोड़ आई थी।' वैसे तो राजू ने इस परिस्थिति को पहले ही स्वीकार कर लिया था; परंतु ससुराल आने के बाद उसे आत्मसात् कर लिया। राजू में होने वाले परिवर्तन का, उसके विकास का और रचना में धीरे-धीरे उभरते उसके महत्व का यह एक रहस्य है। जैसे-जैसे उसके ऊपर दुखों का दबाव बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे उसकी सहनशीलता भी बढ़ती जाती है। कालू में निरंतर एक बेचैनी, दुख, हताशा, और कभी-कभी तो राजू द्वारा मिलने वाले सुख की हवाई कल्पना भी देखने को मिलता है; परंतु राजू में इन सबका नामोनिशान तक नहीं है। उसकी इन्हीं विशेषताओं की वजह से कालू भी राजू के सामने फीका पड़ जाता है। यदि हम रूपक की भाषा में कहें, तो कथा के मध्य भाग से गिरिशृंग पर पहुँचने की कालू की गति धीमी पड़ जाती है; जबकि राजू उस आरोहण में निरंतर आगे बढ़ती जाती है। 'स्त्री सर्वसमर्थ है'-नारी के बारे में प्रचलित यह कथन 'मानवीनी भवाई' के लेखक राजू में चरितार्थ किया है। यह हम कह सकते हैं। दुख और वेदना को अपनाकर उसे सहन करने अथवा आत्मसात् करने की यह नारी-शक्ति, यदि स्त्री में सहज रूप में-अंत:सत्त्व के रूप में हो, तो वह मंगलकारी होती है और उसमें से जन्म लेती है एक करुणामूर्ति। राजू का यही विकास उपन्यास के उत्तरार्ध को उर्ध्वगामी बनाता है।'(एजन, पृ.-159-60)।

13.5 कालू के बारे में डॉ. मणिलाल पटेल का अभिमत

उपन्यास के आधारभूत तत्वों में पात्र विशेष महत्वपूर्ण होते हैं; और उनमें भी मुख्य पात्र उपन्यास को मानव नियति के दर्शन तक पहुँचाते हैं। कालू ऐसा ही एक पात्र है। 'दर्शक' के शब्दों में कहें, तो कालू निर्भय और सच्चाई से भरा नवयुवक है। वह व्यक्तिगत झगड़ों से बचता है, दुखों को पचाता है और मेहनत से जी नहीं चुराता; अर्थात् वह समय को बर्बाद करने में विश्वास नहीं करता। परंतु बाहर से वह जितना सरल दिखाई पड़ता है, अंदर से उसका व्यक्तित्व उतना ही जटिल और उलझा हुआ है। एक तरफ़ तो वह राजू के प्रेम और साहचर्य के लिए तड़पता है और दूसरी तरफ़ उसे भली के साथ घर-परिवार चलाना पड़ता है। खेती-बाड़ी, सामाजिक कार्य और सबकी देखभाल की ज़िम्मेदारी उसके सिर पर है। अन्याय के सामनें आवाज़ उठाते हुए और अकाल के समय में तलकचंद मुंशी की गाड़ी को लुटवाते हुए कालू का रूप अनोखा है। जिस तरह राजू के विरह में उसकी

जिजीविषा खंडित नहीं होती, उसी तरह अकाल की वेदना में उसे भगवान का यह प्रकोप अच्छा नहीं लगता। इसीलिए वह ईश्वर को भी भला-बुरा कह बैठता है। अंतत: वह भी एक लाचार आदमी है; परंतु किसान का बेटा होने के नाते वह भीख माँगने के लिए हाथ नहीं बढ़ाता। इसमें उसका आत्मगौरव छिपा हुआ है। 'भूखे से भी अधिक खराब भीख है।' यह कहकर कालू मनुष्य जीवन की निस्सहायता को प्रकट करता है। राजू के प्रति अपने अपार प्रेम के कारण वह समय-समय पर तरह-तरह की बातें सोचता रहता है। जैसे-राजू नाना के साथ घर बसाना चाहेगी, तो वह खुद उसे ऐसा करने से रोकेगा; और नहीं तो वह साधु बन जाएगा; यहाँ तक तो ठीक, परंतु जब वह और भी दुर्बल मन से यह सोचने लगता है कि क्या राजू अपने पति दयाळजी को सचमुच जिलाना चाहती है? तो यहाँ पर एक प्रेमी के रूप में कालू की सीमा का पता चलता है। कालू कोई गुणों की गठरी नहीं है; यह एक अच्छी बात है। लेखक ने उसे खुले मन वाले व्यक्ति के रूप में पेश किया है, जो अच्छे-बुरे का विचार करता है, दुख से दुखी होता है और वेदना उसे पीड़ित करती है। गुजराती उपन्यास के नायकों में कालू का चरित्र विशिष्ट है। (मणिलाल पटेल)

विश्व के उपन्यास साहित्य में मानवीय संवेदना से भरपूर उत्कृष्ट नारी पात्रों की संख्या बहुत होगी; परंतु दुष्टता और तुच्छता से भरपूर माली डोसी जैसा स्त्री पात्र विरल ही होगा। पति, पुत्र, बहुओं या अन्य परिजनों को सुख से न जीने देने वाली माली ईर्ष्या, द्वेष और असत् का प्रतीक है। माली के बारे में उसके सर्जक पन्नालाल पटेल खुद ही कहते हैं-'हँसुये के दाँत से तो कुछ बच भी जाता है; पर मुँह के दाँत (जीभ की धार) से तो कुछ नहीं बचता।' ऐसी माली डोसी 'मानवीनी भवाई' की पूर्वार्ध की कथा का संचालन करती है, उसे गति देती है। माली डोसी के बहाने पन्नालाल ने ग्रामीण समाज की विकृतियों को और मनुष्य की कुटिलता को मूर्त रूप दिया है। माली डोसी के विषय में डॉ. पारुल राठोड का एक अभिमत ध्यान देने योग्य है-

13.6 माली के बारे में डॉ. पारुल राठोड का अभिमत

'माली डोसी की ईर्ष्यालु मनोवृत्ति और परोक्ष रूप से सत्ता का संघर्ष इस उपन्यास में मुख्य भूमिका निभाते हैं। वाला पटेल की मृत्यु के बाद परिस्थिति बदल गई। परमा पटेल कालू को गोद में लिए हुए है। नाथा और उसका पति भी कालू के परिवार की हमदर्द है। माली ईर्ष्यावृत्ति को संतुष्ट करने के लिए कोई मौका नहीं मिलता; इतना ही नहीं, परंतु निरंतर उसे पराजय ही मिलती है। रूपा के खेत में हल चलाने और हेंगा (पाटा) के नीचे आ जाने की घटना भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण बन जाती है। माली की अमानवीयता यहाँ पूर्ण रूप से प्रकट होती है। अंतत: रूपा की सात्त्विकता की विजय होती है। उस समय माली की दशा कैसी हो जाती है, लेखक के शब्दों में 'पानी के बिना तड़पती मछली' और 'तमाशा देखने आई माली का मुँह मानो काटो तो खून न निकले।'

सत् और असत् के बीच के संघर्ष में सत् हमेशा विजयी होता है; फिर भी पन्नालाल ने इस उपन्यास में यथार्थ परिस्थिति का चित्रण किया है; जिसमें माली डोसी की प्रेरणा और रणछोड़, नाना, पेथा पटेल जैसे पंचायतियों के प्रपंच के कारण कालू-राजू को बिछड़े सारस युगल की तरह जिंदगी भर दुख झेलना पड़ता है। बिरादरी के पंच जैसी सामाजिक ताकतों पर माली डोसी जैसी असामाजिक शक्तियाँ अपना वर्चस्व कायम रखती हैं। यहाँ पर माली डोसी की कुटिलता पूर्णत: सफल होती है। जिसके कारण कालू और राजू को विरही-प्रणयी के रूप में ही नहीं, दामाद और काकी सास के नये संबंध के दायरे में जीना पड़ता है। (एजन, पृ.-166-67)

13.7 वातावरण चित्रण के बारे में रवींद्र पारेख तथा अन्यों के अभिमत

सर्जक पन्नालाल ने भी वहम, अंधविश्वास तथा कुरीतियों के निरूपण में यथार्थवादी दृष्टि अपनाई है। परंतु उन्होंने अपने पात्रों को उनकी सामाजिक स्थिति तथा अन्य दुर्बलताओं से ऊपर उठते हुए भी दिखाया है; कहीं-कहीं तो उनके पात्र इसके लिए विद्रोह करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। प्रचार या नारेबाज़ी न लगे, इसका पूरा ध्यान रखते हुए वे लोकमत को बदलने में भी सफल रहे हैं। फूली डोसी या रूपा जैसी स्त्रियाँ परंपरागत मर्यादाओं में रहते हुए विवेकपूर्वक और स्वाभिमानपूर्वक जिंदगी जीती हैं; परंतु साथ ही आवश्यक होने पर स्वतंत्र निर्णय लेने में भी पीछे नहीं हटतीं। इस तरह उनके पात्रों में गुणात्मक परिवर्तन दिखाई पड़ता है। किंतु दूसरी ओर कालू-राजू जैसे पात्र प्रचलित रिवाजों के वशीभूत नहीं होते; परंपरा से कोई लाभ भी नहीं उठाते; परंतु अपनी निष्क्रियता की वजह से अर्थात् स्वतंत्र निर्णय न कर सकने की वजह से उन्हें बहुत कुछ सहना पड़ता, दुख भोगना पड़ता है। इन सब में जहाँ एक ओर व्यक्तिगत स्वार्थ के विपरीत लोकहित में परिवर्तन आता है, वहीं वे सामाजिक परिवेश से ऊपर उठते दिखाई पड़ते हैं। ऐसे स्थलों में निश्चित रूप से रचनाकार की रचनाशीलता या सर्जनात्मकता का परिचय मिलता है। पापी पेट के लिए लाचार फूली डोसी डाकिन के नाम से जानी जाती हैं, फिर भी वह ओझा-सोखा को ललकारने का भी सामर्थ्य रखती है। दूसरी तरफ शास्त्र में स्त्रियों को हल चलाना मना है – ऐसी लोकमान्यता के विरुद्ध परिस्थितिवश रूपा चुपचाप उठ खड़ी होती है; ऐसी क्रांति अनिवार्य परिस्थिति के कारण ही संभव हो पाती है; अर्थात् यथार्थ के बीच से उभरती यह साहसपूर्ण क्रियाशीलता रचनाकार का एक प्रशंसनीय जीवनदर्शन बन जाती है; कारण कि उक्त स्त्रियों का यह व्यवहार समाज में गुणात्मक परिवर्तन लाने और लोकमत जागृत करने में निर्मित बनता है। रूपा गाँव के लोगों से या उनके कोप से डरती तो है; परंतु वह यह भी जानती है कि डरने से काम चलने वाला नहीं है। कालू की उम्र अभी छोटी है; ऐसी स्थिति में रूपा सगे-संबंधियों के सहारे पड़ी रहने के बजाय खेत में हल चलाने का साहस करती है। वह किसी की परवाह नहीं करती; इसलिए लोगों को उसकी दृढ़ता की प्रतीति होती है। वैसे भी समूह हवा का रुख देख कर व्यवहार करता है। यह कहावत रूपा के मामले में चरितार्थ होती है। रूपा यदि कटिबद्ध नहीं होती, तो दुख ही भोगती। वह कटिबद्ध हुई, इसलिए सफल हुई; और जब सफल हुई, तब उसका तिरस्कार करने वाले लोग उसमें 'सत्' के दर्शन करने लगे; रूपा की 'भूखी आँत सराप देगी' इस भय से उसके प्रति सहानुभूति जताने लगे। इस तरह से रूपा का साहस दु:साहस बनने से बच जाता है।

रूपा जैसी औरत यदि मदद माँगे, तो माली उसे मदद करने को तैयार है; परंतु रूपा किसी की खुशामद किए बिना स्वतंत्र निर्णय लेती है और वह भी केवल आत्मसम्मान बनाए रखने के लिए और अनिवार्य परिस्थिति में लेती है। इस कारण से लोग धार्मिक-सामाजिक मान्यताओं के बारे में पुन: विचार करने के लिए प्रेरित होते हैं।

दूसरी तरफ़ माली जैसी स्त्री केवल 'असत्' को समर्थन देती है। उसे जहाँ अधिकार नहीं मिलता, वहाँ वह खुद ही प्राप्त कर लेती है; और जिद्दी इतनी कि जो चाहती है, वह करती है और दूसरों से करा कर ही दम लेती है। (गुजराती साहित्य को माली जैसी खलनायिका संभवत: आज तक दूसरी नहीं मिली।) शत्रुता उसकी अनिवार्यता

है। कालू के प्रति उसकी अपनी सहानुभूति तो है ही नहीं; परंतु उसके अपने परिवार वालों की भी सहानुभूति उसे न मिले, इसकी चिंता उसे सताती रहती है। कालू को वह 'कलमुँहा' ही कहती है। राजू के साथ कालू की शादी न हो, इसके लिए वह कोई भी प्रपंच करने से नहीं चूकती; और विडंबना यह कि इसमें वह सफल भी हो जाती है।

एक तरफ राजू और भली जैसी स्त्रियाँ हैं, जो समाज-स्वीकृत मान्यताओं और परंपराओं का पालन करते हुए जीती हैं और शोषित तथा पीड़ित होती हैं; परंतु दूसरी ओर माली या फूली डोसी जैसी स्त्रियाँ हैं, जो परंपरा के भय को आगे करके मनमानी करती हैं और करवाती हैं। और वह भी इस हद तक कि वे विद्रोह न करें, तो समाज उन्हें ठीक ढंग से जीने नहीं देता और उन्हें राहत महसूस नहीं करने देता। विडंबना यह कि इस तरह से प्राप्त की गई मुक्ति नकारात्मक वृत्ति का पोषण करती है; जबकि रूपा का निर्णय लोकहित में तथा रूढ़ियों-रिवाजों को बदलने की ओर अग्रसर है। साथ ही उसकी क्रांति की यह भावना ऊपर से ओढ़ी हुई नहीं है। ('मानवीनी भवाई : सामाजिक परिवेश और सर्जक' नामक लेख से; लेखक रवीन्द्र पारेख)।

पन्नालाल ने 'मानवीनी भवाई' में परिवेश का भी चित्रण दो स्तरों पर किया है-एक स्तर वह है, जिसे हमने अभी देखा; और वह है सामाजिक परिवेश का स्तर। उस स्तर पर रीति-रिवाजों, रूढ़ियों-मान्यताओं और पात्रों के मानस का चित्रण हुआ है। पन्नालाल की एकाधिक रचनाओं में सामाजिक परिवेश का ऐसा चित्रण यथार्थ की जमीन पर हुआ है। इससे उनकी कथा अत्यंत जीवंत तथा सहज ग्राह्य बन जाती है। गुजरात के पूर्वोत्तर इलाके का लोकजीवन वहाँ के लोकतत्वों के साथ विस्तार से वर्णित हुआ है। पन्नालाल की कथाओं में ये लोकतत्व अतिविशिष्ट घटक बन कर आते हैं। ये लोकतत्व कहावतों, मुहावरों, दंतकथाओं, लोककथाओं के रूप में उपस्थित होते हैं। इन लोकतत्वों के माध्यम से ही उनकी सर्जकता प्रकट हुई है। नि:संकोच हम कह सकते हैं कि महान् लेखक ही ऐसी सफलता प्राप्त करते हैं।

परिवेश या वातावरण चित्रण का दूसरा स्तर प्रकृति-वर्णन के रूप में सामने आता है। गाँव की प्रकृति, ऋतुओं का बदलते रहना, खेत-खलिहान और चारागाहों के चित्र पन्नालाल एक कुशल कवि की तरह उभारते हैं। यहाँ पर भी पन्नालाल की सर्जकता काफी आस्वाद्य बन जाती है। कम शब्दों में वे खेत-खलिहान, ऋतुओं आदि के चित्र खींचते हैं और उसमें पात्रों को विचरण करने के लिए छोड़ देते हैं। पन्नालाल की यह उपलब्धि भी विरल है। (माणिलाल पटेल)।

लल्लूभाई बी. पटेल अपनी पुस्तक 'जानपदी उपन्यासकार पन्नालाल पटेल' (आंचलिक उपन्यासकार पन्नालाल पटेल) में वातावरण चित्रण और वर्णन कला के बारे में पन्नालाल की खूबियों का उल्लेख करते हुए लिखते हैं-

'कृषि संस्कृति और पारिवारिक जीवन के हरेक ऋतु में बदलते दैनिक क्रिया-कलापों का हूबहू चित्रण करना पन्नालाल के लिए सहज है। वातावरण चलचित्र की तरह आँखों के सामने साकार हो उठता है। उदाहरणार्थ- 'सूद द्वादशी की रात; आसमान में चंद्रमा..... हल्की परंतु मखमली चाँदनी.....मानो ताराओं से खचित चादर बिछी हो; धरती और आसमान की सीमारेखा बनाती नदीतट की वृक्षावलियाँ; झिलममिलाते तारे .... मन की कल्पना जैसे गाँव और पहाड़ियों के धुँधले चित्र, ... चारों और गहरी शांति.....आँखों

से भी महसूस किया जा सके, ऐसी शांति!...' ऐसे सौन्दर्यपूर्ण, विराट और विधाता द्वारा निर्मित चित्र की झलक पन्नालाल दिखाते हैं। स्थान और काल की विविध रूपलीला को पन्नालाल उसके अंत:बाह्य वैभव के साथ एक मोहक रूप देते हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में तो कल्पना की उड़ान हैं। चित्रात्मकता, भावोत्पादकता, काव्यात्मकता और मूर्तता का उनमें बहुत अच्छा सामंजस्य हुआ है। पन्नालाल की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति, शाब्दिक कल्पनाशीलता, छोटी-छोटी बातों का विस्तार से आलेखन, भाषा-प्रयोग की कुशलता और मानव मन की जटिलता के अंकन की उनकी खूबी तुरंत ध्यान खींचती है। बदलती ऋतुओं की तरह रात-दिन के वातावरण के चित्रण पन्नालाल बड़ी सहजता से कर जाते हैं। (देखिए -मानवीनी भवाई, पृ. 53 से 55 तथा पृ. 283, 292 आदि)

13.8 सारांश

इस चौथी इकाई में हमने पन्नालाल पटेल साहित्य समीक्षकों के अभिमत और उनके मूल्यांकन से परिचित हुए। 'मानवीनी भवाई' के समीक्षको में पन्नालाल पटेल की ऊँची सर्जकता के बारे में दो मत नहीं है। ग्रामीण समाज, उसके जीवन तथा उसके आसपास के परिवेश को चित्रित करने में पन्नालाल माहिर हैं। समीक्षकों के मूल्यांकन से यह बात हमें जानने को मिली। वर्णन कला की दृष्टि से 'मानवीनी भवाई' अत्यंत सुगठित रचना है। फिर भी संरचना की दृष्टि से 'मळेला जीव' में अनुभूति की सघनता और रचना का गठन अधिक प्रौढ़ है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से कहें, तो पन्नालाल पटेल के नारी पात्र अधिक महत्वपूर्ण हैं। ऊपर हमने राजू तथा माली के चरित्र की समीक्षा द्वारा उनकी उत्कृष्टता को देखा। यह उपन्यास 'तन-मन की भूख' का मार्मिक दर्शन हमें कराता है। व्यक्ति से समाज की ओर बढ़ती इस उपन्यास की कथा यथार्थ चित्रण का भी एक नमूना है। भाषा-शैली तथा संवादों से लेकर पात्रों के संघर्ष आदि का निरूपण रचनाकार ने बड़ी सावधानी से किया है। समीक्षकों ने इन सारे पहलुओं पर प्रकाश डाला है। इस इकाई में 'मानवीनी भवाई' के रचनागत विविध घटकों का मूल्यांकन प्रस्तुत करके पाठकों को इस रचना की विशेषताओं से परिचित कराया गया है।

13.9 प्रश्न

1. 'मानवीनी भवाई' दर्शक की दृष्टि से एक उत्तम कृति है। स्पष्ट कीजिए।
2. 'मानवीनी भवाई' के मुख्य पात्र राजू और कालू के बारे में लिखिए।
3. 'माली' इस उपन्यास में कैसी-कैसी दुष्टता करती है? उल्लेख कीजिए।
4. परिवेश-चित्रण के संबंध में 'मानवीनी भवाई' की विशेषताएँ बताइए।
5. विविध समीक्षकों के मतों का उल्लेख करते हुए 'मानवीनी भवाई' की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

इकाई 14 पन्नालाल पटेल की रचनाशीलता

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 मानव नियति का आलेखन

14.3 आदर्श नहीं बल्कि यथार्थ का निरूपण

14.4 मानवीय गौरव की कथा

14.5 रचनाशीलता और रचनागत विशेषताएँ

14.6 सारांश

14.7 प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस पाँचवी और अंतिम इकाई में हम गुजराती साहित्य में पन्नालाल पटेल के योगदान की चर्चा करेंगे। साथ ही इस बात की भी समीक्षा करेंगे कि 'मानवीनी भवाई' कैसे एक उत्तम उपन्यास है? और भारतीय उपन्यास साहित्य में उसका महत्वपूर्ण स्थान क्यों है? इस मूल्यांकन से पाठकों को इस रचना के विषय में अपना अभिमत बनाने में मदद मिलेगी- ऐसा हमारा विश्वास है।

14.1 प्रस्तावना

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में आठवीं कक्षा तक पढ़ा हुआ ठेठ गाँव का एक युवक बीसवीं सदी का एक श्रेष्ठ उपन्यासकार बन गया; यह घटना गुजराती साहित्यकारों के लिए आज भी किसी चमत्कार जैसी लगती है। एक गरीब किसान के बेटे का, सच्चे अर्थों में बड़ा सर्जक बनने की इस घटना को संक्राति (संक्रमण) कहेंगे या क्रांति ऐसा प्रश्न गुजराती साहित्य के एक अन्य महत्वपूर्ण लेखक रघुवीर चौधरी पूछते हैं जो पन्नालाल पटेल के अंतिम वर्षों में उनके समधी बने थे। (पन्नालाल के छोटे बेटे भरत के साथ रघुवीर चौधरी की बड़ी बेटी दृष्टि ब्याही गई है। इस समय वे दोनों अमेरिका में हैं।) सन् 1936 से लेखन आरंभ करके जिंदगी के अंतिम वर्ष सन् 1989 तक पन्नालाल सतत् लिखते रहे। इस बीच सन् 1947 के आसपास क्षयरोग के कारण उनका लेखन थोड़ा मंद पड़ा था; इसी तरह जीवन के अंतिम वर्षों में अर्थात् सन् 1980 से 1989 के बीच अस्वस्थता एवं शारीरिक अशक्तता के कारण लिखना और आना-जाना कम हो गया था। आँख की रोशनी अच्छी थी, परंतु श्रवण शक्ति कमजोर हो गई थी। फिर भी उन्होंने अंतिम सर्जन के रूप में पौराणिक और आत्मकथात्मक उपन्यास लिखे। उन्होंने पचास से ज्यादा उपन्यासों की रचना की है; और लगभग सभी उपन्यास अपने-अपने ढंग से उत्तम कृति के रूप में मान्य हुए हैं। यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। विशेषकर तो उनके प्रारंभिक उपन्यास उत्कृष्ट सर्जना के नमूना सिद्ध हुए। उसके बाद तो उन्होंने मानो अपने सर्जन का अनुसरण या पुनरावर्तन ही किया है।

सन् 1957-58 तक वे अपने जन्म-स्थान मांडली में ही रहे। उसके बाद अपनी संतानों की पढ़ाई-लिखाई के लिए अहमदाबाद में आकर बस गए। वहाँ पर उन्होंने शहरी जीवन के अनुभवों का आधार लेकर लेखन को आगे बढ़ाया। लेखनी तो उनकी सधी हुई थी ही ; इसीलिए 'आँधी आषाढ़नी' 'अमे बे बहेनो' जैसी कई अच्छी कृतियाँ उन्होंने दीं। बाद की अधिकांश रचनाओं में सर्जक पन्नालाल कहीं-कहीं ही दिखाई पड़ते हैं। बाद का उनका लेखन ऐसा लगता है, मानो सिर्फ लिखने के लिए लिखा गया हो।

अहमदाबाद में पन्नालाल प्रसिद्ध गुजराती लेखक जयंती दलाल के संपर्क में आए। श्री दलाल 'रेखा' नामक पत्रिका निकालते थे; बाद में 'गति' नामक पत्रिका का भी संपादन किया। पन्नालाल भी 'रेखा' और 'गति' के कार्यालय में जाया करते थे और वहाँ पर होने वाली दुनिया भर की चर्चाओं से परिचित होते थे। राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक प्रश्नों पर भी जयंती दलाल तथा उमाशंकर जोशी आदि मित्र तरह-तरह की चर्चाएँ करते। इस वातावरण ने पन्नालाल के निजी जीवन दर्शन के निर्माण में मदद की। विश्व के श्रेष्ठ रचनाकारों की कृतियों के विषय में भी उन्हें अपने मित्रों से बहुत कुछ जानने को मिलता। जीवन के भरपूर अनुभव तो उनके पास थे ही; इसके अतिरिक्त पांडीचरी प्रवास के दौरान वे श्री अरविंद और माताजी के आध्यात्मिक विचारों से भी प्रभावित हुए थे। यह सब कुछ उनके लेखन में कहीं न कहीं दिखाई पड़ता है। परंतु 'मानवीनी भवाई' तो उनकी अपनी सूझ-बूझ का ही परिणाम है। बचपन में 'छप्पनिया अकाल' के बारे में माँ से जो कुछ सुना था, उसका और बाद के अपने अनुभवों का उन्होंने 'मानवीनी भवाई' में भरपूर उपयोग किया है। इस विषय में सुंदरम् ने ठीक ही कहा है कि पन्नालाल ने 'मानवीनी भवाई' में संपूर्ण पूर्वोत्तर प्रदेश को जीवंत कर दिया है। यहाँ मानो कुछ भी अनुभव के बाहर नहीं है। जीवी अथवा राजू जैसे पात्रों के सर्जन के लिए पन्नालाल को शरदबाबू के पास नहीं जाना पड़ा; बल्कि ऐसे पात्र तो उनके आसपास के समाज में ही बिखरे पड़े थे। हाँ, एक जीवी या राजू को रचने के लिए दो-चार स्त्री चरित्रों को मिलाना ज़रूर पड़ा। इसलिए 'दर्शक' के इस कथन से हम सहमत नहीं हो सकते कि 'राजू गाँव का बीज नहीं है।' उत्तम चरित्र और गुणी स्त्री-पुरुष, जीवन के दुखों और कठिनाइयों को सहते हुए समझदारी प्राप्त करने वाले स्त्री-पुरुष केवल शहर में ही नहीं पैदा होते; बल्कि गाँव तो ऐसे ही स्त्री-पुरुषों से टिके हुए हैं; और जो समय-समय पर रास्ता दिखाते रहे हैं। पन्नालाल पटेल ने 'मानवीनी भवाई' द्वारा इस हकीकत को प्रमाणित करके दिखाया है। इसीलिए उन्हें बड़ी हैसियत लेखकों में स्थान प्राप्त है।

14.2 मानव नियति का आलेखन

एक महान् सर्जक की तरह पन्नालाल एक-दो-प्रसंगों के आलेखन द्वारा ही मानव जाति की समस्याओं की ओर संकेत करते हैं और यथार्थ की जमीन पर खड़े रह कर एक चिंतक की मुद्रा में उन प्रसंगों के द्वारा जीवन की विषमता तथा मानव नियति का चित्रण करते हैं। इन दो प्रसंगों को देखिए-

'अकाल लाने वाले भगवान तेरा सत्यानाश हो। तूने आदमी की ये हालत बना दी?'

भगवान को भी इस तरह गालियाँ देने वाला कालू भी यदि, सेठ की तरह विवशता दिखाकर यह मान ले कि इसका तो कोई उपाय ही नहीं हैं, तो फिर बात कैसे बनेगी? इसमें निश्चय ही कहीं बेवकूफ़ी है; कहीं अन्याय है; कहीं उलझाव है। महाजन के अनाज की रक्षा और व्यवस्था के लिए आए हुए फ़ौजी जवानों के पास कारतूस वाली बंदूकें देखकर कालू चीख उठता है-

'अरे पापी भूरिया! गाड़ी में से बंदूक और कारतूस के बदले अनाज उतारा होता मूरख!.... अरे रे हत्यारा! मौत तो हमें यहाँ चलते-फिरते आ जाती है; इधर ठेस लगी और....। उस पर भी जान लेने का सामान तूने गाड़ी में से उतारा?....मारने में तूने अपनी छत्तीस कला दिखा दी! ..... इससे अच्छा था कि किसी को जिलाने का कोई छोटा-सा उपाय तूने सोचा होता, तो हमको भी लगता कि नहीं/ पर तू तो छत्तीस कला का अच्छा जानकार निकला!.....हम तो समझते थे कि तू कोई देवदूत है; पर नहीं;....तू तो देव के रूप में कोई दानव निकला रे!.....

इसमें मौजूद है विश्व-व्यापी मानव आत्मा की चीख; इसमें मौजूद है भयंकर अव्यस्था के विरुद्ध प्रतिकार का प्रचंड आह्वान।

सात समुंदर पार से आए अंग्रेजों की कुशलता, इन गाँवों में लड़ते-झगड़ते और दुख भोगते ग्रामीणों की तुलना में आगे है। परंतु क्या वे संस्कारिता में भी आगे हैं? तो कालू का उत्तर है- नहीं! इतिहासकार रमेशचंद्र भी कालू के इस उत्तर से सहमत है- 'उनके ही शासन काल में अधिक से अधिक अकाल पड़े हैं।'

इस तरह यहाँ इतिहास की हकीकत और साहित्य के दर्शन का सम्मिलन होता है।

और आज भी क्या यह 'दर्शन' अनुपयोगी सिद्ध हुआ है? आज भी क्या कालू की चीख सुनाई नहीं पड़ती?

एक अणु बम साढ़े छ अरब डालर का बनता है। एक हवाई जहाज के काफिले का खर्च एक छोटे राष्ट्र के स्कूलों के खर्च जितना होता है। बच्चों को दूध नहीं मिला; रोगियों तक दवा नहीं पहुँची; निराश्रितों को आश्रय नहीं मिला; भूखों को अन्न नहीं मिला; परंतु बम, जहरीली गैसें और जहाजों का काफिला बढ़ता ही जा रहा है। इसमें धेले भर की भी कमी नहीं दिखाई पड़ रहीं है। मनुष्य की बुद्धि और कला-कौशल ने मानो विनाश के साधनों को तैयार करने का व्रत ले रखा है; नहीं तो बारिश की एक-एक बूँद को सँभाल कर अकाल का मुकाबला करना क्या मुश्किल है? परंतु दुख इस बात का है कि राक्षकों ने भक्षकों के हाथ में अपना सब कुछ गिरवी रख दिया। ऐसे विराट प्रश्नों और समस्याओं का समाधान करने में जुटे छोटे-छोटे राजपुरुषों को एक ही बार सबक सिखा देना चाहिए। शिक्षकों, शिक्षाविदों, शिक्षाशास्त्रियों, कलाकारों और वैज्ञानिकों के सहयोग के बिना क्या युद्धखोर ये राजपुरुष अकेले कुछ कर सकते हैं?

विश्व का आर्तनाद उन्हें कालू के इस उपालंभ को दूर करने के लिए क्यों नहीं प्रेरित करता? और यदि उनकी मनुष्यता फिर भी नहीं जागती, तब जैसा कि कालू कहता है कि उन सबको 'भूखों मार कर उन्हें ठिकाने लाओ।' वही इच्छा क्या पूरी करानी है,?

कलाकारों और वैज्ञानिकों के पास ईश्वर का दिया हुआ वरदान है। उसका उपयोग यदि विश्व की पीड़ित मानवता के लिए किया जाए, तो वर्तमान जगत् की समस्या का हल ढूँढ़ा जा सकता है। इसमें वरदान देने वाला ईश्वर भी अवरोध नहीं पैदा कर सकता । यह है 'मानवीनी भवाई' के सहृदय पाठकों के लिए आह्वान। (दर्शक- 'तृप्तिनो घूँट', प्रस्तावना)

14.3 आदर्श नहीं बल्कि यथार्थ का निरूपण

पन्नालाल पटेल अपने लेखन के संदर्भ में लिखते हैं-'पहले के साहित्य में ग्रामीण जीवन का चित्रण मनोरंजन के लिए किया जाता था; उसके बाद उसका चित्रण आदर्श के रूप में होने

लगा; परंतु मेरी जानकारी के अनुसार, उमाशंकर जोशी ने 'सापना भारा' में पहले पहल यथार्थ रूप में ग्रामीण जीवन का चित्रण किया; भले उसकी व्याप्ति सीमित थी। उसके बाद मैने ग्रामीण जीवन के उस यथार्थ को विस्तारपूर्वक चित्रित किया और इस समय तो बहुत सारे लेखक अनेक दृष्टियों से ग्रामीण जीवन के स्थानीय यथार्थ से, उसकी विशेषताओं से परिचित होने लगे हैं।' (अलक-मलक, पन्नालाल पटेल, पृ.-18)

आदर्श और यथार्थ के बारे में पन्नालाल का निरीक्षण उनकी सूझ-बूझ का परिचय देता है। उनका कथा-साहित्य ग्रामीण जीवन के यथार्थ को प्रस्तुत करता है। खास करके सन् 1936 से सन् 1955 तक की उनकी रचनाओं में भावनाओं की सूक्ष्मता यथार्थ की जटिलता के साथ निरूपित हुई है। इसीलिए वे मर्मज्ञ साहित्य समीक्षकों का ध्यान खींचती हैं।

गुजराती साहित्य में गांधीयुग में यथार्थवादी प्रवृत्ति तेजी से उभरकर आई। परंतु कहीं-कहीं यथार्थवाद पर गांधीयुग का रंग साफ झलकता है। दूसरी तरफ रमणलाल वसंतलाल देसाई जैसे उपन्यासकारों में यथार्थ के स्थान पर आदर्शों का ही प्रभुत्व है। कन्हैयालाल मुंशी इतिहास का आधार लेकर उपन्यासों के माध्यम से भारतीय अस्मिता का आलेखन करते हैं। देशप्रेम से ओतप्रोत उनका यह लेखन आज़ादी की लड़ाई के समय उपयोगी सिद्ध हुआ। इन सब के बीच पन्नालाल जैसे लेखक दो-तीन कारणों से औरों से अलग पड़ जाते हैं। यह सही है कि गांधीजी ने लेखकों को ग्रामाभिमुख होने का आह्वान किया था; परंतु पन्नालाल ने तो अपने देखे-भाले और जिए-भोगे ग्रामीण जीवन का आलेखन सहज रूप में किया। पन्नालाल को अनुभव और उसके अनुरूप भाषा कहीं से उधार लेने की जरूरत नहीं पड़ी। इसीलिए उनमें किसी प्रकार का आडंबर नहीं है। भावना, आदर्श और उन्हें अभिव्यक्त करने वाली भाषा नान्हालाल आदि में मिलेगी। जबकि पन्नालाल तो अभिव्यक्ति की सादगी और भाषा की सादगी पर बल देते हैं। यह सही है कि लोक-व्यवहार में से अर्जित की गई अभिव्यक्ति कला उनकी रचना को पारदर्शक और कभी-कभी तो कला की दृष्टि से व्यंजनापूर्ण बना देती है। लोकजीवन की समस्याएँ, आम आदमी की संवेदनाएँ और उनकी भाषा-बोली - इन सबका संवादमय आलेखन पन्नालाल की एक विशिष्ट उपलब्धि है। पन्नालाल के पात्र अपनी भावनाओं में विचरण करने के साथ-साथ गाँव-घर या खेती का काम करते हुए भी दिखाई पड़ते हैं। हर तरह की स्थिति में जीने वाले ये पात्र सुख और दुख दोनों से मिला-जुला जीवन प्रस्तुत करते हैं। पन्नालाल का एक यह भी योगदान है।

14.4 मानवीय गौरव की कथा

'मानवीनी भवाई' द्वारा पन्नालाल ने गुजराती उपन्यास साहित्य को गोवर्धनराम और मुंशी के बाद उन्नति के तीसरे चरण में पहुँचाया है। उनके पूर्व उपन्यास में अभिजात संस्कृति का चित्रण होता था; पन्नालाल ने उसमें ग्रामीण चेतना का एक नया आयाम जोड़ा। व्यक्ति पन्नालाल पटेल के जीवन की यातना लेखक पन्नालाल का अनुभव कोश बन जाती है; उनका जिया-भोगा लेखक की साधन-सामग्री में परिणत हो जाता है। कहते हैं ऐसी स्थिति में भाषा व्यंजनाप्रधान बनकर किसी चमत्कार का सर्जन करती है। पन्नालाल ने ऐसे ही चमत्कार की रचना की है। उनके इस मूल्यवान् योगदान को रघुवीर चौधरी 'मानवीनी भवाई' के कालू के संदर्भ में इस प्रकार देखते हैं-

'कालू भारतीय किसान है; समय के साथ वह लड़ता है; वह भीख नहीं माँगता; जिस अनाज को उसने पैदा किया है, उनको प्राप्त करने के लिए वह निरीह बनकर हाथ फैलाए? नहीं! सारी विभीषिकाओं के बीच भी वह सिर उठाकर लड़ लेना चाहता है; परंतु समर्थ से समर्थ

व्यक्ति की भी शक्ति की एक सीमा होती है। अकाल के कारण पैदा हुई असह्य परिस्थिति में कालू को सत्य के द्विविध रूप के दर्शन होते हैं; अर्थात् प्रेम की विजय होती है; उसी प्रेम की, जिसका वरदान मानवता को मिलता आया है। पन्नालाल यह मानते हैं कि जन्म-जन्मांतर के अनुभव हमारे स्मृति-कोश में जमा होते रहते हैं। अरविंद दर्शन के अनुसार वे परमतत्व, दिव्य जीवन अर्थात् मोक्ष के विकल्प के रूप में अनासक्त कर्म में विश्वास करते हैं। परमतत्व का अनुग्रह ही चमत्कार है। 'भवाई' गुजराती लोकनाट्य का एक प्रकार है; परंतु उसके दो अन्य अर्थ भी हैं- 'फजीहत' या 'भद्द' 'संपूर्ण पूँजी'। फजीहत की सामग्री की पृष्ठभूमि में मौजूद प्रेम की पूँजी को कालू-राजू की कथा द्वारा महाकाव्योचित तटस्थता के साथ व्यक्त करते हुए 'मानवीनी भवाई' में गुजराती भाषा की अस्मिता अपनी सोलहों कलाओं के साथ जगमगा उठी है।

पन्नालाल पटेल गांधीयुग की उपज हैं; फिर भी वे गांधीजी की भावनाओं या गांधी दर्शन के पुरस्कर्ता सर्जक नहीं हैं; क्योंकि उन्होंने अपने समय के लेखकों का अनुसरण करने के बजाय अपने प्रदेश (क्षेत्र) के लोकजीवन का चित्रण करना अधिक पसंद किया। दूसरे शब्दों में कहें, तो आर्थिक, सामाजिक, वैचारिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़े ग्रामीण समाज के अंत:बाह्य जीवन के आलेखन का बीड़ा पन्नालाल ने उठाया। अनजाने में शुरू किए गए इस महान् कार्य को उन्होंने अपनी सूझ-बूझ से पूरा किया। उनका यह साहस सचमुच एक विरल घटना है।

गांधीयुग के साहित्य पर गांधीजी के अलावा रवींद्रनाथ टैगोर और श्री अरविंद घोष का भी काफ़ी असर रहा है। पन्नालाल के लोकजीवन पर आधारित उपन्यासों में प्रकृति की नैसर्गिक शोभा का सुंदर चित्रण हुआ है। परंतु हम यह नहीं कह सकते कि उस पर टैगोर की छाया है; जबकि 'नवुं लोही' (नया खून), 'अनोखी प्रीति' आदि उनकी परवर्ती कृतियों पर श्री अरविंद की विचारधारा का प्रभाव कुछ हद तक अवश्य दिखाई पड़ता है। गांधीयुगीन प्रवाह में प्राय: भावना और आदर्शों के ही गीत गाए जाते थे; जबकि पन्नालाल के अस्पृश्य जैसी स्थिति वाले -'गुजरात के पूर्वोत्तर क्षेत्र' को अपने कथासाहित्य में अभिव्यक्ति करके महत्वपूर्ण कार्य किया है। पन्नालाल ने गोवर्धनराम राम की तुलना में भिन्न ढंग से देशी राजाओं के आपसी संघर्ष को 'पाछले वारणे' (पिछले दरवाज़े में) नामक उपन्यास में चित्रित किया है। इस तरह पन्नालाल की नजर से समाज का कोई भी अंश बच नहीं पाता। 'साँचा समणाँ' (सच्चे सपने) जैसे लघु उपन्यास में किसी कुशल मनोविज्ञानी की तरह मथुर के मनोमंथन को अभिव्यक्त किया है। पन्नालाल के मन में जिस समाज तथा जीवन की जिस संवेदना को चित्रित करने का सपना था, उसके लिए उनके पूर्ववर्ती साहित्य की या गांधीयुगीन साहित्य की विषयवस्तु विद्यमान् थी; परंतु रचना-विधान या अभिव्यक्ति के माध्यम अपर्याप्त थे। कलातत्व की समझ, रचना-विधान की जानकारी या भाषा-कौशल के बारे में पन्नालाल ने कुछ भी पढ़ा न था। दूसरे शब्दों में कहें, तो यह उनके रचनाकार की एक बड़ी सीमा थी; परंतु समाज की पाठशाला में उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। मन की सूझ और प्रतिभा के बल पर उन्होंने अपनी सर्जनशीलता को अर्जित किया था। इसलिए शास्त्र अध्ययन का अभाव कभी उनके आड़े नहीं आया अर्थात् औपचारिक रूप से साहित्यशास्त्र का अध्ययन न करने की वजह से उन्हें कोई नुकसान नहीं हुआ। बल्कि हम यह भी कह सकते हैं कि साहित्यशास्त्र के अध्ययन के अभाव में उनकी निजी सर्जनशीलता को कुछ विशेष करने का मौका मिला। उनकी विशिष्ट उपलब्धि का यह एक कारण हो सकता है।

पन्नालाल पटेल की इस उपलब्धि के बारे में लल्लू भाई पटेल लिखते हैं- 'खेती और उससे जुड़े अन्य कार्यों में रचे-पचे, लड़ते-झगड़ते, प्रेम करते, मेलों का आनंद लेते, सामाजिक कार्यों में हिस्सा लेते, वियोग में दुखी होते, विपरीत परिस्थितियों में अपने पुरुषार्थ से चमकते;

यही नहीं, बल्कि अपनी ही लाचारी, तुच्छता और कमजोरियों में आकंठ डूबे; जुताई-बुवाई-निराई, कटाई-मँड़ाई, गोबर-गोसर में जिंदगी बिताते लोक जीवन को परोक्ष रूप से पन्नालाल ने अपनी रचनाओं में जीवंत कर दिया है। इतना ही नहीं, उनकी विशिष्टता की रक्षा भी की है। एक सर्जक के रूप में पन्नालाल ने सर्जनात्मक भाषा का प्रयोग करके अपना अलग रास्ता बनाया है; और गांधीयुग के बाद के साहित्य सर्जन की विशिष्ट प्रवृत्ति का प्रवर्तन भी उन्होंने किया है। इस तरह गांधीयुगीन साहित्य में पन्नालाल का स्थान विशेष और महत्वपूर्ण है।'

पन्नालाल के आंचलिक उपन्यास में, लोक साहित्य का एक विशिष्ट लक्षण विद्यमान है और वह है धरती की महक अर्थात् उनके आंचलिक उपन्यासों में लोक साहित्य के गुण, उसकी मिठास अनायास घुल-मिल गई है।

मनुष्य के बारे में पन्नालाल की समझदारी उनकी कृतियों में जगह-जगह देखने को मिलती है। बचपन से ही उन्होंने विषम परिस्थितियों का सामना किया था; इसलिए उनकी ऐसी सूझ-बूझ विकसित हुई। अपने संघर्षमय किंतु संतोषप्रद जीवन के बारे में पन्नालाल खुद ही लिखते हैं- 'मैंने बचपन से लेकर आज तक के जीवन के विविध संदर्भों में अच्छी तरह से आनंद भी लिया है और सुख दुख भी सहा है। एक तरफ तो जीवन ने मुझे निचोड़ा है और दूसरी तरफ जीवन को निचोड़ने में मैंने कोई कसर बाकी नहीं रखी है।' पन्नालाल समाज की बड़ी-बड़ी समस्याओं के लेखक नहीं है; बल्कि जीवन की छोटी से छोटी समस्या के मूल तक पहुँचने वाले लेखक हैं। डॉ. प्रमोदकुमार पटेल ने पन्नालाल की इस सर्जनात्मक उपलब्धि के बारे में लिखा है- 'किसी भी बच्चे सर्जक के लिए जो अनिवार्य होता है, पन्नालाल पटेल ऐसे ही संवेदनशीलता चित्त वाले सर्जक हैं। वे जीवन के अनेकानेक अनुभवों से होकर गुज़रे हैं। ऐसे अनुभवों से अपने आपको जोड़ने वाली कोई अंतर्दृष्टि उनके अंदर ज़रूर रही होगी। सामान्य आदमी जहाँ भावनाओं की लपेट में आकर विवश हो जाता है या मूढ़ बन जाता है, वहाँ पन्नालाल जैसे सर्जक को उसमें जीवन की गहन गति दिखाई पड़ती है; और इस प्रकार की रहस्यमय उपलब्धि ही उनकी सर्जनशीलता में गतिशील दिखाई पड़ती है।' (पन्नालाल पटेल, पृ.-21-22)

14.5 रचनाशीलता और रचनागत विशेषताएँ

पन्नालाल अत्यंत गंभीरता से और उत्तरदायित्वपूर्वक अपनी सर्जनशीलता का निर्वाह करते हैं। पात्र अथवा घटनाक्रम उनकी अंतर्दृष्टि में जब तक प्रत्यक्ष नहीं हो जाता, तब तक उन्हें चैन नहीं आया। अपनी सर्जनशीलता को उन्होंने खुद ही परिष्कृत किया है। जैसे-तैसे करके रचना को पूरा कर देना उन्हें पसंद नहीं है। उलझनों और जटिलताओं से भरे जीवन की संवेदना को चित्रित करने में उन्होंने कभी प्रमाद नहीं किया। यही कारण है कि 'मानवीनी भवाई' जैसी रचना को उन्हें तीन-तीन बार लिखना पड़ा। उसमें जीवन और कला दोनों के साथ न्याय करने के लिए उन्होंने अपनी आंतरिक सूझ-बूझ से प्रयत्न किया है; और यही कारण है कि (उमाशंकर जोशी के शब्दों में कहें, तो) भारतीय भाषाओं के प्रादेशिक उपन्यासों में 'मानवीनी भवाई' का एक प्रतिनिधि स्थान है। पूर्वोत्तर गुजरात की सीमा पर राजस्थान से सटे 'मानवीनी भवाई' के उस इलाके की अनेक कथाएँ उन्होंने लिखी हैं। प्रबल जिजीविषा के साथ जीने वाले ग्रामीण लोग बड़ी मुश्किल से ज़िंदगी की गाड़ी खींचते हैं। यह बताने के साथ-साथ पन्नालाल साधारण लोगों में मौजूद असाधारण शक्ति का भी परिचय कराते हैं। प्रेम, विरह और नीतिमत्ता आदि से छलकते ग्रामीण लोगों के हृदय विविध परिस्थितियों में किस तरह

आत्ममंथन के चाक पर चढ़ते हैं, यह पन्नालाल ने अपनी रचनाओं में बखूबी दर्शाया है। गुजराती साहित्य को उन्होंने उत्कृष्ट नारी पात्र दिए हैं। लोकजीवन से ही उन्होंने प्रतिनिधि पात्रों और प्रतीकों को लेकर कथ्य को व्यंजित किया है।

गुजराती कक्षा साहित्य में पन्नालाल के योगदान पर प्रकाश डालने वाले लल्लूभाई बी. पटेल का यह कथन ध्यान देने योग्य है- 'पन्नालाल के पुरुष पात्रों की तुलना में उनके स्त्री पात्रों की गरिमा और अधिक ओजस्वी भाषा में प्रकट हुई है। कुँवरबाई, जीवी, रूपा, राजू, गंगा, केसरी, कंकू -यों कहें कि तमाम स्त्री पात्र अपने धैर्य की कठिन परीक्षा को उत्तीर्ण करके अपनी ओजस्विता फैला गए हैं। पन्नालाल की आदरणीय भावना अर्थात् मातृत्व इन नारी पात्रों में साकार हुई है। उनके चित्रण में हृदय की उज्ज्वलता प्रकट हुई है। गुजराती साहित्य के अमर नारी पात्रों में, अधिकारपूर्वक उच्च स्थान प्राप्त करने की क्षमता वाले ये पात्र पन्नालाल के आंचलिक उपन्यासों के अदभुत आकर्षण हैं।'

इसी तरह पन्नालाल की पात्र-योजना अपनी जमीन से जुड़े और अपनी प्राणवत्ता से स्पंदित तथा निश्छल मनुष्यों से सुशोभित है। उसमें इतनी विविधता है कि उससे हमें उस ग्रामीण परिवेश का परिचय सहज ही मिल जाता है। उन पात्रों में, अपनी सीमाओं में जकड़े लोगों के घरेलू जीवन के राग-द्वेषपूर्ण स्वाभाविक क्रिया-कलापों का लय है। अपने परिश्रम के बल पर पैदा की हुई मनुष्य की उदात्तता और प्रकृतिदत्त उसकी दुर्बलता के अतिरिक्त उसमें छिपी हुई जो मनुष्यता है, उसको मूर्तरूप देने का प्रयास पन्नालाल ने किया है। उनके अनुसार मनुष्य का अस्तित्व की जड़ें धरती की बहुत गहराई में समाई हुई हैं। वह पल भर में अपने को छतनार कर सकता है, दूसरे ही पल कुम्हला भी जाता है; परंतु वह नष्ट कभी नहीं होता। चाहे जितनी भी कठिन परिस्थिति हो, फिर भी उसमें अंकुरित होने और पल्लवित-पुष्पित होने की सहजात क्षमता है। मनुष्य के प्रति पन्नालाल का ऐसा अटल विश्वास है। उनके सर्जन में यह मंगलमयी जीवन-दृष्टि आद्यंत विद्यमान है। मानव समूह (समाज) या व्यक्ति के व्यवहार को विश्वसनीय बनाने के लिए पन्नालाल उसके अनुरूप वातावरण का सृजन कर लेते हैं। वातावरण निर्माण और वर्णन कला की विविध छटाएँ, पात्रों का मनोजगत् और जीवन दर्शन के एक-एक तंतु को निखारने में वे सफल रहे हैं।

'मानवीनी भवाई' पन्नालाल की एक उत्तम कथाकृति है। गुजराती साहित्य ही नहीं, बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य में भी उसका अपना महत्वपूर्ण स्थान है। आखिर 'मानवीनी भवाई' में ऐसा क्या है, जिसके कारण इसे पन्नालाल की विशेष उपलब्धि कहा जाता है? इसके उत्तर के लिए मणिलाल पटेल द्वारा 'मानवीनी भवाई' का मूल्यांकन यहाँ अविकल रूप में दिया जा रहा है- 'ग्रामीण जीवन पर आधारित पन्नालाल पटेल की सभी कृतियों में 'मानवीनी भवाई' एक विशाल फलक को घेरती है। (गुजराती साहित्य में) ग्रामीण जीवन अपनी समग्रता में यहाँ पहली बार प्रस्तुत हुआ है। बाह्याभ्यंतर यथार्थवादी दृष्टिकोण से रची गई इसकी कथा भारतीय ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधित्व करती है – यह कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है; क्योंकि इसमें एक तरफ भयंकर अकाल से जूझते मनुष्यों का चित्रण है, दूसरी ओर उसमें मानव नियति के साथ उसका सामंजस्य रचा गया है। यहाँ रोमांटिक दृष्टिकोण धीरे-धीरे क्षीण होता जाता है। लेखक सहज रूप से यथार्थ का वर्णन करते-करते कला की सीमा में प्रवेश कर जाता है। विरोधाभास और संयोजन दोनों कथा के नैसर्गिक प्रवाह में ही क्रियाशील बने रहते हैं और इस तरह रूपायन की प्रक्रिया लेखक की परवाह किए बिना आगे बढ़ती जाती है।

'आवलोकना' में सुंदरम ने (उसकी प्रस्तावना में भी) इसी विषय में लिखते हुए पूर्वोत्तर प्रदेश का वर्णन किया है। वह पूर्वोत्तर प्रदेश और वहाँ का स्थानिक वातावरण पन्नालाल के हाथों इस उपन्यास में नये सिरे से रचा गया है। वहाँ की जमीन, खेती, ऋतुएँ, काल, गाँवों के घर, वहाँ के लोग, उनकी विडंबनाएँ, उनके दर्द, उनकी खुमारी का पुन:सर्जन उसी वातावरण में होता है; और यह कहा जा सकता है कि पन्नालाल ने यह कार्य पूरी सजगत से किया है। 22-24 दिनों में 'मळेला जीव' की रचना करने वाले पन्नालाल को 'मानवीनी भवाई' को तीन-तीन बार लिखना पड़ा। यह कार्य उन्होंने मक्के के खेत में मचान पर बैठकर किया था। रचनाकार के दृष्टिकोण और पन्नालाल के अपने जीवन-दर्शन का इसमें अच्छा-खासा मेल बैठा है। फिर भी यथार्थ वर्णन का कुछ अधिक मोह पन्नालाल को यहाँ भी मजबूर करता है। उस व्यामोह के कारण ही 'मानवीनी भवाई' में उपकथाओं और अनावश्यक परिवेश वर्णन का प्रवेश हुआ है; और इसीलिए कहीं-कहीं इस कृति में रचनागत शिथिलता भी आ गई है। पन्नालाल की ऐसी प्रौढ़ कृतियों ने बार-बार पढ़ने के लिए मुझे मजबूर किया है; और हर बार मैं उन कृतियों में से कुछ नयी चेतना, कोई नयी जीवनी शक्ति लेकर बाहर आया हूँ। हमने अपने खुद के बारे में, जीवन और उसकी वेदना के बारे में हमारे विवेक को बढ़ाने वाली ऐसी कम ही कृतियाँ देखी हैं।

कालू 'मानवीनी भवाई' के अंत में एक लोकनायक के रूप मे प्रकट होता है और 'भांग्याना भेरूं' नामक प्रकरण में थोड़ा विस्तार भी पाता है। फिर भी वह किसी विशेष मिट्टी का नहीं बना है अथवा न तो वह सामान्य से कुछ विशेष ही है। सामान्य मनुष्य की अच्छाइयाँ-बुराइयाँ उसमें भी हैं। परंतु वह मनुष्य बनने और जीवन को सही ढंग से जीने की दिशा में निरंतर प्रयत्नशील है; इसीलिए वह दुख से हारता नहीं है। संघर्षों से उसका निर्माण होता है और परिस्थितियों से उसकी परिपक्वता बढ़ती है। पन्नालाल ने कालू को ऐसे यथार्थ के बीच में रख कर गढ़ा है कि अंत में वह सिर्फ आदमी और एक विशिष्ट आदमी बन जाता है। मज़े की बात तो यह है कि लेखक ने उसको किसी भी आदर्शों से अलंकृत नहीं किया है। 'मानवीनी भवाई' की सफलता का एक कारण यह भी है कि लेखक ने उसमें किसी भी स्तर पर भावना को महत्त्व नहीं दिया है। यथार्थ की जटिलता ही उनके लिए चुनौती बनी हुई थी। उसमें से रास्ता बनाने से फ़ुरसत मिले, तब वे दूसरी बातों की ओर ध्यान दें।

परिवेश का यथार्थ वर्णन भी व्यंजित होकर पात्रों और परिस्थिति को जिस तरह से ऊपर उठाता है, वह ध्यान देने योग्य है। 'मानवीनी भवाई' की रचना ऐसी ही पृष्ठभूमि पर हुई है। भंयकर अकाल के दो-चार चित्र देखिए-

'वैशाख के बवंडर शुरू तो हो गए, परंतु इस वर्ष न तो छप्पर की घास उड़ी, अरे! हो तो उड़े न!- या न तिनके ही उड़े; अथवा सूखे पत्ते ही। उड़ रही थी तो सिर्फ धूल! या कहीं-कहीं उड़ते थे तो स्त्री-पुरुषों के रुखे-सूखे बाल!'

यहाँ नकारात्मक कथन के बाद स्वीकारात्मक कथन है। ये दोनों मिल कर एक विरोध की रचना करते हैं। एक जीवंत तो है ही; परंतु उसकी व्यंजना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'छप्पनियाँ अकाल' का भयानक चित्र यह रहा-

'कालू कोठियों में धनुष डाल-डाल कर देख रहा था और अंदर से धम्म-धम्म की आवाज़ उठ रही थी; मानो तली में बैठा काल गर्जन कर रहा हो;....अरे! कचरा साफ़ करते समय झाड़ू से उठने वाली आवाज़ भी इस शांति में भयंकर लग रही थी;.....'

'आज बेचारे समय की टाँगें भी भूख से टूट गई हैं; इसलिए वो चल नहीं पा रहा है;...'

'आशा थी कि बारह-बारह महीने से गए हुए बादल जेठ में तो जरूर वापस आएँगे; पर कौन जाने उनको भी पानी की कमी पड़ गई या लौटते समय वे रास्ता भूल गए?...'

पन्नालाल का यह गद्यकाव्य उनके 'फिक्शन' को सघन बनाता है। इसी कारण उमाशंकर ने पन्नालाल को 'सर्जक के रूप में भाषा को गढ़नेवाला' और 'जन्मजात कलाकार' कहा है। पन्नालाल ने तो जो जिया, उसी को शब्दबद्ध किया।

भूख, भीख और मौत का वर्णन करने वाली 'मानवीनी भवाई' में मनुष्य की नियति और उसका जीवन दर्शन प्रकट हुआ है। इसीलिए तो वह एक महान् कलाकृति है। एक भूख तन की तो एक भूख मन की; निर्जनता और भयंकरता के बीच कालू और राजू का मिलन कराकर लेखक ने इन पात्रों के अंतरंग को अच्छी तरह से प्रकट किया है; मानो विधि की वक्रता को मोड़ दिया हो। सारे आवरणों के हट जाने के बाद जीवन ही मानो दर्द का पर्याय बनकर रह गया है। पन्नालाल ने उस थोड़ा-सा तराश कर कला के रूप में ढाल दिया है। 'जीव्या-मर्याना जुहार' नामक प्रकरण में कालू-राजू का यह संवाद संवेदनशील पाठक को विचलित कर देता है। राजू की आँखों में तिरस्कार था और आवाज़ में कड़वाहट थी-

'जिस दिन मैं सेठ के घर अनाज लेन गई और उसके गोदाम को अनाज से छलकते देखा; तथा सेठ ने मेरी देह का बखान करके मेरे साथ छेड़छाड़ की; उस दिन खाली हाथ आते समय मेरे मन में तरह-तरह के विचार आए; मैंने सोचा आज मैं यदि पुरुष होती, तो इस साहूकार का खून कर देती और भूख से मरते सभी लोगों को बुलाकर उसके गोदाम को लुटवा देती; पर मैं क्या करूँ? भगवान् ने मुझे स्त्री बनाया है;.....'

यह सुनकर तो कालू सन्न रह गया। वह क्या बोले यही समझ में नहीं आया। उसे चुप देखकर राजू फिर से बोली-

'तुम सोचते होंगे कि राजू बेवकूफ है; पर....पर राजू करे क्या? जितने गहने थे, उन्हें बेच खाया; और अब यह घर तथा खेती-बारी भी कोई खरीदे, तो दस मन.....अरे! दो मन में भी बेच डालूँ। वो कहावत है न कि जिंदा रहेंगे, तो बादशाहत फिर से पैदा कर लेंगे।'

यहाँ राजू के साथ कालू की तुलना करने जैसी है। अपने पति दयालजी की चिंता में भूख से मरती राजू से एक बार कालू पूछ बैठा कि क्या तू सचमुच अपने पति को जिलाना चाहती है? कालू जैसा परोपकारी आदमी भी कितना स्वार्थी बन जाता है? परंतु इसी में उसके मन की सच्चाई निहित है; उसकी ईमानदारी प्रकट होती है। राजू के लिए उसके मन का प्रेम और उसके खून में बैठी हुई वासना- दोनों यहाँ व्यक्त हुए हैं।

कालू को कहने की इच्छा हुई 'तुझे तो जीना ही कहाँ है? तेरा पेट तो भलाई से ही भर जाने वाला है।' और कह भी देता; परंतु हिम्मत नहीं हुई। एक नि:स्वार्थ छोड़ते हुए बोला-

'पर तू न तो किसी को लूट सकने वाली है और न खुद को लुटाने वाली है; फिर तो सिर्फ मरना ही बचा न!'

राजू इतने दुख में भी कालू को दुखी नहीं देख सकती थी; हँसकर बोली- 'मौत तुम्हारे लिए नयी चीज़ होगी; बाकी हम तो इस जीवन को दाँव पर लगाकर ही बैठे हैं। वो सामने जो नदी है, उसमें अभी से दिन में दो-तीन चिताएँ धधकती हुई हम देखते हैं। एक दिन उसमें एक हमारी भी होगी। तुम तो खुद ही कहते हो कि मौत को हाथ में लेकर घूमता हूँ।'

कालू को उस आवाज और इस चेहरे में अपनेपन की प्रतीति हुई- 'अपनी मौत से यहाँ डरता ही कौन है? पर बात यह है कि मरते समय यदि हम साथ-साथ होते तो....' कालू की आँखें भर आईं; चुप हो गया।

'तुमको ऐसा होता है, तो क्या मुझे नहीं होता होगा?' कहते हुए राजू फटे हुए आँचल में और अधिक चीरें लगाती रही।

'मन तो बहुत बार होता है कि जीते जी हम नहीं मिल सके, जो कोई बात नहीं; पर मरते समय भी....' फिर साँस खींच कर उसने आगे कहा- 'ऐसे हमारे भाग्य कहाँ कि हम साथ-साथ....'

महाकाव्य के फलक पर जीवन की विडंबनाओं को अपने अंदर समेटती हुई 'मानवीनी भवाई' प्रेम और वियोग की जटिलताओं के बहाने बृहत्तर जीवन को स्पर्श करती है। अकाल की भयानकता और मौत की विभीषिकाओं को देखते और उसे सहन करते राजू-कालू के क्षोभ का वर्णन करने वाले और भी उदाहरण देखे जा सकते हैं। अपने ही मवेशियों को लुटेरों से बचाने के लिए गया कालू जब उन जीवित मवेशियों को कच्चा खाने में जुटे प्रेत जैसे भूखे लोगों को देखता है, तो स्तब्ध रह जाता है- 'लो अपनी माँ के खसमो!' कह कर अपनी तलवार उनकी ओर फेंक देता है- 'जिससे इन बेजुबानों को जल्दी छुटकारा तो मिले।' फिर कालू भगवान को गालियाँ देता है- 'अरे! अकाल लाने वाले भगवान्! तेरा सत्यानाश हो! तूने इंसानों की ऐसी हालत कर दी!..' फिर अपने ही बच्चे का भक्षण करती हुई एक स्त्री को देखकर अपने मन को मनाता है- 'अरे नहीं-नहीं, वो तो कोई डाइन थी;..... अरे नहीं भाई! वो औरत ही थी, जो वो खा रही थी, वह खरगोश था।' सचमुच उमाशंकर ने बड़ी मार्मिक बात कहीं है- 'मानवीनी भवाई' की नायिका तो भूख है;.....भूख तन की और मन की।'

पन्नालाल ने इन दो भूखों के बीच में भीख जैसे एक नये आयाम को जोड़ा है। कणबी (पटेल) का बच्चा भीख को भूख से अधिक खराब मानता है; और अपने ही पैदा किए अन्न को दान में लेने से इन्कार कर देता है। 'दर्शक' इसमें मार्क्स का प्रभाव मानते हैं; परंतु पन्नालाल ने तो इसका सहज रूप में वर्णन किया है; फिर भी इसमें क्रांति की ध्वनि अवश्य निकलती है।

राजू के न मिलने पर कालू साधू हो जाने का विचार करता है और पत्नी भली के साथ अबोलेपन की ज़िंदगी गुजारता है; राजू से मिलने के लिए बार-बार ससुराल जाता है; और फिर धीरे-धीरे अंकेला पड़ जाता है। खेत में काम करते समय भरपेट खिलाने वाला कोई नहीं है; इस दुख से अंदर ही अंदर वह घुलता रहता है। उधर राजू स्थिति को सामान्य बनाने की कोशिश भी करती रहती है। यह विशिष्ट प्रेम यथार्थ जीवन का प्रेम नहीं है; फिर भी इसे लेखक ने सच्चाई वेदना के पात्र में घोंट कर तैयार किया है, जिससे उसका अनोखा रंग उभर कर सामने आया है। यथार्थ को कला में रूपांतरित करने की कोशिश सिर्फ़ इतनी ही है कि लेखक ने घटनाओं का सत्त्व निकाल कर उससे केन्द्रीय भाव को गति दी है। कथा के मर्म को प्रकट करने भर के लिए घटनाओं का उपयोग किया गया है। घटनाएँ सहज और शीघ्र ग्रहण होने वाली हैं। इसमें लोक-निरीक्षण का भी भरपूर उपयोग किया गया है।

माली जैसी दुष्ट स्त्री कालू को जितना नहीं सताती, उससे ज़्यादा अपने परिवार वालों को सताती है। माली यहाँ मानव मन के 'असद्' का प्रतीक है; वह खलनायिका नहीं

है। खलता' तो यहाँ परिस्थिति की ही है; जो कालू और राजू को अलग करके ही दम लेती है। उसके बाद 'छप्पनिया अकाल' ही खल की भूमिका निभाता है। दूसरे पात्रों की भूमिकाएँ भी कथा की व्यापकता के लिए आधार तैयार करती हैं। काल की गति और मानव नियति दोनों ताने-बाने का रूप लेकर कलाकृति का निर्माण करते हैं। पन्नालाल के लिए तो यह जगत 'हस्तामलक' (हाथ में रखा हुआ आँवला अर्थात् अपने हाथ की वस्तु) जैसा था। उन्हें किसी चीज की कल्पना नहीं करनी पड़ती थी; सिर्फ यथार्थ को ठोंक-पीट कर एक रूप ही देना पड़ा था। (कथासर्ग, मणिलाल पटेल, पृ.-15-19)

14.6 सारांश

इस इकाई में पन्नालाल पटेल की सर्जनात्मकता तथा उनकी रचना 'मानवीनी भवाई' की विशिष्टताओं की चर्चा की गई है। विविध संदर्भों में पन्नालाल पटेल को रख कर उनकी विशेषताओं को इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है। लोक जीवन, ग्रामीण लोगों की भावनाएँ और उसको अभिव्यक्त करने वाली लोकभाषा की यहाँ चर्चा की गई है। पन्नालाल पटेल का गुजराती साहित्य में तथा भारतीय कथा साहित्य में क्या योगदान है, इसका भी संकेत इस इकाई में किया गया है। कई कलात्मक प्रसंगों तथा स्थलों का उदाहरण के साथ वर्णन भी इस इकाई में किया गया है।

इस तरह इन पाँचों इकाइयों के अध्ययन के द्वारा आप पन्नालाल पटेल तथा उनके उपन्यास 'मानवीनी भवाई' के मर्म को अच्छी तरह से समझने में समर्थ बन सकेंगे।

14.7 प्रश्न

1. 'मानवीनी भवाई' के प्रसंगों के आधार पर पन्नालाल पटेल की सृजनशीलता का परिचय दीजिए।
2. 'मानवीनी भवाई' एक उत्तम कथाकृति है। उदाहरण सहित इस कथन की चर्चा कीजिए।
3. 'तन और मन की भूख' के रूप में 'मानवीनी भवाई' की सफलता का निरूपण कीजिए।
4. 'मानवीनी भवाई' के आधार पर पन्नालाल पटेल के जीवन दर्शन पर प्रकाश डालिए।

खंड

4

जंगल के दावेदार

इकाई 15
महाश्वेता देवी : व्यक्तित्व और कृतित्व 5

इकाई 16
बांगला उपन्यास साहित्य और महाश्वेता देवी 17

इकाई 17
जंगल के दावेदार : सामाजिक चेतना 38

इकाई 18
कथानक एवं चरित्र 53

इकाई 19
जंगल के दावेदार : एक मूल्यांकन 74

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली

प्रो. निर्मला जैन
ए-20/17, कुतुब एन्क्लेव,
फ़ेज-1, गुड़गाँव, हरियाणा

प्रो. मैनेजर पाण्डेय
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. असगर वज़ाहत
जामिया मिलिया इस्लामिया
नई दिल्ली

प्रो. गोपाल राय
सी-3, कावेरी, इग्नो आवासीय
परिसर, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रो. बी.वै.ललिताम्बा
देवी अहिल्या विश्वविद्यालय
इंदौर, मध्य प्रदेश

संकाय सदस्य
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. रीतारानी पालीवाल
डॉ. सत्यकाम
डॉ. राकेश वत्स
डॉ. शत्रुघ्न कुमार
डॉ. विमल खांडेकर
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण समिति

पाठ लेखन
डॉ. अरूप कुमार दास
रवींद्र भारती विश्वविद्यालय
कोलकाता

अनुवाद
श्री विजय कुमार साव
कोलकाता

इकाई संख्या
15 से 19

संपादक
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम संयोजक
प्रो. वी.रा. जगन्नाथन
प्रोफेसर, हिंदी संकाय
इं.गां.रा.मु.वि.

सामग्री निर्माण सहयोग

मुद्रण
श्री कुलवंत सिंह
अनुभाग अधिकारी (प्रकाशन)
मानविकी विद्यापीठ
इं.गां.रा.मु.वि.

फरवरी 2004 (पुनर्मुद्रित)

© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2003

ISBN-81-266-0796-3

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

MAHI-09/166

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में ओर अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

पाठ्यक्रम का परिचय

एम. एच. डी 16 के चौथे और आखिरी खंड में आप महाश्वेता देवी द्वारा लिखित बांगला उपन्यास जंगल के *दावेदार* (मूलतः अरण्येर अधिकार) का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाइयों को पढ़ने से पहले आपसे अपेक्षा है कि आप हिंदी में उपलब्ध इस उपन्यास को पढ़ लें।

इस पाठ्यक्रम में हमने चार भारतीय उपन्यासों को शामिल किया है। ये चारों उपन्यास वस्तु और शैली की दृष्टि से एक दूसरे से अलग हैं और इनमें उपन्यासकार की दृष्टि भी अलग–अलग है। जहाँ शेष उपन्यासों में आम जन जीवन का वर्णन है, वे उपन्यास शिल्प की दृष्टि से नायक–नायिका के प्रेम संबंधों पर आधारित हैं। महाश्वेता जी का उपन्यास कल्पना जगत से निकलकर देश की ठोस धरती पर टिका है। इसमें नायक का जीवन चरित ही प्रमुख कथासूत्र है, कोई प्रणय या परिणय वर्णन नहीं। जंगल के दावेदार 19वीं शताब्दी के मुंडा विद्रोह पर आधारित है जिसका प्रधान पात्र है बिरसा मुंडा। इस विद्रोह के मूल उत्स को ढूँढ़ते हुए उपन्यासकार ने आदिवासियों के जनजीवन, उनकी समस्याएँ, आचार–विचार तथा बृहत्तर समाज में उनके स्थान आदि बातों का विश्लेषण भी किया है। यह जीवनी परक उपन्यास है; आधुनिक भारतीय इतिहास के पन्ने खोलता है, अतः ऐतिहासिक भी है।

इन इकाइयों का लेखन रवींद्र भारती विश्वविद्यालय, कोलकत्ता के बांगला विभाग के प्राध्यापक डा० अरूप कुमार दास ने किया है। उनके मूल बांगला लेखन को हम अनुवाद के माध्यम से आप तक पहुँचा रहे हैं। हमने मूल लेखक की भाषा को उसके प्रवाह, शब्दावली तथा शैली में अधिक परिवर्तन किये बिना आपके सामने ला रहे हैं। इस कारण आपको उनकी भाषा का प्रांतीय पुट दिखाई देगा, जो हिंदी के अखिलभारतीय स्वरूप का परिचायक है।

हम आशा करते हैं कि मूल उपन्यास और उसपर लिखी इन इकाइयों के पठन से न केवल महाश्वेता देवी के उपन्यास सृजन, कथासूत्र और शिल्प का ज्ञान मिलेगा, आप इस माध्यम से बांगला के उपन्यास साहित्य का परिचय भी प्राप्त कर सकेंगे।

इकाई 15 महाश्वेता देवी : व्यक्तित्व और कृतित्व

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 पारिवारिक पृष्ठभूमि

15.3 शैक्षणिक जीवन

15.4 यौवन

15.5 विवाह और नये जीवन का सूत्रपात

15.6 कृतित्व

15.7 सारांश

15.8 प्रश्न

15.0 उद्देश्य

इस इकाई में यह चर्चा की गई है कि महाश्वेता देवी के जीवन के वे कौन–से तत्व हैं, जिनसे उनके कृतित्व पर प्रकाश पड़ता है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- उनकी पारिवारिक पृष्ठ भूमि का वर्णन कर सकेंगे कि लेखन उन्हें किस तरह विरासत में मिला है;
- उनकी चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन कर सकेंगे और यह बता सकेंगे कि किस तरह उनकी शिक्षा–दीक्षा और कार्यानुभवों ने उनकी रचनाधर्मिता को प्रभावित किया है;
- उनके वैवाहिक जीवन का परिचय दे सकेंगे; और
- उनकी रचना दृष्टि का विवेचन करते हुए उनके कृतित्व का आकलन कर सकेंगे।

15.1 प्रस्तावना

महाश्वेता के पहले बांगला उपन्यास साहित्य में वस्तुवादी दृष्टि प्रखर नहीं थी। उपन्यासकार प्रायः उच्च मध्य वर्ग तथा शहरी धनी परिवारों के पात्रों के इर्द–गिर्द अपने कथासूत्र का निर्माण करते थे। महाश्वेता देवी में स्वर की भिन्नता दिखाई देती है। उन्होंने कई उपन्यासों में अब तक उपेक्षित, हाशिये पर स्थित जनजातियों को केंद्र में रखकर काव्य रचना की। उनके दो प्रमुख उपन्यास हैं हजार चौरासी की माँ (1976) तथा अरण्यरे अधिकार (1977), जिनमें जनजातियों के जीवन की कथा मुखर हो उठी है। महाश्वेता देवी ने परंपरा से हटकर अपने लिए नये मार्ग की स्थापना कैसे की, इसका संकेत उनके जीवन और अनुभवों से मिल सकता है।

उनके पिता मनीष घटक स्वयं लेखक थे 'कल्लोल' के सदस्य थे और उन्होंने समाज के निचले तबके के पात्रों को अपने लेखन में स्थान दिया। घर में लेखन आदि का प्रचलन था। मामा, मौसी, चाचा ऋत्विक घटक सभी कलाओं में प्रवीण, बौद्धिक रूप से सक्रिय। नाना जी आंदोलनकारियों के मुकदमे लड़ते थे।

पारिवारिक संस्कार के साथ–साथ शिक्षा–दीक्षा ने भी उन्हें जीवन की जटिलताओं को गहराई से देखने को प्रेरित किया। शांति निकेतन में उन्हें स्वाधीन इच्छा दायित्व बोध तथा सौंदर्य बोध की शिक्षा मिली।

उनके पारिवारिक जीवन में उथल–पुथल आईं। विजन भट्टाचार्य से विवाह के 15 वर्ष बाद वे पति से अलग हुइ और अपने बेटे नवारूण से भी बिछुड़ गईं, जो उन्हें हमेशा सालता रहा।

उन्हें पढ़ने का शौक था। मामा सचिन चौधरी के प्रस्तकाव्य में उन्होंने सिपाही विद्रोह पर बहुत सारी किताबें पढ़ी और झाँसी की रानी के चरित्र ने उन्हें आकृष्ट किया। 'देश' पत्रिका में 'झाँसी की रानी' आख्यान धारावाहिक के रूप में छपा। शुरू शुरू में वे रोमांस और प्रेम से भरपूर आख्यान ही लिखा करती थीं, जैसे मधुर–मधुर (1958), प्रेमतारा (1959) आदि। 1969 के आसपास साम्यवादी रुझान तथा आदिवासी जीवन के प्रत्यक्ष दर्शन से उनके लेखन का लक्ष्य बदल गया।

15.2 पारिवारिक पृष्ठभूमि

"एक ही जीवन में मैंने कई बार जन्म लिया है।" – अपनी आत्मजीवनी में ऐसी बहुमुखी जीवन के विवर्तन और परावर्तन की जो बातें महाश्वेता देवी ने कही है, उन्हीं महाश्वेता देवी का लालन–पालन बहुत ही साधारण ढंग से हुआ था। बीसवीं सदी के आरम्भ काल में गाँव में रहने वाले शिक्षित बंगाली समाज की निम्नलिखित विशेषताएँ थी– (1) अपनी आमदनी को बिना सुस्थिर किये ही लड़के–लड़कियों की शादी, (2) संयुक्त परिवार में रहना, (3) शादी के बाद ही मातृत्व के बोझ को लगातार ढोते रहना। मध्यमवर्गीय सभ्य–शिक्षित समाज में रहने के बावजूद उनके पिताजी मनीष घटक इस व्यक्तिक्रम के बाहर नहीं थे। महाश्वेता के पिता मनीष घटक का व्यक्तित्व खुशमिजाज और फक्कड़पन का मिला जुला रूप था। अविभाजित बांगलादेश के ढाका जिले के एक सुदूर गाँव से कलकत्ता के प्रेसिडेंसी कालेज में वे पढ़ने के लिए आए। उनके गाँव का नाम 'भरेंगा' था। नदी के किनारे अवस्थित होने के कारण, बार–बार नदी के जल में समा जाने के कारण ही कालान्तर में "पुराना भरेंगा" के नाम से यह गाँव चिह्नित हुआ। पुराने भरेंगा की स्मृति को लेकर, वहाँ के मनुष्य जिस नये जगह गाँव को बसाते थे, उसका नाम नया भरेंगा रख दिये इस 'नये भरेंगा' में जाने के लिए ढाका से 'ढाका मेल' से गोयालन्द जाना पड़ता था। गोयालन्द से स्टीमर द्वारा पद्या–यमुना नदी के मध्य भाग से एक लम्बी दूरी तय करते हुए नये भरेंगा में जाया जाता था।

1923 ई0 में महाश्वेता के पिता मनीष घटक ने कलकत्ता प्रेसिडेंसी कालेज से B.A. (बी0ए0) पास किया। इसी साल 23 श्रावण (10 अगस्त) को उनकी शादी उन्हीं के गाँव में रहने वाले नरेन्द्रनारायण चौधरी की लड़की धरित्री के साथ हुई। मनीष के पिता सुरेशचन्द्र घटक और धरित्री के समय तक वे बेरोज़गार थे। सुरेश चन्द्र घटक उस वक्त चट्टग्राम में सहकारी यानी जिला हाकिम के पद पर कार्यरत थे। मनीष एवं धरित्री की प्रथम संतान के रूप में महाश्वेता देवी का जन्म 14 जनवरी 1926 ई0 को हुआ। मनीश घटक उस वक्त 25 वर्ष के और धरित्री देवी 18 वर्ष की थीं। इसके बाद धारावाहिक रूप से उनके आठ और सन्तानों को भी धरित्री देवी ने जन्म दिया। इनके नाम क्रमानुसार है– शाश्वती, अनीश, अवलोकितेश्वर, अपाला, शमीश, मैत्रेय, सोमा और सारी। वर्तमान में इसमे से पाँच उपस्थित हैं।

मनीष के फक्कड़पन और खुशमिजाज स्वभाव की चर्चा हमने ऊपर की है। मनीष में वह खुशमिजाजी और फक्कड़पन किस हद तक मौजूद था, इसका संकेत धरित्री के साथ विवाह सुनिश्चित करने के लिए गये मनीष को उनकी होने वाली भावी सास से परिचय के वक्त ही मिलता है। मनीष अपने परिवार के सदस्यों को स्वरचित नाटकों में अभिनय कराते, बहनों को गाने के लिए प्रोत्साहित करते, चित्र बनाने के लिए भी प्रोत्साहन देते। माँ के साथ उनका बहुत ही मित्रतापूर्ण सम्बंध था। होनेवाली भावी सास जब मनीष को – "तुम्हारी माँ कैसी हैं?" पूछती है, तो मनीश कहते हैं – "माँ? जिस तेज गति से मोटी होती जा रही है। सोच रहा हूँ, घर के नाटक में इस बार माँ को भीम का पार्ट दूँगा।" घोर अनुशासित घर में होने वाले जमाई के मुँह से इस तरह के उत्तर की प्रत्याशा किसी ने न की थी, जबकि यह उत्तर उनके बचपन का ही बोध कराता है। प्रत्येक लड़के का पूरे स्नेह के साथ लालन–पालन करने के बावजूद, उनके भविष्य के जीवन में शिक्षा के महत्व के प्रति उनकी

आत्मजीवनी में महाश्वेता लिखती है– "तुतुल (पिता मनीश) कौन क्या पढ़ता हैं या पढ़ेगा या वह पढ़ता भी है या नहीं– ये सब चिन्ता करने का दायित्व अपने पूरे जीवनकाल में कभी स्वीकार नहीं किया। यदि करते तो हमारा जीवन इस तरह ऊबड़–खाबड़ नहीं होता।" इसके अलावा मनीश शराब के प्रति भी बहुत आसक्त थे। किन्तु उनके सारे दुर्गुणों को उनकी साहित्य सृजन की प्रतिभा ने ढंक लिया। बांग्ला साहित्य के इतिहास में ये पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने निचले स्तर पर जीवन यापन करने वाले चोर, पाकेटमार, बस्ती में रहनेवाले लोगों के जीवन का चित्रण पूरी दक्षता और समग्रता से किया। उनका उपनाम 'युवानाश्व' था। 'कल्लोल' नामक मध्यवर्गीय शिक्षित बांगाली साहित्य बुद्धिजीवियों के आंदोलन के अन्यतम सहयोगियों में से वे एक थे। आलोचक दीपांकर चक्रवती साहित्यकार मनीश घटक के मूल्यांकन में लिखते है– आज से कई दशक पहले "जिन साहसी युवाओं का एक दल रवीन्द्रनाथ के एकदम विपरीत भिन्न मूल्यबोध की मर्यादा को बांग्ला साहित्य में धाराप्रवाहित कराने के लिए आगे आया, उन्हीं में से एक थे मनीश घटक। महाश्वेता के विश्लेषणानुसार 'पराधीन रहने का ग्लानिबोध' ही उनके (मनीश) सारे जीवन के लेखनी में प्रस्फुटित होता रहता है।' उनके मतानुसार– "स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारत का चेहरा जिस निर्भीकता से वे दिखला गये हैं, वैसी दुःसाहसिकता उस उम्र के तरुण (युवा) लेखकों के मध्य, अभी तक तक किसी युवा लेखक ने क्यों नहीं दिखलाई?"

बहु सन्तानों के मध्य पालित होने के बावजूद महाश्वेता माता–पिता, दादा–दादी, नाना–नानी, मौसी–काकी, मामा–मामी का प्यार विशेष रूप से पाती थीं। घर की बड़ी लड़की महाश्वेता ने परवर्ती भाई–बहनों के देखभाल में भी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। फिर भी एक के बाद एक भाई–बहनों के आने से माता–पिता के बेहिसाब जीवनबोध उनके मन के किसी कोने में गुप्त रूप से वेदना का संचार करता था। वे स्वयं लिखती है– "माँ का इस तरह संतानोत्पति करना मेरे मन के किसी कोने में आघात करता था। अवश्य ही तब इस तरह की आलोचना (बात) कहीं नहीं की जा सकती थी। फिर भी माँ का चेहरा विदीर्ण दिखलाई पड़ जाता, मेरे और माँ के बीच बात–चीत के मध्य कभी–कभी न चाहते हुए भी संकोच आ ही जाता।'

पितृवंश या मातृवंश इन दोनों तरफ के पूर्वपुरुषों (पुरखों) में से कोई भी आर्थिक रूप से सुदृढ़ (जमींदार) नहीं था। उनकी उपलब्धि थी– बौद्धिकता और मानवीयता। उसके दादा जी (सुरेश चन्द्र घटक) गरीब पर विद्वान ब्राह्मण के पुत्र थे। वे अपने लिखाई–पढ़ाई के बल पर बंगाल सिविल सर्विस में एस0 डी0 ओ0 हुए। एफ0 ए0 पास करने के बाद 18 वर्ष की उम्र में उनकी शादी हो गई। नये भरेंगा का घर उन्होंने अपनी नौकरी के पैसे से बनवाया। संयुक्त परिवार के विशाल घर में पूजा के लिए अलग से पूजा घर था, जहाँ दुर्गा, लक्ष्मी, काली, कार्तिक, जगद्धात्री इत्यादी देवी–देवताओं की पूजा होती। महाश्वेता के नाना (नरेन्द्रनारायण चौधरी) पेशे से वकील थे। वे स्वदेशी आंदोलनकारियों के घोर समर्थक थे। स्वदेशी आंदोलनकारियों के मुकदमे लड़ते थे, जिसके फलस्वरूप अमीर लोगों के मुकदमे नहीं ले पाते थे। नानी और नाना के प्रेरणा स्वरूप और निजी जातीयता बोध के चलते स्वदेश प्रेमी स्वाभाविक कवि गोविन्ददास की सहायता करती थी। 'जयश्री' नामक स्वदेशी समाचार पत्र, दीपांलि संघ, नारी शिक्षा संघ जैसे स्वदेशी प्रतिष्ठानों के साथ भी उनका प्रत्यक्ष और घनिष्ठ संबंध था।

ढाका के इस घटक परिवार की रुचि और सांस्कृतिक वातावरण में महाश्वेता की किशोर उम्र बीती। उन्होंने लिखा है – "ढाका में हम लोग चाभी भरने वाली मशीन से पंकज मल्लिक के गीत–, 'प्रलय नाचे, नाचे जब प्रलय (प्रलय नाचन नाचले यखन)', युथिका राय का गीत– 'राही, मैं फिरता एंकाकी' (पथिक आमि फिरि एकांकी) अथवा मृणाल कांति घोष का गीत– 'खेलते हैं विश्वलय' (खेलिछ विश्वलये) इत्यादि गीत सुनते थे। वे और लिखती हैं– "हमारे पास बड़े एच0 एम0 वी के ग्रामोफोन रिकार्डों में सावित्री कृष्णन, कनक दास, अमिता सेन का रवीन्द्र संगीत और बड़े–बड़े 'ओडिओन' रिकार्डों में अब्दुल करीम खां के गीत, छोटे रिकार्डों में गँहरजान, दिलीप राय, उमा बसु, हरिमति– इन लोगों के गीत, इनायत खाँ के सितार, क्राइस का बेहाला इत्यादि सुन–सुन के ही मैं बड़ी हुई हूँ।" पिता मनीश घटक के रुचिबोध के प्रति महाश्वेता खुब ही श्रद्धावान हैं। महाश्वेता मनीष घटक के पारिवारिक जीवन का एकदम जीवंत वर्णन करती हैं:– ढाका में हमलोग कायस्थेली में 'नलिनी कुटीर' नाम के आश्चर्यजनक रूप से सुंदर दोतल्ले मकान में रहते थे। तुतुल (पिता) के रुचिबोध के फलस्वरुप दीवाल में जापानी फोटोओं के प्रिंट

लटके रहते थे, ग्रामोफोन पे गीत बजते रहते थे, फर्श पर विष्णुपुरी दरी बिछी रहती थी।" महाश्वेता के पैतृक घर के अन्दर महल (भीतरी भाग) में प्याज़ और लहसुन खाना मना था। किंतु उसके दादा और पिताजी को मांस खाना अच्छा लगता था, इसलिये वह मांस घर के बाहर एक निषिद्ध वस्तु के रूप में बनता था। ये उस समय कि बात है, जब बंगाली मुरगी के मांस को निषिद्ध खाद्य वस्तु के रूप में देखते थे। बचपन के समय पैतृक एवं मामा लोगों के घर मैं जात्रा (एक प्रकार का नाटक) इत्यादि मंचित होता रहता था। तब बंगाल के प्रत्येक गाँव में दुर्गा पूजा के समय चार दिन तक यात्रा उत्सव बंगाल का एक सांस्कृतिक अंग था। कहीं धनी परिवारों के अर्थ से, तो कहीं गाँव के सम्पन्न लोगों से चन्दा इकट्ठां कर इस तरह के जात्रा का प्रबंध किया जाता था। इस सभी जात्रा दलों के साथ राढ़देशों के (मुख्य रूप से कलकत्ता के पश्चिम में स्थित जिले–मेदनीपुर, हुगली, हावड़ा और बर्द्धमान) के कृषक छुट्टी के समय (जब खेत में कुछ दिनों तक कोई काम न हो) यात्रा में अभिनय करने जाते थे।

दूसरे भाई बहनों की तुलना में अपनी ही किशोर वय के सम्बंध में महाश्वेता का विचार निम्नलिखित है:– "मैं बहुत जिद्दी थी, नानी के लाड़–प्यार से ओत–प्रोत। मैं बदमाश, अनीश बहुत ही दुर्दांत, बीच की मितुल बहुत ही सरल एकदम गुड़िया की तरह।" वे लिखती हैं– मैं बचपन में अत्याधिक लाड़–प्यार पायी हूँ। नाम भी कई तरह के। दादा कहते– 'डाईडे' (प्राचीन ग्रीस के कार्थेज नगर की रानी डाईडे), दादी कहती– 'देवकी', बड़े दादा जी मुझे 'नातिन' कहते।"

15.3 शैक्षणिक जीवन

महाश्वेता का शैक्षणिक जीवन ढाका जिले के 'इड़ेन मांटेसरी स्कूल' से शुरू हुआ। इसके बाद उनके पिता का तबादला मयमनसिंह, जलपाईगुड़ी, दिनाजपुर और फरीदपुर जिले में क्रम से हुआ। 1936 ई0 में उनकी बदली मेदनीपुर में हुई। उस वक्त महाश्वेता को 'मेदनीपुर मिशन स्कूल' में भर्ती किया गया। इस मेदनीपुर शहर में बिताये गये समय को ही उन्होंने अपने जीवन के चरम सुख और आनंदमय समय के रूप में अंकित किया है। 1936 में उन्हें रविन्द्रनाथ के शांतिनिकेतन स्कूल में पढ़ने के लिए भेजा गया। यही शांतिनिकेतन आज विश्वविख्यात है। उस वक्त रविन्द्रनाथ और उनके शिक्षा के आदर्श रूप के अनुगामी एकदम निस्वार्थ शिक्षित मनुष्यों के आत्मत्याग के बल पर ही शांतिनिकेतन का गठन हो रहा था। वहाँ महाश्वेता को पाँचवीं कक्षा में भर्ती कराया गया। उसी समय उसके छोटे मामा शंख चौधरी अपनी कॉलेज की पढ़ाई खत्म करके शांतिनिकेतन के कला भवन में एवं छोटी मौसी स्वप्नमयी स्कॉलरशीप पाकर संगीत भवन में दाखिल हुई। महाश्वेता को शांतिनिकेतन के अपार प्राकृतिक सौन्दर्य (excellent beauty of nature) के बीच स्वाधीनता और मुक्ति के उल्लास के साथ बड़े होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। शांतिनिकेतन ही उनके भविष्य के जीवन की व्यक्तित्व विकास की आधार शिला बनी। यहाँ की निम्नलिखित विशेषताओं को उन्होंने वर्णित किया है।

1. स्वाधीन इच्छा और स्वभाव प्रणवता के अभिव्यक्ति की आजादी।
2. सख्त एवं दायित्वपूर्ण मनुष्य होने की शिक्षा।
3. व्यक्ति के अन्दर निहित सौन्दर्य बोध को जागृत करना।

शांतिनिकेतन के स्कूल जीवन के बारे में उन्होंने लिखा है:– हम लोग जितना चाहे धूप में जलते और पानी में भीगते। वर्षा में कोपाई नदी जब पानी से लबालब भर जाती तो उसके गेरुआ फेनिल पानी में विश्वनाथ भैया, जीवन भैया हमें उतार देते, हमारे साथ तैरते हुए हमें तैरना सिखाते। जितना हो खेलो, तैरो, गाछ पर चढ़ो और फल खाओ' रेललाईन के किनारे–किनारे चलकर जंगली बेरों के गुच्छों से बेर तोड़कर खाओ। यहाँ के सांस्कृतिक परिवेश के सम्बंध में उनका आविष्ट वर्णन है– सौन्दर्य बोध को विकसित करने का कार्य भी शांतिनिकेतन ने ही किया ..... प्रत्येक गृह की स्थापत्यकला, चटाइयों से ढकी हुई दीवार, दीवार में 'फ्रेस्को' (प्राचीर चित्र), विश्व भारती के श्री निकेतन में बनी साड़ियाँ, बेड कवर, परदा, आसन, आश्रम में यत्नपूर्वक रखे हुए लता, वृक्ष सब मिलकर सौन्दर्य बोध कराने वाली एक अपूर्व अभिज्ञता..... लगता था प्रत्येक दिन एक उत्सव है।" शांतिनिकेतन में जिन लोगों के सान्निध्य में उन्होंने शिक्षा ग्रहण की वे थे–

क्षितीशचन्द्र राय, हजारीप्रसाद द्विवेदी, सुधीर गुप्ता, कृष्णा कृपलानी, सुधीर राय (हिन्दी फिल्मों के निर्देशक विमलराय के बड़े भाई)। 1937 में बीमार पड़ जाने के बाद 1938 में फिर से स्वास्थ्य लाभ होने पर रवीन्द्रनाथ ने शांतिनिकेतन में बांगला भाषा की कक्षा लेने की घोषणा की। महाश्वेता तब सातवीं कक्षा की छात्रा थी। रवीन्द्रनाथ अपनी 'बलाई' कहानी को कक्षा में पढ़ाते थे। इसी साल के अन्त में माँ की बीमारी और परिवार की डाँवाडोल आर्थिक स्थिति के चलते महाश्वेता को शांतिनिकेतन के स्कूल से वापस घर बुलाया गया। 1939 में उन्हें कलकत्ता के 'वेलतल्ला बालिका विद्यालय' में भरती किया गया। 1942 में इसी स्कूल से उन्होंने मैट्रिक पास किया। 1944 में आशुतोष कालेज से इन्टरमीडिएट पास किया। 1945–46 में वे फिर से शांतिनिकेतन में बी0ए0 (B.A.) पढ़ने के लिए गयीं। शुरू–शुरू में बांगला आनर्स उपलब्ध होने के बावजूद बाद में अंग्रेजी ऑनर्स में नाम लिखवाया, जब कि अंग्रेजी में वे बेहद कमजोर थीं। अल्प अंग्रेजी ज्ञान को लेकर ही उन्होंने अंग्रेजी ऑनर्स पढ़ा। उन्होंने खुद कहा है:– "मैं अंग्रेजी आनर्स की फांकिबाज और खराब रिजल्ट लाने वाली छात्रा थी, मेरे पास किसी तरह का एकेडमिक डिसिप्लेन नहीं था। उच्चारण में बंगालीपन की प्रचुरता, कन्वेंट या अंग्रेजी माध्यम में पढ़ने की कोई अभिज्ञता भी नहीं थी, चेहरे मोहरे से भी एकदम 'नेटिव' लगती थी।" 1946 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में एम0 ए0 अंग्रेजी में दाखिला लिया। भारत स्वाधीन होने के पूर्व इस साल पूरे भारत में हिन्दू मुस्लिम वैमनस्य की भावना तीव्र रूप से फैल गई। 16 अगस्त से कलकत्ता में हिन्दू मुस्लिम दंगे और लूट–पाट होने से विश्वविद्यालय बंद हो गया। महाश्वेता की एम0ए0 की पढ़ाई भी छूट गई, क्योंकि 1947 में बांगलादेश के विख्यात जननाट्य (गणनाट्य) आंदोलन के प्रसिद्ध नाट्यकार विजन भट्टाचार्य से 10 फरवरी 1947 को महाश्वेता की शादी हो गई। डेढ़ साल के अन्दर एकमात्र संतान नवारुण भट्टाचार्य (23-6-48) का जन्म होता है। किन्तु लिखने–पढ़ने के प्रति महाश्वेता का लगाव 1963 में कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्राईवेट परीक्षार्थी के रूप में एम0ए0 (अंग्रेजी) पास करने से परिलक्षित होता है।

15.4 यौवन

कक्षा नौ में जाते–जाते महाश्वेता किशोर उम्र के प्रेम में कई बार पड़ीं। उस युग में माता–पिता के उदार होने के बावजूद समाज तो रक्षणशील ही था। शहर या गाँव में समवयस्क लड़कों के साथ लड़कियों की बात–चीत या मिलना–जुलना और बंधुत्व समाज में अमान्य था। स्वभावतः घर की छत पर खड़ी होकर दूर किसी दूसरी छत पर खड़े युवक की तरफ मुग्ध दृष्टि के आदान–प्रदान या रास्ते में आते–जाते वक्त किसी नवयुवक से आमना–सामना हो जाने के परिणामस्वरुप कुछ दिनों में हाथों में एक तीव्र आवेगभरा, आत्मनिवेदन करने वाला प्रेम पत्र होता और इस तरह किसी के प्रेम में पड़ना किस किशोरी को अच्छा नहीं लगता? महाश्वेता को भी अच्छा लगता था। इस समय कलकत्ता में उनके घर में उनके समवयस्क चाचा ऋत्विक घटक भी रहते थे। यही ऋत्विक घटक बाद में फिल्म निर्देशक के रूप में पूरे भारत में प्रसिद्ध हुए। विश्व फिल्मों के सभी पर्यवेक्षक और बुद्धिजीवी भी उनके द्वारा निर्देशित फिल्मों के महत्व को अब प्रतिपादित करते हैं। यह एक अन्य प्रसंग है। किंतु ऋत्विक भतीजी के इस ताबड़तोड़ प्रेम प्रसंगों को पसंद नहीं करते और उनमें विघ्न (बाधा) उत्पन्न करते जिसके फलस्वरुप महाश्वेता और ऋत्विक के बीच संबंधों की तिक्तता बढ़ती गई। किन्तु ये सब तो समयसापेक्ष हैं। परवर्ती काल में ऋत्विक ने अपनी इस बड़ी भतीजी को बहुत स्नेह भी दिया है। महाश्वेता भी अपने इस चाचा की अकाल मृत्यु से कम वेदनाग्रस्त नहीं हुई थीं। अभी भी बातचित के मध्य उनके मन की वेदना प्रकाशित हो जाती है। उस समय के विख्यात आधुनिक बांगला कविता के स्रष्टा वृद्धदेव बसु, प्रेमेन्द्र मित्र, मानिक बंदोपाध्याय, ज्योतिन्द्र मैत्र जैसे व्यक्ति महाश्वेता के पिता मनीश घटक के मित्र थे। महाश्वेता ने अपने किशोर काल में इनमें से अनेकों का स्नेह और सान्निध्य पाया। 1940 में अपने भाई आलोकितेश के साथ अपने मामा जी के यहाँ बम्बई (मुम्बई) घूमने के लिए गयी मामा (शचिन चौधरी) Economic and Political Weekly नामक पत्रिका के अधिष्ठाता सम्पादक थे। वहीं प्रथम शिवाजी पार्क का दुर्गापूजा उन्होंने देखा। महाश्वेता अपने प्रयास से घूमने के लिए पूना (अभी पुणे), दौलताबाद, औरंगाबाद और अजंता–एलोरा के ऐतिहासिक स्थलों पर गयी। शैशव और किशोर उम्र से ही महाश्वेता को परिवार के अन्दर 'पकी हुई लड़की' का दर्जा प्राप्त हो गया था। सुदूर बम्बई जाकर यह लड़की अकेले घूमने

जायेगी, इसमें आश्चर्यजनक कोई बात नहीं थी। यहाँ तक की मामा के यहाँ भी इसे औरत नहीं बल्कि 'मर्द मार्का' लड़की कहा जाता था। अवश्य ही उनके उदार माता–पिता उनकी दुस्साहिकता और चंचलता को प्रश्रय (प्रोत्साहन) देते थे। माँ के प्रति महाश्वेता की असीम श्रद्धा का परिचय उनकी आत्म जीवनी में पाया जाता है। लिखती हैं:– "सभी के पास अपनी माँ अनन्य होती है। मेरे लिए मेरी माँ धरती भी थी, नैतिक शक्ति, भोग–विलास से घृणा, सहिष्णुता, दूसरे के लिए निस्वार्स्थ आत्म त्याग, मेरी माँ के ये सारे गुण झलमल चमकते। ऐसी ऐश्वर्यमयी औरत मैंने आज तक नहीं देखी।"

1938 से 1944 तक कलकत्ता में किराये के मकानों में वे लोग रहे। तब कलकत्ता के बालीगंज, भवानीपुर इलाके के अभिजात मुहल्ले में 50–60 रुपये में किराये के अनेक खाली मकान पाये जाते थे। इन छः सात सालों में घटक परिवार ने लगभग सात–बार मकान बदले हैं। इस समयावधि में महाश्वेता ने एक बार भ्रांतिवश स्कूल में अपना नाम तपशिली जाति–उपजाति (Scheduled Castes, Scheduled Tribe) की छात्राओं की तालिका में डलवा दी। घर में इसके लिए उन्हें तिरस्कृत होना पड़ा। बाद में इसके सन्दर्भ में लिखती हैं:– "क्या 14 वर्ष की उम्र में ही मैं अपने पूर्ववर्ती जीवन के बारे में कोई पूर्वाभास पायी थी? तो बड़े होकर क्रमशः समाज के निचले तबके की ओर चली गयी ऐसा क्यों?"

1941 में बंगाल के सर्वकालीन श्रेष्ठ साहित्यकार रविन्द्रनाथ की मृत्यु होती है। मात्र तीन वर्ष पहले महाश्वेता जिसके आश्रय की छाया में थी। उस विश्वविख्यात व्यक्ति की स्वाभाविक मृत्यु होने के बावजूद क्या वह वेदनापूर्ण नहीं था? महाश्वेता लिखती हैं:– '1941की सबसे बड़ी एवं भयानक अभिज्ञता थी, रविन्द्रनाथ की मृत्यु। सभी स्कूल कॉलेज बन्द, ऐसा लगता था मानों बंगाल का जन जीवन भी एक दम बंद। तुतुल (पिताजी) बड़ी मौसी, माँ और मुझे लेकर निकले। जोड़ासांकू की तरफ हम लोग नहीं जा पायें। निमतल्ला श्मशानघाट की तरफ हम लोग विशाल जन समूह प्रवाह में पड़कर चले गये जिसमें सिर्फ सर ही सर नजर आ रहे थे। उसी भीड़ में रविन्द्रनाथ के पार्थिव शरीर को सिर्फ एक झलक ही हम लोग देख पाये। याद पड़ता है।" शाम के समय ही झिसी झिसी वर्षा" महाश्वेता रविन्द्रनाथ की मृत्यु से इतनी अभिभूत हुई कि विश्वभारती के लिए कुछ करने की चाह में अपने स्कूल के सहपाठियों के बीच चंदा उठाकर तत्कालीन विश्वभारती के आचार्य कृष्णा कृपलानी को 32 रु0 का मनिआर्डर किया। 1942 में महाश्वेता 'दक्षिण कलकत्ता किशोर बाहिनी' की सक्रिय सदस्य बनी। इस संगठन के अधिष्ठाता एवं प्राण पुरुष थे कम्युनिस्ट पार्टी के आदर्शों से ओत प्रोत किशोर कवि सुकांत भट्टाचार्य। इसी बीच स्वनिर्भर होने के लिए महाश्वेता ने सियालदह अंचल में साड़ी छापने की एक दुकान खोली, नाम दिया– 'चित्ररेखा'। इसके लिये पूंजी का जुगाड़ ढाका से V.P. के द्वारा कपड़े रँगने का साबुन मंगवाकर कॉलेज में अपनी सहपाठियों को दुगने दाम में बेचकर उसके लाभांश से किया। 1942 में मैट्रिक पास करके आशुतोष कॉलेज में भर्ती हुईं। जहाँ छात्र फेडरेशन (S.F.) द्वारा परिचालित छात्री संसद के कार्यकर्ताओं से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, जिनमें गीता रायचौधरी (बाद में C.P.I. दल की सांसद गीता मुखर्जी), अलका मजुमदार और सुजाता बसु प्रमुख थीं।

1943 साल में बंगाल के गाँव–गाँव में खाद्याभाव के चलते अकाल जैसी स्थिति देखी गई। लोभी साहूकारों द्वारा अनाजों एवं सभी तरह के खाद्य पदार्थों को खरीद कर गोदाम में रखने के कारण ही यह कृत्रिम अकाल की स्थिति पैदा हुई। अंग्रेजों ने भी उत्तर–पूर्व भारत के रणक्षेत्रों में भेजने के लिए यथेष्ठ मात्रा में खाद्यान्न इकट्ठा किया था। यह भी अकाल का एक प्रमुख कारण था। मेदनीपुर एवं अन्य अभावग्रस्त जिले के क्षुधार्त ग्रामवासी खाद्यान्न की आशा में कलकत्ता में भीड़ किये रहते थे। रास्ते–घाटों में कंकाल चेहरों और 'माँड़ दो' की आर्तध्वनि के साथ लोगों के हुजूम बढ़ते चले जा रहे थे। महाश्वेता को यह आर्तध्वनि इतनी विचलित कर देती कि घर में दाल–भात छोड़कर वे और कुछ भी नहीं खातीं। इसी अस्थिर समय में महाश्वेता 'पीपल्स रिलीफ कमेटी' की सक्रिय सदस्य बन गयीं। इस संगठन के तरफ से उन्होंने ढेर सारे स्वेच्छासेवी कार्य किये। "अलसुबह रेडक्रास के रसोईघर से ड्रम भरकर पतली खिचड़ी खरीदकर हाजरा पार्क में पहुंचना, कंकाल लोगों के झुंड में वितरण करना, छोटे बच्चों को दूध देना। पार्टी के मेडिकल स्कवाड़ों के साथ सहायक के तौर पर उन गरीब–भूखे लोगों के बीच घूमना।" यही

1945 का साल महाश्वेता के जीवन में परावर्तन घटित करता है। उन्हीं के शब्दों में" सम्भवतः यह अकाल का समय एक नये जीवन की शुरुआत थी, जिसके बाद जीवन में कितने ही परिवर्तन । किंतु आज भी 1943 साल के पास मैं अन्तर मन से दायबद्ध हूँ।"

1944 साल से किशोरी महाश्वेता के आचार व्यहार में एक स्वाधीन युवती के लक्षण स्पष्ट नजर आने लगे पीपल्स रिलीफ कमेटी के राहतकार्य से कम्युनिस्ट पार्टी के नारी संगठनों की सक्रिय सदस्य के रूप में वे उभरीं। वे कहती हैं– "यह समय मुझे बहुत प्रभावित करता है। ये पहला अनुभव था कि मैं देखने में कैसी हूँ, कपड़े पहनने का मेरा ढंग कैसा है। लेकिन इन सब बातों को मैंने कभी गंभीरता से नहीं लिया। लड़कियाँ स्वाधीनता के अधिकार में ही अपना सम्मान पा रही थीं। कॉलेज खुलने से पहले हमलोग हाजरा पार्क में लाठी और छुरेबाजी का प्रशिक्षण ले रही थीं। जरूरत पड़ने पर लड़किया को अपने हाथों में लाठी भी उठानी पड़ेगी, यह सोचकर ही हमलोग अंतः प्रेरणा से भर जाते। माँ समझ रही थी कि उनकी लड़की दूसरे की तरह ही बड़ी हो रही है।" 1944 में मनीश घटक की बदली रंगपुर में हो गई। परिवार भी रंगपुर चला आया। वहाँ कम्युनिस्टों के साथ महाश्वेता का मिलना–जुलना और ज्यादा हो गया। रंगपुरा से मनीश की बदली बरहमपुर में हुई, तब महाश्वेता शांतिनिकेतन में अंग्रेजी आनर्स पढ़ने के लिए भर्ती की गई।

1938 से 1944 तक कलकत्ता में रहने का समय काल महाश्वेता के जीवन में स्थायी प्रभाव रखता है, इस समय काल के जीवन, जगत, और समय के सम्बन्ध में एक अपूर्व वर्णन में वे लिखती हैं:– "युद्ध के समय का कलकत्ता एक अन्य तरह का कलकत्ता था, आलोकहीन (युद्ध के कारण निर्देशित); सैन्य टुकड़ियों, टैंकों के लगातार चलने की आवाज, राशन व्यवस्था की गड़बड़ी; खाने–पीने की वस्तुओं की कालाबाजारी; ठेकेदारों और कालाबाजारियों की सहायता से देश को दिवालिया करने की ब्रिटिश सरकार की साजिश; बयालिस की आँधी; रविन्द्रनाथ की मृत्यु; अगस्त विद्रोह; कम्युनिस्ट पार्टी को अवैद्य ठहराना। कुछ लोगों द्वारा तैयार किया गया 1943 का कृत्रिम अकाल रास्ते में पड़े हुए लाश लोरी में उठाते वक्त ठक–ठक की आवाज करते हुए गिरते जैसे लकड़ी की बनी हुई वस्तुएँ, भूखे लोगों का जुलूस, दुर्भिक्ष प्रतिरोध का कार्य, कारखानों की चिमनियों से उठते हुए धुएँ जैसे लगाता था लाशों का पहाड़ जल रहा है, अभी भी नहीं बना था शवदाह गृह और एक कलकत्ता था कृषि जीवी नर–नारी, शिशु सभी को उनके हको से वंचित करके होटलों में उल्लास लम्टपी में मस्त, लाखों–लाखों रुपये कमाने वाले, भूखों के जुलूसों से नारी देहों में थोड़ा–सा मांस रहने से ही उनकी खरीद–बिक्री करने वाले, ब्रिटिश मालिकों की कम्पनी स्वाधीनता आने से पूर्व ही स्वाधीन भारत का नक्शा इस तरह बना रही थी। इसी बहुरूपी कलकत्ते में हम लोग 1938 से 1944 तक थे"।

15.5 विवाह और नये जीवन का सूत्रपात

महाश्वेता अपने पैतृक गाँव नये भरेंगा में अन्तिम बार 1945 में घूमने गईं। उसके दो साल बाद ही उनका विवाह विजन भट्टाचार्य के साथ हो गया। 1948 के मार्च महीने में भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी अवैध घोषित की गई। सांस्कृतिक मोर्चे पर भ्रम की स्थिति के चलते सारा माहौल क्या करें और क्या न करें से हतभ्रमित था। नये सांसारिक जीवन को उत्कंठा ने ग्रस लिया था। इसी साल आततायियों के हाथों गाँधी जी की मृत्यु से विजन और महाश्वेता दोनों व्यथित हुए, सारे देश के लोगों की तरह ही विजन और महाश्वेता की भी मनस्थिति खराब थी। मुहल्ले के लोगों के साथ इस दम्पति ने भी मौन–पदयात्रा में भाग लिया। इसी समय महाश्वेता दक्षिण कलकत्ता के भवानीपुर में स्थित 'पद्मपुकूर इंस्टिट्यूशन' के प्रातः विभाग में शिक्षिका की नौकरी ग्रहण की। उस वक्त महाश्वेता श्यामबाजार के मोहनलाल स्ट्रीट में किराये के मकान में रहती थीं। उस वक्त परिवार की कोई सुनिश्चित आय नहीं थी, स्कूल मास्टरी में वेतन कम रहने के बावजूद वे किसी सम्मानजनक सुनिश्चित आय की तलाश कर रही थीं। उसी समय 1949 में केन्द्रीय सरकार के डेपुटी एकाउंटेंट जनरल, पोस्ट एवं टेलीग्राफ विभाग में अपर डिवीजन क्लर्क की नौकरी में गयी। पारिवारिक वातावरण में कम्युनिस्टों के ऊपर प्रशासनिक अत्याचार कई बार देखने को मिले। यहाँ तक कि 1950 में उन्हें कम्युनिस्ट होने के संदेह में नौकरी से बर्खास्त कर दिया गया। 1951 में श्यामबाजार का घर छोड़ कर वे फिर दक्षिण कलकत्ता के किराये के

मकान में लौट आयी। इसी साल उनके पिता मनीश घटक ने आयकर विभाग के अधिकारी पद से इस्तीफा देकर स्वतंत्र प्रैक्टिस चालू की। महाश्वेता के सझले मामा हितेन चौधरी बम्बई के फिल्म उद्योग से संबद्ध थे। उन्हीं के प्रयास से विजन भट्टाचार्य बम्बई गये, बाद में महाश्वेता भी नवारुण को लेकर बम्बई पहुंचीं। विजन की नियुक्ति 'नागिन' फिल्म के चित्रनाट्य लेखक के रूप में हुई। महाश्वेता ने बड़े मामा सचिन चौधरी की लाइब्रेरी से किताबें पढ़ना शुरू किया। सिपाही विद्रोह पर ढेर सारी किताबें पढ़ते–पढ़ते झाँसी की रानी के जीवन की कहानी ने उन्हें आकृष्ट किया। इधर विजन भट्टाचार्य नागिन के चित्रनाट्य लेखक के तौर पर पाँच हजार रुपये मेहनताना पाकर भी, अपने को फिल्म जगत में निशेष (समाप्त) नहीं करना चाहते थे। इसलिए फिर सपरिवार कलकत्ता लौट आये। कलकत्ता आने के बाद महाश्वेता असित गुप्त के व्यक्तिगत लाइब्रेरी एवं राष्ट्रीय लाइब्रेरी से इतिहास एवं उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय इतिहास से सम्बन्धित ढेर सारे ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन करती रहीं। बहुत ही कम समय में मराठी भाषा सीखी। 'पारासमिस' की लिखी झासी की रानी की प्रामाणिक जीवनी का मराठी से बंगला में अनुवाद किया। 1953 में 'इतिहास कांग्रेस' के अधिवेशन में झाँसी की रानी के भतीजे (चिंतामणि तासे) के साथ साक्षात्कार करके बहुत सारे तथ्यों का संग्रह किया। इसके बाद क्षेत्रों का दौरा किया यानि झाँसी के प्रत्येक अभिज्ञता को ग्रहण करने के लिए झाँसी से ग्वालियर तक की पद यात्रा की। बुंदेलखण्डी भाषा में झाँसी की रानी की वीरता और शौर्य महिमा से सम्बंधित प्रचलित लोकगीतों का संग्रह किया। इस डकैत बहुल क्षेत्र में मोरार नामक स्थान के मेले में एक डकैत के गिरोह में फँसकर अपनी दुस्साहसिकता के कारण ही प्राण दान पाया। 1955 में असीत गुप्त के सहयोग से विख्यात बांगला साप्ताहिक 'देश' पत्रिका में धारावाहिक रूप से 'झाँसी की रानी' आख्यान प्रकाशित होता रहा। 1956 में यह कहानी किताब के रूप में प्रकाशित हुई। पहली ही श्रमसाद्धय' साहित्यिक कृति के लिए महाश्वेता देवी की जोरदार प्रशंसा हुई।

1957 साल में महाश्वेता ने फिर नौकरी पकड़ी 'रमेश मित्र बालिका विद्यालय' में। यहाँ सिर्फ एक वर्ष ही शिक्षिका के रूप में कार्य कर सकीं। 1957 में ही उनका पहला उपन्यास 'नटी' प्रकाशित हुआ। यह प्रकाशित हुआ हुमायूँ कबीर सम्पादित 'चतुरंग' पत्रिका में। 1950 से 1957 तक का महाश्वेता का जीवनकाल आत्मप्रतिष्ठा और संग्राम काल के रूप में विख्यात है। किन्तु आर्थिक अनिश्चयता का बोझ कभी भी महाश्वेता को भयाक्रांत नहीं कर सका। जीवन की आर्थिक विपन्नता को सुख हमेशा ढककर रखता था। वे लिखती हैं:– "अहा! कितने सुख के वे दिन थे। दरिद्रता कुछ भी नहीं और सुख ढ़ेर सारा। रूपये–पैसों की कमी तो सभी को रहती है। कपड़े–लत्ते हम लोग घर में फींचते। इस्त्री भी कर लेते। कोई दुःख, दुःख ही नहीं रहता। क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी के साथ युक्त रहने वाले मनुष्यों की ऐसी ही अवस्था थी। मैं न कम्युनिस्टों का राजनीतिक आधार समझती थी। न मैंने कभी लेनिन, मार्क्स और एन्जल्स को पढ़ा। न तब पढ़ा था, न अब पढ़ा। रहने के नाम पर रोमांटिक आदर्शवाद था। आज विश्वास करती हूँ– उसी के बल पर जीवित हूँ।" आत्मजीवनी में बार–बार विवाह के बाद की आर्थिक विपन्नता मुखर हो उठी है। बाह्यरूप से भाराक्रांत न रहने के बावजूद भीतरी तौर पर महाश्वेता और विजन के दाम्पत्य जीवन को ये परिस्थितियाँ प्रभावित करती थीं। महाश्वेता की जबानी –"1947-1962 तक के जीवन काल में हमने स्वरोजगार से क्या खरीदा था? बहुत कुछ हमलोग नहीं कर पाये थे। वह सब देख के कौन 'अहा' बोलता, ऐसा साहस अपने लोगों में नहीं था। बल्कि श्रद्धा ही थी। विजन के साथ विवाह के बाद पति–पत्नी के रूप में रहने से मन अन्य तरह का रह गया। सभी परिस्थितियों में सर ऊँचा करके रहो, उसी तरह रहती, लगता है आज भी वैसी ही हूँ।" दरिद्रता के बीच आनंद के साथ जीवन यापन और स्वप्निल आशावाद के परिपोषण के साथ ही जीवन जिस तरह प्राणवन्त हो उठा था, निसंदेह ही वह बड़ी उपलब्धि थी। इसीलिए देवर के अनुरोध पर महाश्वेता ने 1952 और 1957 के आम चुनाव में कम्युनिस्ट पार्टी के उम्मीदवार को अपना वोट देने के लिए वोट की लाइन में आयीं।

विजन भट्टाचार्य के साथ विवाह–विच्छेद के लिए कोई स्पष्ट कारण महाश्वेता नहीं बतला पायी। इसलिए लोग विभिन्न तरह की कल्पना के सहारे उनके 1962 के विवाह विच्छेद की घटना का विश्लेषण करते हैं। 27-07-1997 को पश्चिम बंगाल का विख्यात दैनिक 'आनंद बाजार पत्रिका' में एक नामहीन प्रतिवेदन में लिखा जाता है:– 'विशाल परिवार, रुग्ण सास–ससुर, पाँच भाई–तीन बहनों का यह संसार, बारह फुट के तीन कमरों में रहता था। इसी के बीच खाना–पकाना, कपड़े

धोना, बच्चे की देखभाल करना तथा इसी के साथ अतिव्यस्त महाश्वेता को यहाँ–वहाँ नौकरी खोजना।..... पहली बार जब पति का घर त्याग कर महाश्वेता आई, तो लड़के के लिए मन बहुत रोया था। विजन भट्टाचार्य के ऊपर किसी तरह का कोई क्षोभ नहीं था।..... महाश्वेता के लिए वे संकट से विदीर्ण दिन थे। उस सुप्रतिष्ठित परिवार की उस सुकन्या को यह जीवन असहनीय लगा था क्या?" 1953-54 में 'झाँसी की रानी' के लिए इतिहास अध्ययन के दौरान जिस असित गुप्त के साथ घनिष्ठता हुई उन्हीं के साथ महाश्वेता का दूसरा विवाह हुआ। 1963 में प्राइवेट से एम0ए0 पास करने के बाद 1964 में यादवपुर के 'विजयगढ़ ज्योतिषराय कॉलेज'में अंग्रेजी लेक्चरार के पद पर उनकी नियुक्ति हुई। इस पद पर तब वेतन बहुत ही मामूली और अनिश्चित था। 1965 में पलामू घूमने गयी महाश्वेता वहाँ के आदिवासी जीवन के सम्पर्क में आयी। इन लोगों का जीवन, इन लोगों की समस्या उन्हें सोचने को बाध्य करने लगी। सम्भवतः यहीं पर 'जंगल के दावेदार' लिखने का भ्रूण उनके अवचेतन में रोपित हुआ। इस समय तक वे पश्चिम बंगाल के उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के शौकीन साहित्य के पाठक–पाठिकाओं के लिए समाज भावना और बृहद् समाज से कटकर आत्ममुग्ध युवक–युवतियों के रोमांस और प्रेम से भरपूर आख्यान और उपन्यास लिखा करती थीं। इन पुस्तकों का नाम–'मधुरे–मधुर' (1958) "यमुना के तीर (1958)", एईटुकु आशा (1959)', 'तिमिर लगन (1959)', 'तारार आधार (1960)', 'रूपरेखा (1960)', 'बाइस्कोपेर बाक्स (1960)', 'लायलि आसमाने आयना (1961)', 'तीर्थशेसर संध्या (1963)', 'अमृत संचय (1962)', 'दिनेर पाराबारे (1963)', 'विपन्न आयना (1966)', 'बासस्टपे बर्सा (1966)', 'आधार मानिक (1966)', 'इत्यादि। इस द्वितीय पर्व के जीवन में वे लिखने में व्यस्त रहीं। तबतक पश्चिम बंगाल की सामाजिक और राजनैतिक परिस्थिति दोनों ही थोड़ा गदंली हो चुकी थी। राजनीति में अत्यंत विभाजन और विभेद हो चुके थे। वर्ग संघर्ष के दंभ को देखते हुए महाश्वेता भी अपने लिए रास्ता खोज रही थी, जो वे खोज पायी 1969 के अन्तिम समय में। 1964 में आदि कम्युनिष्ट पार्टी सी0पी0आई0 टूटकर सी0पी0आई0(एम0) बनी 1967-69 के समाजिक–राजनैतिक संकट के फलस्वरूप उदित 'नक्सल' पंथ ने महाश्वेता को अपनी तरफ आकृष्ट किया। इस समय पश्चिम बंगाल के आवेश आहत मध्य–वर्गीय परिवार के शिक्षित आत्मजिज्ञासु युवाओं का मानस राजनीति में विभ्रांति उपस्थिति से, उनका यौवन क्षय हो रहा था। महाश्वेता तो स्वयं एक वैसे युवा मानस की जन्मदात्री थी। छोड़ कर चली आई घर में लड़के की उम्र इक्कीस साल हो चुकी थी। इसलिए इस इक्कीस वें यौवन की जयध्वनि को सुनकर, महाश्वेता ने आवेग के वशीभूत होकर अपने को उसमें उत्सर्ग कर दिया। अपनी लेखनी में लाना शुरु कर दी नक्सलवादियों के चैतन्य एवं उनकी निरीक्षा । भारत के हृदयस्पदंन के केन्द्र में था ग्राम, और उसी ग्राम के हतभाग्य, निर्वासित, अवमानित, अवहेलित समाज को साहित्य में लायीं। आदिवासी, डोमे, चंडाल इत्यादि के सम्पर्क में जाकर सहानुभूतिपूर्ण मन लेकर उनकी कहानी को लेखनी में लाकर उनकी आँतों के गह्वर में डुबकी लगाना शुरू कर दिया। अत्यंत प्राणशक्ति से भरकर इस पर्व में वे पुरूलिया बाकुड़ा, मेदनीपुर, बीरभूम से लेकर सिहंभूम, हजारीबाग, रांची तक प्रत्येक ग्राम आदिवासी मनुष्यों से परिचित हुई। उनके बीच जाकर उनके जैसा जीवन–यापन किया। व्यक्तिगत तौर पर उनकी विभिन्न समस्याओं को बृहत्तर समाज के सामने लाने का प्रयत्न किया। इसी बीच दूसरी बार उनका विवाह–विच्छेद 1976 साल में हुआ। अकेला अपना मेस जीवन जीना शुरू किया दक्षिण कलकत्ता के बालिगंज क्षेत्र में। उनके क्षत–विक्षत जीवन में सांत्वना का लेप, भारत के विभिन्न प्रांतों के आदिवासी जनजाति लोगों के बीच आत्मीय होने में ही हुआ है, उनके बीच उनका हो जाने में। पीछले तीस वर्षों से ऐसा ही जीवन वे जी रही हैं। एकमात्र संतान के परिवार में कभी–कभार जाती है। किशोर उम्र में उसको छोड़कर चली आयी ग्लानि से संतान के आवेग आहत अभिमानी–अभिव्यक्ति से क्षत–विक्षत भी होना पड़ता है कभी–कभी। उसी को मन ही मन आलिंगनबद्ध कर लेती हैं और सारे भारतवर्ष को अपना घर बनाके घूमती रहती हैं देश के विभिन्न स्थानों में। वस्तुतः जब वे घर में रहती हैं, तब भी विचरण करती रहती हैं बाहर ही। विभिन्न लोगों के विभिन्न समस्यायों के समाधान को लेकर उत्कंठित कर्म चंचलता में स्वयं को प्रवाहित कर देती हैं:– " I live for today and when I go to sleep I don't worry about tomorrow. When I wake up, any body who calls or comes over, I offer my services. I help, assist, depending on the problem. It can be a protest against social injustice. It can be a school teacher's morcha for pension rights, it can be for the handicapped for a kidnapped daughter heeding police protection. Begining at 6 A.M. the day goes on unplanned till 10 or 11 P.M." ("G" February 1998 P-44 Interview with Bhawana Somaya)

बांगला साहित्य के श्रेष्ठ कवि और समालोचक अध्यापक शंख घोष यथार्थरूप से ही उनके जीवन और सृष्टि को एक साथ संयुक्त करके लिखते हैः– "हम लोगों का भव्य समाज.... इसके घेरे को तोड़ डालने की चाहत ही महाश्वेता दीदी के व्यक्तिगत जीवन और तुलनात्मक जीवन का सबसे बड़ा कार्य हैं। उनकी चरित्रगत अभिन्नता हैं–एक हतमानित अवहेलित जनगोष्ठी के साथ समाज प्रांतिक उपजाति के साथ.... 'सभी चीजों को छोड़कर, वहीं पिछले बहाव में ले जाकर निचले तबके के सहपथिक ही मेरा जीवन है।' साहित्य जगत में ये बातें वही एकमात्र बोल सकती हैं, भद्र समाज की रीति–नीति न मानने वाली, वही एक मात्र बोल सकती हैं कि– 'वर्ण, धर्म, जाति सब कुछ छोड़कर मैं भारत के निपीड़ित, दुःखी, संग्रामी मनुष्यों के साथ हूँ।'..... महाश्वेता दीदी सब समय ही सोचती हैं कि लेखकीय जीवन छोड़कर भी उनका इस शहर से बाहर एक और जीवन है, जो कभी पलामौ, कभी पुरूलिया तो कभी मेदनीपुर में है। उनके लेखकीय जीवन को यह बाह्य जीवन सब समय अपने आगोश में ढके रखता हैं, हमेशा वे लेखकीय जीवन से बाहर बेगारों के पास, खेड़ियों (आदिवासी जाति) के पास और लोधों के पास अपने को खड़ी पाती हैं। या यह भी उनके बारे में बहुत कम बोला गया। वे अधिकतर उनके बीच पायी जाती हैं। अनेक आदिवासी उनके घर को अपना घर मानते हैं और महाश्वेता दीदी भी मानती हैं कि उनके हाथ–पैरों के छुवन मात्र से ही उनका घर अधिकतम प्रसार पा जाता हैं।..... हमारे साहित्य समाज में यही एक विभूति हैं, जिन्हें सच्चे अर्थों में सर्वभारतीय माना जा सकता हैं, जनजीवन के समस्त स्तरों में जिनका संचार हैं। यही एकमात्र विभूति हैं, जिनकी किसी भी क्षेत्र में वंदना की जा सकती हैं– चाहे वे विद्वत समाज का सेमिनार हो या अबोध, निरक्षर लोगों के बीच रास्ते में 'मादल' बाजे के साथ।

15.6 कृतित्व

लेखकीय जीवन के शुरुआती दौर से ही जिनकी समस्त भावनाओं के केन्द्र में था–गणवृत, जो अपने व्यस्त जीवन और पारिवारिक जीवन में निस्संग हो जाने पर अपने जीवन को ज्यादा स्वतः तरीके से गणजीवन के लिए समर्पित कर देगी, यह कोई अस्वाभाविक घटना नहीं हैं। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समाज जब भी उनका सम्मान करेगा, तो जन–गण भी स्वभावतया सम्मानित होगा। क्योंकि उनकी आत्मगरिमा रहित सभी आत्मकृतियाँ उन देशवासियों को समर्पित हैं, जिनका गौरव लूट लिया गया हैं। 1986 में भारत सरकार ने महाश्वेता देवी को 'पद्म श्री' की उपाधि से विभूषित किया :– देश के आदिवासियों के साथ, उनके बीच रहकर, उनके लिए किये गये कार्यों की स्वीकृति के तौर पर। फिर एक दशक बाद 1997 में फिलिपिन्स द्वीपसमूह के मनिला द्वीप से नियंत्रित 'मैगससे' पुरस्कार प्रदान के प्रशस्तिपत्र में भी कहा गया हैः– "Mahashweta Devi was given the award for the compassionate crusade through Art and activisim to claim for tribal people a just and honourable place in Indian national life"

वे स्वयं इस सम्बंध में कहती हैः–

1. "साधारण मानव जीवन और मनुष्य के प्रति शुरू से ही मेरा आग्रह रहा है, शुरू से ही मेरी लेखनी में वे आते रहे हैं।"

2. "बिना इतिहास के कुछ नहीं होता। राजवृंदों का इतिहास नहीं, बल्कि मैं जनसाधारण की दृष्टि से इतिहास को देखने की चेष्टा करती हूँ।

3. "मैं अन्तिम वाक्य तक मनुष्यों के लिए बोलना चाहती हूँ। उन मनुष्यों की बात, जिनके सीने की हड्डी उभरी है, जो दुःखी हैं, मेहनती हैं। बंगाल के गाँव में अभी भी वे मनुष्य रहते हैं, जो खाली देह, सिर्फ एक लंगोटा पहने आज भी अपने कंधे पर हल उठाये खेत जोत रहे हैं, आदिकाल से हमारे सामने यही एक चित्र हैं।... इसलिए मेरे उपन्यासों में बार–बार घूम–फिर कर नाना आकृतियों, जातों और भाषाओं के मनुष्यो की बातें चली आती हैं।"

4. "..... आगे मैं ऐतिहासिक चरित्रों को लेकर लिखती थी, उनका तेज और साहसिकता मुझे 'इम्प्रेस' करता था। आज मैं संग्रामी मनुष्यों की बातें लिखती हूँ, उनके संग्राम को

लिखती हूँ। अड़सठ–उनहत्तर (1968-1969) के बाद की मेरी लेखनी में स्पष्ट रूप से इनका ही समावेश हुआ हैं।"

5. "निपीड़ित मनुष्य, जो शिक्षा–स्वास्थ्य–पीने का पानी या ज़िंदा रहने का कोई न्यूनतम उपकार भी नहीं पा सका, उनके लिए छोटी–छोटी लड़ाइयों–आंदोलनों–सरकारों में मैं विश्वास करती हूँ।..... छोटे–छोटे कार्यों की फल प्राप्ति उनके मध्य विजय की अनुभूति को पहुँचा देती हैं, और इसके लिए मैं लड़ती रहती हूँ। बाहर से बड़ी–बड़ी बातें बोलकर कुछ भी 'कार्य नहीं होता।"

6. "लोधा और खेड़िया (एक आदिवासी जाति) लोगों की अवस्था मुझे, अपने समाज जीवन के 'उस' कैंसर के बारे में चाबुक मारकर सोचने पर बाध्य करती हैं। यह चाबुक दूसरे के विवेक को क्यों नहीं लगता है, इस बात को लेकर सोचने तक (दुःख) का समय मेरे पास नहीं हैं। मेरे इस कार्य में विघ्न न डालना ही अच्छा है, विघ्न डालने से ही मैं लड़ूँगी।"

1978 के एक साक्षात्कार में महाश्वेता देवी कहती हैं:– "अतीत में न झाँककर मैं भविष्य की तरफ बढ़ती रहूँगी। मुझे बढ़ते ही रहना हैं। बार–बार मैं अपने को छोड़ के आगे बढ़ जाती हूँ। मुझे बढ़ना ही हैं।" 1999 में आकस्मिक रूप से अस्वस्थ पड़कर स्मृति शक्ति के क्षतिग्रस्त हो जाने के बावजूद अपने आपको नये रूप में गढ़ना एवं अपने आप को अतिक्रम (व्यक्तिक्रम) करने की विस्मयकारी प्रतिभा सम्पन्न यह लेखिका अभी भी भारत के किसी कोने में मानवता के लांछन से रक्ताभ हो उठती हैं। 'मनुष्यता' शब्द को पूर्णरूप से पराजित होते देखकर अक्षमता की वेदना से नतमस्तक होकर उसके पास जा खड़ी होती हैं। चाहे वह बिहार–झारखण्ड के ग्रामों के ज़मींदार या भूमिपतियों के आक्रोशदग्ध पिछड़े वर्गों के मनुष्यों की दुर्दशा हो या 2002 के धर्मांध और धर्मोन्माद से अबाध हननभूमि गुजरात हो– सभी जगह महाश्वेता देवी के उद्विग्न पदों की छाप स्पष्ट देखी जा सकती हैं।

लिखित उपन्यासों की तालिका:– 'कवि बन्दयघटि गायजीकर जीवन और मृत्यु (1966)', 'मध्यरातेर गान (1967)', 'हजार चौरासी की माँ (1976)', 'दुस्तर (1975)', 'धानेर शियेर शिसिर (1976)', 'अरण्येर अधिकार (जंगल के दावेदार) (1977)', 'मोहन पुरेर रूपकथा (1978)', 'स्वाह (1977)', 'मास्टर साब (1979)', 'सुभागा बसन्त (1980)', 'अकलांत कौरव (1980)', 'अग्निगर्थ (1976)', 'मूर्ति (1979)', 'विवेक विदाय पाला (1983)', 'आश्रय (1985)', 'शालगिरार डाके (1980)', 'श्री श्री गणेश महिमा (1981)', सूरज गागराई (1982)', 'उलसाहा (1982)', 'ग्रामबांगला (1989)', 'स्वेच्छा सैनिक (1984)', 'सनातनी (1984)', 'वर्णमाला (1985)', 'बिश–एक्किश (1986)', 'चोटि मुंडा और उसका तीर (1982)', 'पलातक (1982)', 'शृंखलित (1985)', 'तितूमीर (1986)', 'नीलछवि (1986)', 'सत्य–असत्य (1986)', 'वेसृचनेर सेना (1987)', 'बंदोबस्ती (1989)', 'टेरोडाकटिकल, पुरन सहाय और बिरसा (1987)', 'कुडानि (1989)', 'संवाद (1992)', '375 आई0 पी0 सी0 (1992)', 'ब्याधखण्ड (1993)', 'प्रति चौवन मिनट (1993)', '6 दिसम्बरेर परे (1993)', 'फिरे आसा (1994)', मिलुर जनये (1994)', 'मृत्यु संवाद (1994)', 'सोरानो सिड़ि (1995)', 'म्रु (1995)', 'विनीता मित्र 1995)', 'हाइराईज (1996)', 'जटायु (1996)', 'रेजिष्टर नः 1034 (1996)', 'फलकी भंडार गल्प 1996)', 'वेदनावालार आत्मकथा (1997)', 'रात कहानी (1997)', 'सती (1990)', 'क्षुधा (1992)', अज्ञात परिचय (1989)', 'मार्डरेर माँ (1992)', 'हिरों एकटि ब्लु प्रिंट (1993)', 'संध्यार कुहासा', सुभाग बसन्त', 'घरेफेरा', 'हरिराम महतो', 'धर्मघट और कान्ना', 'तारार आधार', 'बायस्कोपेर ाक्स', 'आधार मानिक'।

5.7 सारांश

विहाश्वेता देवी 1926 में 14 जनवरी को कोलकता में एक अभिजात उच्च वर्ग के परिवार में पैदा हुई। परिवार प्रतिभा धनी था जिसमें कई लेखक, कलाकार, फ़िल्म निर्देशन आदि रहे। विहाश्वेता देवी ने अंग्रेज़ी में आनर्स किया और बाद में कोलकता विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी में एम.ए. किया। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा दीक्षा शांति निकेतन में हुई जहाँ से उन्होंने दायित्व, कर्तव्यबोध, सौन्दर्यबौध आदि मूल्य ग्रहण किए।

उस समय का मध्यवर्गीय समाज संरक्षणशील था और लड़कियों को अधिक स्वतंत्रता नहीं मिलती थी। लेकिन स्वभाव से गतिशील महाश्वेता देवी ने इन बंधनों को नहीं माना। परंपरा तोड़ने की उनकी यह प्रवृत्ति उनके साहित्य में भी दिखाई पड़ती है। किशोरी महाश्वेता देवी में भी स्वाधीन युवती के लक्षण दिखाई देते हैं। उन्होंने उस अवस्था में ही समाज में आसपास गरीबी, शोषण, प्रशासनिक दमन आदि घटनाओं के प्रत्यक्ष दर्शन किए जिससे जीवन को देखने की उनकी दृष्टि में परिवर्तन आया।

1947 में विजन भट्टाचार्य से उनका विवाह हुआ और 1962 में विवाह विच्छेद भी हो गया। इस बीच आपने नौकरी की और अपनी इच्छा से भारतीय इतिहास संबंधी गहरा अध्ययन किया।

1957 में आपका पहला उपन्यास 'नटी' प्रकाशित हुआ। अपने जीवन काल में आपके लगभग 64 उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इन उपन्यासों में प्रारम्भिक उपन्यास छोड़कर शेष उपन्यासों में सामाजिक, राष्ट्रीय राजनीतिक आदि समस्याओं का समावेश हुआ है। इस संदर्भ में वे खुद कहती हैं कि मैं अंतिम वाक्य तक मनुष्यों के लिए बोलना चाहती हूँ, उन मनुष्यों के लिए जिनके सीने की हड्डी उभरी है, जो दुखी हैं, मेहनती हैं।

15.8 प्रश्न

निबंधात्मक

1. महाश्वेता देवी के लेखन को उनके जीवन की किन परिस्थितियों ने प्रभावित किया?

टिप्पणियाँ

1. महाश्वेता देवी की शिक्षा दीक्षा
2. महाश्वेता देवी का कृतित्व और लेखन की दृष्टि ।

इकाई 16 बांगला उपन्यास साहित्य और महाश्वेता देवी

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 बंकिम चंद्र

16.3 रवींद्रनाथ ठाकुर

16.3.1 रक्षणशील धारा

16.4 शरच्चंद्र

16.5 बांगला उपन्यासों का स्वर्ण युग

16.6 जनजातीय जीवन पर आधारित दो उपन्यास

16.6.1 पलामौ

16.6.2 आरण्यक

16.7 सारांश

16.8 प्रश्न

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में महाश्वेता देवी के पूर्व के बांगला उपन्यास साहित्य की चर्चा है, जिसके परिप्रेक्ष्य में आप महादेवी के लेखन की विशेषताओं को जान सकें। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- बंकिंग चंद्र, रवींद्रनाथ ठाकुर और शरतचंद्र के उपन्यासों की कथा वस्तु का वर्णन कर सकेंगे;
- बांगला साहित्य के स्वर्ण युग के तीन मूर्घन्य उपन्यासकार बंदोपाध्याय त्रय के लेखन की समीक्षा कर सकेंगे;
- महाश्वेता देवी के पूर्व के बांगला उपन्यास की विशिष्टताओं की चर्चा कर सकेंगे;
- जनजाति जीवन पर लिखित दो पूर्व उपन्यास 'पलामौ' और 'आरण्यक' की व्याख्या कर सकेंगे; और
- इस परिप्रेक्ष्य में महाश्वेता देवी के लेखन की समालोचना कर सकेंगे।

16.1 प्रस्तावना

महाश्वेता देवी के पूर्व के उपन्यासों की चारित्रिक विशिष्टताएं :

पूरे विश्व मे 'उपन्यास' नामक शिल्प माध्यम का जन्म धनतांत्रिक समाज या शिल्प सभ्यताओं के उन्मेष के प्रभाव से हुआ है। सभी देशों, सभी भाषाओं के उपन्यासों में यह बात लागू होती है। विश्व सभ्यताओं के उन्मेष मात्र से ही सामंततांत्रिक कृषि पर आधारित्र ग्राम व्यवस्था को धुन लगने लगा। कहीं पूँजीवादी शक्ति है तो उसके मूल जीवन की लग्नता में कुछ क्षयक्षति हो जाती है। स्पेन के गृहयुद्ध में भाग लेनेवाला ब्रिटेन का उदीयमान शिक्षित तरुण युवा "राय्लफ फक्स" युद्ध क्षेत्र से अवसर उपन्यास तत्वों पर – 'Novel and the people' नामक पुस्तक लिख

गया। परवर्ती समय में यह पुस्तक उपन्यास जिज्ञासुओं के लिए मील का पत्थर साबित हुई। इस पुस्तक के 5 वें अध्याय "Novel as Epic" नामक प्रबन्ध में रायलफ फक्स लिखते हैं–

"The novel is the most important gift of bourgeois or capitalist civilization to the worlds imaginative culture. The novel in its great adventure its discovery of men" इसी पुस्तक के चौथे अध्याय के 'The novel and reality' नामक प्रबंध में वे फिर लिखते हैं– "The novel deals with the individual, it is the epic of the struggle of the individual against society, against nature and it could only develop in a society where the balance between man and society was lost, where man was at war with his fellows or with nature. Such a society is a capitalist society."

उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध से ही बांगलादेश के भद्र समाज में कलकत्तावासी होने की प्रवणता बढ़ रही थी, क्योंकि बहुत समय पहले से ही कलकत्ता बांगलादेश के हृदय केन्द्र के रूप में परिणत हो चुका था। कृषि जीवन और कृषि पर आधारित समाज को छोड़कर कलकत्ता और उसके आस–पास आकर बसने वाले लोगों को सामाजिक परिभाषा में 'मध्यमवर्ग' कहा जाता है। कृषि या शिल्प–उद्योग के क्रियाशील प्रतिक्रिया से हटना या धीरे–धीरे संबंध टूटना इनके चरित्र की प्रधान विशेषता होती है। समाज परिवर्तन के रास्ते से होकर ही ये मध्यमवर्ग शहर या नगर में पहुँचे। इनके बचे रहने की प्रथा पद्धति में जो टूट–फूट हुई, उसके फलस्वरूप इनके जीवन में एक नयी प्रणाली का समावेश हुआ–वही घर–गृहस्थी, रास्ता–घाट, आढ़त–गोदाम, कर्मक्षेत्र, यंत्र–कारखानों के रहने के बावजूद इनके मध्य से एक नयी किस्म के मनुष्यों का निर्माण हुआ। नयी किस्म के मनुष्य ही नये परिवेश में अत्यधिक मात्रा में विकसित हो उठे। उनके जीवन व्यवहार की वस्तु और उनके आचार व्यवहार भी नये हो उठे। इनके नये विश्वास और मूल्यबोध के लिए ही नित नये–नये मनोरंजन के माध्यमों की जरूरत पड़ी। उसी के एक नये माध्यम के रूप में साहित्य उभरकर सामने आया। उसी नये युग के मनुष्य के चाहे ना चाह भावनाओं को व्यक्त करने के रूप में ही, नये गद्य, 'उपन्यास' का जन्म हुआ।

कलकत्ता को केन्द्र में करके बांगलाभाषी मनुष्यों को नगर–जीवन में घनीभूत (Accumulation) होने के कुछ दिनों बाद ही बांगला उपन्यासों की शुरूआत हुई। 1865 में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय द्वारा रचित 'दुर्गेशनन्दिनी' को बांगला के साथ–साथ भारत का प्रथम मौलिक उपन्यास माना जाता है। तो क्या यह कहानी दूर ग्राम में रहने वाले बांगलापाठकों के श्वास–प्रश्वास से एकदम अलग थी ? वे क्या एक नयी जाति थे? नहीं ! ये पाठक भी बंगाली थे। गाँव में रहने वाले बंगालियों का चरित्र धर्म भी उनमें अत्यधिक मात्रा में था। बांगलादेश के साथ कलकत्ता के भद्र समाज का मात्रागत विवर्तन इसके मूल में था। समालोचक नरेन्द्रनाथ देव अपने 'बांगला उपन्यासे आधुनिक पर्याय' ग्रंथ (बुकलैंड प्राइवेट लि० 1964) में लिखते हैं– "कलकत्ता में रहने वाले बंगालियों का सम्पर्क ग्राम से मूल रूप से कभी नष्ट नहीं हुआ था। पूर्व समय में कलकत्ता में रहकर जिन लोगों ने पैसा कमाया था, उनमें से अत्यधिक लोगों ने परवर्ती समय में उसी पैसे से ग्राम में भू–सम्पत्ति भी खरीदी। क्रमागत ग्राम से उनका सम्बन्ध क्षीण हो जाने के बावजूद भी एकदम खत्म नहीं हो पाया था। कलकत्ता की संस्कृति की इस विशिष्टता को ध्यान में रखने की जरूरत है, क्योंकि आधुनिक उपन्यासों में इस घटना का महत्व कम नहीं है। सुधीन्द्रनाथ दत्त कहते हैं:– "Calcutta's secret charm must, however escape the impatient, and only an ameteur of history will really love it. For nowhere else in the modern world has a new culture emerged from the deliberate intermingling of two older ones the peripheral culture of rural Bengal and the cosmopolitian culture of English whiggery" (The world's cities : Calcutta, Encounter, June-1957, P-44)

आधुनिक बांगला उपन्यासों में इस तरह की दोनों धाराएँ प्रवाहित हैं। एक धारा में शिक्षित, नौकरीपेशा, मध्यमवर्गीय श्रेणी अर्थात् बंगाल में बुद्धिजीवी सम्प्रदायों की कहानी अर्थात जिनका जीवन पाश्चात्य प्रभावों से प्रमाणित था, दूसरी तरफ बृहत्तर जनसाधारण और ग्रामीण समाज। एक तरफ विशुद्ध नगर जीवन का चित्र–दूसरी तरफ विभूतिभूषण का प्राकृतिक दृश्य, यशोहर का ग्राम, ताराशंकर का वीरभूम, मानिक बंदोपाध्याय का पद्मा नदी के किनारे मल्लाहों की बस्ती या अचिन्त्य सेनगुप्त का पूर्वी बंगाल और उसके अंश।

16.2 बंकिम चंद्र

उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू में कलकत्ता महानगरी जिस रफ्तार से मध्यमयुग के ग्रामों के जीवन विन्यास को तोड़ते–मरोड़ते आधुनिक 'मेट्रोपालिस' (Metropolis) का चरित्र ग्रहण करने के लिए तत्पर हो रही थी, उसी रफ्तार से धार्मिक आंदोलन, सामाजिक संस्कार साधन, नयी शिक्षा व्यवस्था का प्रचार–प्रसार और सर्वोपरि संवादिकता के जोरदार पदार्पण के चलते बंगाली भद्रलोकों तथा मध्यमवर्गीय लोगों की श्रेणी तेजी से बलिष्ठता हासिल कर रही थी। सामाजिक रूपांतरण के सम्मुख बंगाली समाज का एक अंश तब 'बाबू' की पदवी पाने के लिए व्यस्त था, तो दूसरा अंश 'भद्रलोक' होने के लिए। प्रथम अंश हठात् अमीर, सुविधाभोगी लोगों की श्रेणी थी। 'बाबू' पदवी लेने के बावजूद जो हठात् धनी हुए बाबू लोगों के समस्त स्वविरोध को समझ चुके थे, वे प्रयास कर रहे थे इससे मुक्त होने का, वे ही भद्रलोक थे। अर्थात् 'बाबू' एक समय–सापेक्ष जीवन जीने का दृष्टिकोण था और 'भद्रलोक' इसी जीवन से अभिभूत, आत्मसचेत, जीवनबोध और अन्तरदृष्टि सम्पन्न सत्याभिप्रार्थी व्यक्ति थे। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि– 'बाबूलोग' उन्नीसवीं और बीसवीं के प्रथम दो दशकों के बांगला उपन्यासों के नायक या केन्द्रीय चरित्र थे और 'भद्रलोग' के बीच से ही बांगला उपन्यासों के लेखकों का उदय हुआ था।

'भद्रलोक' कलकत्ता को केन्द्र करके, कलकत्ता की शिक्षा और आचरण–व्यवहार को कमोबेश अपने निजी जीवन का मूर्त रूप देकर, एक ऐसे जीवन बोध को मर्यादित किया, जो इसके पहले पाठकों के लिए अज्ञात था। इस नये जीवन धारा के निरीक्षक (बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, तारकनाथ गंगोपाध्याय, भूदेव मुखोपध्याय) कलकत्ता के नवीन जीवन की चंचलता और पेशे से आकर्षित होकर इस नये नगर के नये गतिवेग को पकड़ सके। कुछ नया जानने की जिज्ञासा के वशीभूत होकर इन्होंने नये–नये माध्यमों की सृष्टि की। इस शताब्दी के महत्वपूर्ण शिल्प माध्यम उपन्यास का जन्म भी कलकत्ता में परिवर्तन के इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप मधुसूदन का महाकाव्य ('मेघनादवध') और विद्यासागर के गद्य ('सीतार बनवास', 'शकुंतला', 'बेताल पचीसी') के पीछे–पीछे आया।

मननशील और यथार्थपरक दृष्टिकोण से जीवन समीक्षा का प्रयास– पाश्चात्य जीवन दर्शन के आघात से बंगाली के 'प्राचीन' समाज का अधोपतन (विपर्यय), दो विपरीत जीवनबोधों की असंगतिजनित समस्या को कहानी या चरित्रों के माध्यम से पकड़ने की कोशिश के बीच (इस तरह की कोशिश बंकिमचन्द्र के पहले सार्थक उपन्यास 'दुर्गेशनंदिनी' के एक दशक पहले प्यारीचांद मित्र 'अलालेर घरेर दुलाल', भवानीचरण बंदोपाध्याय 'नवबाबू विलास' और कालिप्रसन्न सिंह 'हुतोम प्याचेर नक्शा' लिखकर किया था।) निश्चित रूप से वास्तविक उपन्यासों की पदध्वनि को इनमें सुना जा सकता है। किन्तु इस एक ही तरह के विद्रूप चित्रण और नीति उपदेशात्मक कहानियों में उपन्यासों की पूर्णतया नहीं थी। गद्य में वर्णित किसी निर्दिष्ट देश–काल के नायक–नायिकाओं के आचार–व्यवहार का वर्णन ही सिर्फ उपन्यास नहीं होता। इनमें युग और जीवन को रूपांतरित करना पड़ता है, जीवन के मूल उद्देश्य के रहस्यों के अनुसंधान को अंगीभूत होना चाहिए। उपन्यासकारों का दायित्व होता है–उस प्रवाहित जीवनधारा में अपने आप को एकाकर करके उससे अर्जन करना। बंकिम के 'दुर्गेशनंदिनी' में सर्वप्रथम यह विशिष्टता लक्षित होती है। उपन्यास एवं समाज के घनिष्ठ संबंधों के प्रति वे दृढ़रूप से आस्थावान थे। 'बंगदर्शन' पत्रिका में (बंकिम ही इसके सम्पादक थे। इसी में धारावाहिक रूप से उनके विख्यात उपन्यास 'कृष्णकांत का वसीयतनामा', विषवृक्ष', 'राजसिंह' इत्यादि प्रकाशित हुए।) बंकिमचंद्र अपने 'कृष्णकांत का वसीयतनामा' (1878) नामक उपन्यास के संबंध में लिखते हैं– "काव्यग्रंथ मनुष्य जीवन के सभी प्रकार की कठिन समस्याओं का सिर्फ व्याख्या मात्र हैं। इन बातों को जो न समझे और इन बातों को भूलकर केवल कहानी के वशीभूत होकर उपन्यास पढ़ने में लगे हों, वे इन उपन्यासों को न पढ़ेंगे, तो मैं बहुत ही कृतज्ञ होऊंगा !"

प्रथम श्रेणी के उपन्यासकारों की तरह ही बंकिमचन्द्र का भी लक्ष्य था नर–नारी के जीवन रहस्यों का विश्लेषण। नर–नारी के सामाजिक जीवन को आधार बनाकर ही बंकिमचंद्र के कलम से पहला बांगला सामाजिक उपन्यास 'विपक्ष' (1873), निकला। उनके लिखित उपन्यास हैं – 'दुर्गेशनंदिनी (1865), 'कपालकुण्डला' (1866), 'मृणालिनी' (1869), 'इंन्दिरा' (1873), 'विषवृक्ष'

(1873), 'युगलांगुरिय' (1874), 'चन्द्रशेखर' (1875), 'रजनी' (1877), 'कृष्णकांत का वसीयतनाम, (कृष्णकांतेर ऊईल) (1878), 'राजसिंह' (1882), 'आनंदमठ' (1882), 'देवी चौधुरानी' (1884), 'राधारानी' (1886), 'सीताराम' (1887)। इन उपन्यासों में निम्नलिखित विशेषतायें पायी जाती हैं :–

1) कहानियाँ मुख्यतर पारिवारिक होती हैं। सामंत, ज़मींदार शासित, कृषिनिर्भर बंगाल के सम्पन्न और ऐश्वर्यपूर्ण परिवारों की कहानियों के प्रति ही उनका रुझान रहा है।

2) प्रधान नायक–नायिकाओं को जीविका की कोई चिंता नहीं थी। आलसी, अनार्जित (बिना श्रम और परिश्रम या प्रयास का अर्जित धन) आयभोगी ज़मींदारों का घरेलू जीवन ही बंकिम के उपन्यासों में विचित्र है।

3) अधिकतर नायक–नायिकाएँ ब्राह्मण या कायस्थ कुल के उच्चवर्ग, सुविधा–सम्पन्न और भद्र परिवारों के होते थे।

4) धनी और आत्मसुखभोगी नायक–नायिकाओं के चरित्र होने के बावजूद उनके अन्दर 'जीवन जिज्ञासा' की गहरी ललक होती है। इसलिए जन्मगत परिचय को अतिक्रमण कर ये नायक–नायिका बहुत आगे बढ़ जाते थे। बंकिम ने इनके अंदर जीवन जिज्ञासा, आत्म जिज्ञासा और प्रतिभा के आभिजात्य का बहुत ही सुंदर संचार किया है।

5) बंकिम के उपन्यासों के नायक प्रवृतियों के शिकार (Sexual attraction) होते हैं, किंतु उनके अंदर हमेशा सद्बुद्धि और कल्याण बुद्धि सुषुप्तावस्था में रहती है। वे अक्सर भोगी हैं, किंतु निम्नस्तरीय नहीं। इसलिये उनके जीवन में मार्मिक दुखः और विषाद का प्रवाह रहने के बावजूद वे पाठकों की सहानुभूति पाने में सफल हो जाते है।

6) पौरुषहीन पराधीन देश के बंगाली समाज के उच्चवर्ग और मध्यवर्ग के आत्मउद्धार के लिए बंकिम उनके ऊपर नीति धर्म लादना चाहे थे, किंतु समाज मे वैसी 'पौरुष चर्चा' न रहने के चलते धर्माश्रित पौरुषचर्चा (आनंदमठ) धार्मिक ललकार में तब्दील हो गई।

7) बंकिम के उपन्यासों में बांगलादेश में धर्म–संस्कार की युगपवर्तक नैतिक धारा (ब्रह्मसमाज संस्कार, हिंदू पुनरुद्धार जीवन) का प्रचार विशिष्टतापूर्वक देखा जा सकता है।

8) बंकिम की नायिकाएँ रूपवती, दृष्टि मुग्धकारिणी हैं। किंतु उनमें में से प्रत्येक के जीवन में व्यर्थता, वंचना और ग्लानिबोध भरा पड़ा है। उस समय बंगाली समाज में नारियों का मूल स्वभाव ही था शांतभाव से चित्तदहन सहन करना और चुपचाप आत्मत्याग करना। इसी की प्रतीक उनकी आयशा, कपालकुण्डला, मतिविवि, भ्रमर, जैबुनिसा, सूर्यमुखी, शैवलिनी, इन्दिरा, लवंगलतिका प्रभूति नायिकाएँ हैं।

9) बंकिम ने अपने उपन्यासों में मध्ययुग के बांगला साहित्य से प्रभावित स्त्री–पुरुष की तीव्र प्रेमाकांक्षा के साथ आधुनिक अंग्रेजी साहित्य की रोमांटिक प्रेम भावना का बहुत ही सुंदर वर्णन किया है।

10) बंकिम के उपन्यासों में आये सभी जीवन आख्यान वर्णनामूलक और घटनाप्रधान हैं। चरित्रों के आत्मविश्लेषण का कोई प्रयोजन ही लेखक ने अनुभव नहीं किया है।

अध्यापक गोपाल हालदार लिखते हैं :–"बंकिम के श्रेष्ठ उपन्यासों में सृष्टि सम्पूर्णतया विद्यमान है.....बाहरी घटनाओं का जादू, घटनाओं की अद्भुत्तता, आकस्मिकता, अकल्पनीयता इत्यादि सार्थक रोमांटिक के प्रधान गुण हैं, जो निश्चय ही आकर्षित करते हैं। किंतु इसके साथ ही चरित्र, वर्णन, सम्भाषण और संवाद को भी अनुभव करना पड़ता है, इन सभी को मिला–जुलाकर ही बंकिम के उपन्यास आकर्षणीय बन पड़े हैं। घटनाओं की उद्भावना के अजस्र स्रोत, सूक्ष्म विन्यास, प्रायः नाट्यधर्मा प्रयोग, प्रत्यक्षता, चमत्कारिकता ये सारे गुण शुरू से ही बंकिम के उपन्यासों में प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ते थे। ... रोमांटिक कल्पना रहने के बावजूद उसके क्रिया–प्रतिक्रिया सुविन्यस्त शिल्प के दृष्टिकोण से क्लासिक, सुगठित, सु–समता, चरित्रों के विकास में बहुत सहायक थे। इन सब के द्वारा ही बंकिम रोमांटिक प्रेरणा परिचालित थी। रोमांटिकता और क्लासिकता (क्लासिक –

संयम, संहति, शृंखला, न्याय–परम्परा) के शिल्पगत द्वांद्विक मिलन के फलस्वरूप ही बंकिम के उपन्यासों ने सफलता की सीढ़ियाँ चढ़ी हैं।"

बंकिमचंद्र के उत्तराधिकारी

बांगला उपन्यासों की आधारभूमि बंकिमचंद्र के हाथों तैयार हो जाने के बाद और रवींद्रनाथ का 'चोखेर बाली' (1902) के प्रकाशित होने के पूर्व बांगला उपन्यासकारों के किसी भी उपन्यास में, उपन्यासकार बंकिमचंद्र के उत्तराधिकार को पूर्ण रूप से वहन करने की क्षमता नहीं दिखलाई पड़ती है। उनके समसायिक और परवर्तीकाल के लेखकों ने उन्नीस शताब्दी के अंतिम दशक तक मौलिक और अनुवाद मिश्रित कहानी, उपन्यास, एडवेंचर कहानी इत्यादि अत्यधिक मात्रा में लिखा। विशेषकर 'दुर्गेशनंदिनी' का अनुसरण करके उस समय उत्तर कलकत्ता के बटतल्ला के छापेखानों से ढेर सारे उपन्यास छपकर बाजार में आये। जो इतिहास के नियमानुसार विलुप्त हो गये। उनमें से कुछ उपन्यासों का नाम सुना जाता है, वे सर्वत्र दुहराव के शिकार हैं। जैसे प्रतापचंद घोष की 'बंगाधिप–पराजय' (1869), 'रणचंडी' (1876), तारकनाथ गंगोपाध्याय का 'स्वर्णलता' (1874), रमेशचन्द्र दत्त का 'राजपूत जीवनसंचया' (1889), 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' (1878), ललित मोहन घोष का 'अचलवासिनी' (1875), नगेन्द्रनाथ गुप्त का 'लीला' (1892), श्रीशचन्द्र मजुमदार का 'फूलजानि' (1894), शिवनाथ शास्त्री का 'युगांतर' (1895) इन सभी की कहानियां इतिहास के दुहराव की शिकार हैं, किसी में बंगाली ग्राम जीवन की एकरसता तो किसी में मध्यमवर्गीय बंगालियों के घर–संसार का सरल और शांतिपूर्ण जीवनयापन। यहाँ तक कि युवक रवींद्रनाथ भी बंकिम के प्रभाव में आकर दो ऐतिहासिक रोमांस लिख डाले, 1882 में 'बऊ ठाकुरानीर हाट' और 1886 में 'राजर्षि'।

16.3 रवीन्द्रनाथ ठाकुर

उन्नीसवीं शताब्दी में बंकिमचन्द्र और उनके अनुगामी उपन्यासकारों की रचनाओं में व्यक्तिचेतना और मानवीयता द्विधामुक्त नहीं हो सकी। उपन्यासों में इस नयी आधुनिकता की शुरुआत बीसवीं शताब्दी के लिखे हुए उपन्यास 'चोखेर वाली' से देखी जा सकती है। 1905 में प्रकाशित 'चोखेर वाली' बांगला उपन्यास में बंकिमचंद्र के धारा का अवसान और रवीन्द्रनाथ एक नये पथ का अनुसंधान था। उपन्यासकार बंकिमचन्द्र से उपन्यासिक विशिष्टता को आत्मस्थ करना ही उपन्यासकार रवीन्द्रनाथ की सिद्धि थी। 'विषवृक्ष' और 'कृष्णकांतेर 'बिल' से रसरूप आत्मस्थ करके ही रवीन्द्रनाथ बांगला उपन्यास को नये आधुनिकता के रास्ते पर ले आये। उनके प्रथम उपन्यास (चोखेर वाली) में आख्यान, कहानी और घटना प्रधानता को छोड़कर चरित्र प्रधान हो उठे। बंकिम के 'विषवृक्ष' के सबंध में रवीन्द्रनाथ ने कहा था, "विषवृक्ष में कहानी आख्यान के पास आकर पहुँची। जो परिचय लेकर यह आयी वह हमारी अभिज्ञता (अनुभूति) में है।"

'चोखेर वाली' लिखते समय इसके द्वारा रवीन्द्रनाथ जिस नयी आधुनिकता की शुरुआत करते हैं, उसके सबंध में वे कितने गंभीर और आत्मविश्वासी थे, इसको उनके उपन्यास की भूमिका से ही समझा जा सकता है। इस भूमिका से दो अंश उद्धृत किये जा रहे हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक समझ सकेंगे कि रवीन्द्रनाथ, बंकिमचंद्र के उपन्यास की धारा से अलग एक नये स्वप्रवर्तित वास्तवधर्मी धारा के सम्बंध में कितने सचेतन थे :–

1) "हमें तय करना पड़ा, अब सारी कहानियाँ वर्तमान समय के कारखानों में निर्मित करनी पड़ेंगी। शैतान के हाथों में विपक्ष की खेती तब भी होती थी, अब भी होती है, किन्तु अब उसका क्षेत्र अलग है, अंततः कहानियों के बीच से ही।"

2) "साहित्य में आधुनिकता का मतलब घटनाओं और चरित्रों का विवरण देना नहीं है, बल्कि उनकी आँतों के अंदर की बात को बाहर लाना है। यह पद्धति 'चोखेर बाली' में दिखलाई पड़ता है।"

बांगला साहित्य में रवीन्द्रनाथ को तीन विषयों में नवीनता लाने का श्रेय दिया जाता है:– (1) दृष्टिभंगिमा (2) विश्लेषण पद्धति और (3) परिपूर्ण वर्णन पद्धति।

रवीन्द्रनाथ द्वारा रचित उपन्यास हैं :– 'बऊ ठाकुरानीर हाट' (1882), 'राजर्षि' (1886), 'चोखेर बाली' (1902), 'नौकाडुबी (1906), 'गोरा' (1909), 'चतुरंग (1915-1916), 'घरे–बाईरे' (1916), 'योगायोग' (1920), 'चार अध्याय' (1934), 'मालंच' (1933), 'दुई बोन' (1932) रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों की जो विशिष्टताएँ हैं, वे इस तरह है :–

i) व्यक्ति के हृदयावेगों और प्रवृत्तियों के ऊपर सामाजिक नीतिबोध और शासन व्यवस्था को गौण कर देना।

ii) कहानी रस का ह्रास।

iii) मनोवैज्ञानिक विश्लेषण।

iv) व्यक्ति या चरित्रों की स्वाधीन गतिविधियों की निरीक्षा–परीक्षा। परिचित बंगाली समाज के साथ चरित्रों का अविच्छिन्न सम्बंध नहीं था। देश–काल का सामाजिक मूल्यबोध इन्हें स्पर्श तक नहीं कर पाता था। इसका व्यक्ति परिचय ही मुख्य था। ये सिर्फ 'बंगाली नहीं 'सार्वभौम मनुष्य' थे।

v) बाह्य आचार व्यवहार एवं अंतःचेतना के मूल में मुख्य चरित्र असामान्य थे। चारों तरफ फैले बंगाली नर–नारियों के चरित्र से एकदम भिन्न।

vi) मुख्य चरित्रों के मनोभावों में असमान्यता आत्मसचेतना और मननधर्मी आत्मसमीक्षा का ही भाव था।

vii) व्यक्ति के साथ व्यक्ति (मित्र, संतान, पति–पत्नी, गुरु–शिष्य, देवर–भाभी, सास–बहू, पिता–माता, पालक–पालित संतान, प्रेममुग्ध युवक–युवती, जीजा–शाली) के गूढ़ सम्पर्क का अन्वेषण उनके उपन्यासों को विशिष्टता प्रदान करता है।

viii) आख्यान बुनने में हृदय रहस्य की प्रधानता।

ix) कहानीवृत्त की भौगोलिक सीमा का विस्तार। बंकिम विवाहित पुरुष के साथ विधवा स्त्री के सम्पर्क की अन्तिम परिणति में जहाँ विधवा को गोली की हत्या का वर्णन देते हैं। (कृष्णकांतेर उइल में रोहिणी), वहाँ रवीन्द्रनाथ एक ही समस्या में विनोदिनी को (चोखेर बाली) काशी में निर्वासन देते हैं। बंगाल के बाहर भी बंगालियों के आवागमन के बढ़ जाने के कारण ही ऐसी परिणति को रवीन्द्रनाथ दिखला पाये।

x) बंकिम के उपन्यासों के अधिकतर चरित्र श्रेणीयुक्त अभिजातय वर्ग से संबंधित थे, जबकि रवीन्द्रनाथ के चरित्र प्रायः नगरवासी अभिजातय और उच्च शिक्षित वर्ग में सम्बंधित थे।

उपन्यासकार रवीन्द्रनाथ को नये आधुनिकता के प्रर्वतक के रूप में मूल्यांकन करते वक्त, बांगला भाषा के बड़े स्तर के उपन्यास समालोचक श्रीकुमार बंदोपाध्याय अपने ग्रंथ 'बंगसाहित्ये उपन्यासेर धारा' में लिखते हैं :– "बंकिमचन्द्र के बाद वास्तव में उपन्यासों में जो गंभीरतम परिवर्तन हुए है, उनकी पहली सूचना रवीन्द्रनाथ में ही मिलती है। रवीन्द्रनाथ अपने पूर्वानुमान ज्ञान के उपन्यासों की बंकिम परवर्तित उपन्यासों के ध्वंशोनमुखी धारा को समझकर बांगला उपन्यासों को रोमांस और इतिहास की बालुकाभित्ति से उतारकर उन्हें वास्तविक जीवन की भूमि पर प्रतिष्ठित किया और उसे असाधारण के अनुसंधान पथ से वापस लौटाकर साधारण मनुष्य के सुस्त और रसपूर्ण जीवन के विश्लेषण में लगाया। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में जो रोमांस हैं वे सब सम्पूर्णतया अन्तरमुखी हैं, बाह्य व्यवहार के निकट वे सम्पूर्ण अग्रणी हैं। यहाँ पर उपन्यास, साहित्य के इतिहास का अनुसरण त्याग करके, एक नये पथ पर बढ़ता है। क्षुद्र और साधारण सी साधारण घटनाओं का विस्तृत विश्लेषण ही इसका प्रधान गुण था। अन्दर के प्रवृत्ति समूहों के खूब परिवर्तन और द्वंद्वात्मक वर्णन ही इनका मुख्य आकर्षण था।.....इसलिए इस वास्तविकता के प्रवर्तन से ही रवीन्द्रनाथ की मौलिकता का प्रथम परिचय मिलता है।"

16.3.1 रवीन्द्रनाथ की समसमायिक रक्षणशील धारा

1905 में लार्ड कर्जन द्वारा बंगाल को तीन खण्डों में विभक्त करने से पूर्व तक बंगाली समाज स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों अर्थों में ही '19 वीं शताब्दी के सहज सरल और अखण्ड आस्थसिद्ध जीवनबोध' के अभ्यस्त थे। साहित्य के क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ के समानांतर उनकी प्रतिभा जीवनदृष्टि एवं सृजनक्षमता के भग्नांश न लेकर बाह्य तेज और ललकार प्रदर्शक विद्रुप एवं व्यंगप्रवणता लेकर विभिन्न प्रकार की साहित्यिक पत्रिकाओं और रचना द्वारा 'सनातन' पथ की ध्वजा को दीर्घदिन तक गाड़े रखने की चेष्टा की थी विपिनचंद्र पाल, सुरेशचन्द्र समाजपति, चितरंजन दास, सजनीकांत दास, द्विजेन्द्रलाल राय आदि ने। 1914 के पूर्ववर्ती समय तक रवीन्द्रनाथ के तत्वप्रधान उपन्यास साधारण लोगों के अनुकरणीय विभिन्न तरह के लेखकों की प्रेम कहानियों में मजे पड़े थे। इसी के साथ था– 1905 के बाद दिशाहीन उग्र जातीयता की चर्चा और उसका अनुशीलन। इस समय के बंगाल तथा बंगाली जीवन का सुन्दर परिचय पाया जाता है। सजनीकांत दास के लिखे 'आत्मश्रुति' ग्रंथ में, "स्वदेशी स्वदेश धर्ममूलक प्रबंध पुस्तकावली, बंकिमचंद्र का आनंदमठ, स्वामी विवेकानन्द की रचनायें, सम्भाषण, पत्रावली एवं योगेन्द्रनाथ विद्याभूषण रचित मैजिनी, गैरिबाल्डी का जीवनेतिहास, यज्ञेश्वर बंदोपाध्याय कृतं 'टडेर राजस्थानेर' बंगलानुवाद, अश्विनी कुमार दत्त का भक्तियोग, इत्यादि ने बंगलादेश के तत्कालीन युवसम्प्रदाय को थोड़ा आत्मस्थ एवं आत्मनिर्भरशील बना दिया था। वे निष्ठापूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करके कितना चरित्रबल अर्जन कर पाये थे.....इसके बाद विश्वयुद्ध एवं विश्वप्रेम के धक्के से बंगाली समाज के पैरों के नीचे से धरती के हट जाने से उन्हें कितना परमुखापेक्षी और उच्छृंखल बना दिया था, समसामयिक बांग्ला साहित्य में इसका परिचय मिलेगा। बहुत शताब्दियों से भारतीयों की एकाग्रता और उन्नीसवीं शताब्दी के महान साधकों और उनकी कठोर साधना के बल पर निर्मित भारतीय बंगाली समाज की नींव आकस्मिक विश्व संकट से हिल गया और विदेश से उड़ के आयी आंधी के एक ही झोंके में काटों के उच्च डाल के ऊपर बंगाली समाज आंदोलित होने लगा।"

अभी बांगला साहित्य–संस्कृति के आग्रही और जागरूक पाठक जानते हैं कि उस समय के लेखक सजनीकांत पूर्वाग्रह से ग्रसित रक्षणशील और प्राचीनपंथी थे। समाज में प्राचीनपंथियों का प्रभाव बने रहने से ही तो प्राचीनता बनी रहेगी। इसलिए देखा जाता है कि रवीन्द्रनाथ जितनी भी आधुनिकता की बात कर लें फिर भी बंगाली समाज में प्राचीनता बनी रही। जिसके फलस्वरूप बंगाली समाज किस अवस्था में पहुंचा था, इसका बहुत ही सुन्दर वर्णन मिलता है, अध्यापक दिलीप कुमार चट्टोपाध्याय के लिखे 'विश शतकेर तिरिस बछरेर बांगला साहित्य' "बीसवीं शताब्दी में तीन दशकों का बांगला साहित्य (1915-45) नामक ग्रंथ में।" बंगलियों में राजनैतिक चेतना, देश चेतना और धर्म चेतना देखने को मिली। देश और समाज के नवनिर्माण का जो स्वप्न जगा था, वो धीरे–धीरे विस्मृत होने लगा। देश और जाति के प्रति उदित प्रेम भावना संस्कार, धीरे–धीरे धर्माडम्बर में तब्दील होने लगे। देश और समाज के नवनिर्माण के लिए जो आंदोलन प्रकाश में आये थे वे सफल न हो सके, आर्थिक रूप से कमजोर, अंग्रेजी सरकार की दया दृष्टि और कृपा पर बंगाली समाज आश्रित रहने लगा। एक तरफ आर्थिक दीनता, नये परीक्षण और प्रयास की कमी से अवसादग्रस्त तत्कालीन बंगाली ग्राम समाज मंथर गति से पुराने जीवन प्रवाह में बहे जा रहा था। दूसरी तरफ उन्नसवीं शताब्दी के अंत में बंगाली समाज और बंगाल भक्ति धर्म, आदर्शभाव, गृहस्थ धर्म, एकदम शांत निश्चित संतोषी और सहज सौन्दर्यमुग्ध भावना से ओत–प्रोत होकर हमारे सामने उपस्थित होता है।"

वास्तव में 'बंगभंग' के धक्के से उदित स्वदेशप्रेम की भावना आकस्मिक थी और इस आकस्मिक राष्ट्रशासक विरोधी जनता की उद्वेगी भावना को एक सही दिशा में ले जाते वाली बंगाली प्रतिभा का राजनैतिक परिमंडल में उस समय अकाल था। सुरेन्द्रनाथ 'A Nation in making' के स्वप्न में मग्न थे। स्वभावतया "1911 में बंगभंग के वापस लेने से बंगालियों में संचारित 'स्वदेशी आन्दोलन' की तीव्र चेतना अकस्मात ठंडी पड़ गयी। देश का युवा वर्ग जिस आदर्श भावना और कर्म की एक उज्ज्वल सम्भावना की आशा कर रहे थे, उसकी गति अचानक अवरुद्ध हो गयी। देश के युवा मानस में हताशा और क्लांति के चित्र उभरने लगे। बंगाली समाज में युवाशक्ति का

जो अक्स देखा गया था, वह क्षीण होने लगा। उसके स्थान पर फिर प्रथाबद्ध जीवन की गतानुगति प्रस्फुट होकर सामने आने लगी।''

यह रक्षणशील समय, इस समय का विश्वास और प्रचलित मान्यताओं के प्रति घोर आस्था और विश्वास के प्रति समर्पित और सन्तोष भाव से जिन साहित्यकारों ने साहित्य रचना और चर्चा की उनमें विशिष्ट थे–प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, जलधर सेन, मनिलाल गंगोपाध्याय, अनुरूपा देवी, प्रभावती देवी सरस्वती, निरुपमा देवी, शैलबाला घोषजया इत्यादि। आधुनिक समय में श्वास–प्रश्वास लेने के बावजूद ये लेखक मन से अतीतजीवी थे, इसलिए इनके लेखन में समय की चर्चा बहुत ही कम हुई है। आधुनिक समय की विशेषतायें इनके उपन्यासों में नदारद हैं। फिर भी इनमें प्रभात कुमार मुखोपाध्याय महत्वपूर्ण थे। इनके लिखी हुई कहानियों में जिज्ञासाहीन, तुष्ट भावना, कहानियों का सरल प्रवाह बांगलादेश के मध्यमवर्गीय परिवार को केन्द्र में रखकर उनके छोटे–छोटे दुख और सुख को माध्यम बनाकर समाज के ऊपर ज़ोरदार कटाक्ष, तटस्थ भाव से पुरानी बातों को देखना, शांत–स्निग्ध गृहस्थ के साधारण जीवन का वार्तालाप उनकी कहानियों को चित्राकर्षक बना देते थे। उनके ही समकालीन जलधर सेन की लेखनी के केन्द्र में था ग्राम जीवन और उसके अंतरग सजीव चित्र, अनुरूपा देवी और प्रभावती देवी की लेखनी में सामाजिक संस्कारों के प्रति अनुराग, आदर्शवादी चिंता भावना की उग्रता और चिर समय से खिंचे गृहस्थ जीवन का चित्र। इन सभी की लेखनी ही अब इतिहास की गलियों में लुप्त हो चुकी है।

16.4 शरच्चन्द्र : बंगाली ग्राम जीवन और स्त्री जीवन के सशक्त कथाकार

शरच्चन्द्र की अधिकांश रचनायें बंगाली यौवन के अपचय और क्षरणशील समय की रचनायें है। समय ही अस्थिरता और आघात–प्रतिघात का था। 1905 से पूरे देश में राजनीतिक आंदोलन की जो आंधी चल रही थी, 1912 में अचानक वह बंद हो गई। 1911 में दो टुकड़ों में विभाजित बंगाल को एक करने के बाद अंग्रेजों ने कलकत्ता से राजधानी दिल्ली स्थानांतरित कर दी, जिससे बंगालियों की व्यस्त जात्यभिमान की भावना चुचूके हुए गुब्बारे में तब्दील हो गई। किन्तु यह निष्प्रभता देश के युवासमाज के मन को शांत नहीं कर पायी, बल्कि संत्रासवाद की विफलता उन्हें गंभीर रूप से हताश करने लगी। इस हताशा के बढ़ते वक्त ही 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध की घोषणा होती है, जिसका अप्रत्यक्ष प्रभाव बंगाली समाज पर भी पड़ता है। इसके कई साल बाद मोहनदास करमचंद गांधी के असहयोग आंदोलन को केन्द्र करके बंगाली युवा समाज उद्दीप्त होने की कोशिश करता है लेकिन आंदोलन के अकसमात रुक जाने से शिक्षित और राजनैतिक चेतना से युक्त बांगला समाज में गंभीर हताशा और विभ्रांति की उपस्थिति पैदा हो गई। चित्तरंजन दास का बनाया हुआ स्वराज दल, तरुण युवा कांग्रेसी नेता सुभाषचन्द्र बोस का उत्थान और यतीन्द्रनाथ सेनगुप्त के साथ उनका विरोध, कम्युनिस्टों के विरोध में मछुयाबाजार का बम कांड, गिराट षड्यंत्र मामला, विश्वव्यापि आर्थिक तंगी, सत्याग्रह आंदोलन और बेरोजगारी की समस्या में सारी समस्याएँ कुल मिलाकर बंगाली युवा मानस में अस्थिरता और अनिश्चयता की भावना भर रही थीं।

इस पूर्वकथित बांगलादेश के इस यथार्थ चित्र को साहित्य के कैनवास पर शरतचंद्र उतारने लगे। मनुष्य को देखने और परीक्षण करने के लिए सभी तरह के सामाजिक सरकार से मुक्त होकर उन्होंने प्रथम बार एक प्रेरणा को जन्म दिया। मनुष्य और उसका जीवन किस तरह स्वाभाविक विकास और प्रकाश की सामाजिक चक्कर में पड़कर रास्ता नहीं खोज पा रहा था है, मुक्त नहीं हो पा रहा है– प्रथम बार शरतचंद्र ने ही इसे साहित्य के केनवास पर उतारा। सामाजिक जीवन के बीच में प्रशनचिन्ह को पकड़कर उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के 'Age of interrogation' या सोचने की जिज्ञासा को बांगला साहित्य में तेजी और दृढ़ता से स्थापित किया।

शरच्चंद्र के लिखे हुए उपन्यास हैं, 'बिराज बऊ' (1916), 'पल्ली समाज' (1916), 'बैकुण्ठेर विल' (1916), 'देवदास' (1917), 'चरित्रहीन' (1917), 'गृहदाह' (1920), 'देना–पावना' (1923), 'दन्ता' (1924), 'नवविधान' (1924), 'पथेर दाबी' (1926) शरच्चन्द्र के उपन्यासों के विस्तृत अध्ययन से जो बाते उभरकर सामने आती हैं वे निम्नलिखित हैं :–

i) पुरानेपंथी जीवन धारा और प्राचीन सामाजिक व्यवस्था के प्रति लेखक का पक्षपात

ii) सामाजिक दु:खों के दमन के विरोध में मानवीय हृदय के प्रति समर्थन

iii) समाज में अत्याचार देखकर लेखक का बंगालीसुलभ हृदय मर्मांतक पीड़ा से भर उठता, और वह प्रतिवाद भी प्रकाशित करता।

iv) जीवन के विचित्रानुभव से विचित्र मानवचित्र का सृजन और उसका विश्लेषण।

v) नारियों के जीवन के अतीत में कलंकित चिन्ह रहने के बावजूद, उनका प्रेम आंतरिक, तीव्र एवं एकनिष्ठ होता था। उनके उपन्यासों में वर्णित नारी पात्रों में ये विशिष्टतायें सहज–सुलभ उपलब्ध हैं।

vi) विभिन्न आख्यानों में व्यक्ति स्वाधीनता का गौरव चित्रण। व्यक्तिचेतना, विकास विरोधी अंधेरी यांत्रिक सत्ता के विरोध में कठिन प्रतिवाद का चित्रण।

vii) प्रेम को समाज और व्यक्ति सम्पर्क के बीच की सार्थक कड़ी बनाना और उसे उच्च मानदंड मर्यादित करना।

viii) स्त्रियों की नैतिकता और सतीत्व की उपेक्षा न करके उनकी व्यक्तिसत्ता को सम्पूर्णता में पकड़ने की कोशिश। नारी को दोष–गुण से परे मानवीय रूप में देखने की चेष्टा अत्यधिक उपन्यास ही नारियों के नारित्व के परम विकास एवं सिद्धि, त्याग और दु:ख को सहने की महिमा से मंडित सहज प्रेम के साधिका रूप का चित्रण करते हैं। नारी चरित्र के अन्तर में मातृत्व का सहज चित्रण।

ix) प्रेम के सम्बंध में विचित्रानुभव की धारणा। शरच्चंद्र मानते थे कि प्रेम ही मनुष्य की व्यक्तिचेतना का प्रबलतम प्रकाश है। प्रेम ही जीवन की सर्वोतम उपलब्धि है। इसलिए उनके लिये उपन्यासों में प्रेम, पुरुषों के जीवन को अग्निदग्ध पतिंगे की तरह नष्ट नहीं करता, बल्कि देह कामना के मोह में फँसे पुरुष के मन को चंचल करने के बावजूद अंत में उसे शांतस्निग्ध जीवानानुभव का स्पर्श करता है।

x) पुराणपंथी और आधुनिक, रक्षणशील और प्रगतिशील इन दो धाराओं के समन्वय से ही शरच्चंद्र के आख्यान रचित हैं। 'चरित्रहीन', 'श्रीकांत', 'गृहदाह', 'शेषप्रश्न' इत्यादि उपन्यासों में परिणत जीवन की रचना में आधुनिक भाव चेतना और प्रगतिशील जीवन विश्वास का अच्छा सम्मिश्रण है।

xi) बांगलादेश के ग्राम समाज और शहर के मध्यमवर्गीय और निम्नस्तरीय जीवनधारा को अति सहज और सरल भाषा में रूप देनो शरच्चन्द्र की विशिष्टता है।

xii) उपन्यास माध्यम में निहित उपन्यासिक गुणों को बिना नष्ट किये, सर्वसाधारण के मनोरूप उपन्यास को मायावी भाषा, वर्णना और जीवंत प्रतिभा का परिचय पहली बार शरच्चंद्र ने ही बांगला उपन्यास के पाठकों को दिया।

शरच्चंद्र बंगाली जीवन के युगसंधि के भाव–संकट के शिल्पी हैं। रवीन्द्रनाथ कहते हैं, "शरच्चंद्र की दृष्टि बंगाली समाज के हृदय की गहराई तक चली गई हैं।" अपने बारे में शरच्चंद्र कहते हैं:– "संसार में जो सिर्फ दिये, पाये कुछ भी नहीं। जो वंचित दुर्बल, उत्पीड़ित हैं। जिसके अश्रुजल का कोई हिसाब नहीं मिलती हैं। निरुपाय, दुखमय जीवन में जो किसी दिन सोच ही नहीं सके कि समस्त चीजों के रहने के बावजूद, उनका किसी पर अधिकार क्यों नहीं हैं–इन्हीं की वेदना मुझे मुंह खोलने की प्रेरणा देती हैं, ये ही मुझे मनुष्य के पास भेजते हैं, मनुष्यों की नालिश करने के लिए।" वास्तव में शरच्चंद्र जनजीवन के पास अपने को ले जाने में सफल रहे। 'विराज बऊ', 'परिणीता', 'पँड़ितमशाई', बैकुन्ठेर विल', 'निष्कृति', 'बामुनेर मेये', इत्यादि उपन्यासों में साधारण मध्यमवर्गीय या दरिद्र मनुष्यों के प्रति शरच्चंद्र का ममताबोध प्रकाशित हो पाया हैं। शरच्चंद्र गाँवों एवं कस्बों में रहनेवाले बंगाली समाज के अंतर्मन में पैठ चुके थे। इसलिए उनके साहित्य में बंगलादेश के ग्राम समाज का भीतरी और बाहरी चित्रण हू–ब–हू सचित्र ढंग से हुआ

हैं। इसलिए शरच्चंद्र के लिखे साहित्य को पढ़ने वाला बंगाली समाज उसमें अपना परिचय पाकर चमत्कृत हो जाता हैं। इसी के साथ भारत मे दूसरे प्रदेशों के गांवों में रहनेवाले मनुष्य भी इसमें अपने गांव का लालित्य, आत्मीयता और आत्मजीवन की झलकियां पाते हैं। बंगाल के क्षयशील ग्राम समाज की हीनता–दीनता एक तरफ, दूसरी तरफ मंथर जीवन प्रवाह के बीच से स्नेह, प्रेम, वात्सल्य रस का न खत्म होने वाला प्रवाह शरच्चंद्र के साहित्य में पाया जाता हैं। बांग्ला उपन्यास के एक सम्मानित समालोचक सरोज बंदोपाध्याय अपने 'बांगला उपन्यास : द्वांद्विक दर्पण' में लिखते हैं, "बंगाली मध्यमवर्गीय आत्मसमीक्षा एवं स्वयं पहचान के प्रश्न रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में अधिकतर मिलते हैं। जबकि शरच्चंद्र द्वारा उठाया गया प्रश्न एकदम ही अलग था। वास्तव में प्रश्न एवं दुःख की समग्रता को समझने–बूझने के बावजूद वे पाठकों के मुँह से 'अहा' !' कहलवाने में ज्यादा सुखानुभूति महसूसते हैं"। बीसवीं शताब्दी के दूसरे एवं तीसरे दशक में बांगलादेश विशेषकर कलकत्ता के हवा–पानी में संस्कारमुक्त आधुनिकता की चेतना स्वयंस्फूर्त ढंग से प्रसारित और मज़बूत हुई थी। समाज, राजनीति, धर्म और नैतिक चेतना यानि स्पष्ट रूप से कहें तो जीवन के सभी क्षेत्रों में संशय पीड़ित मूल्यबोध दिखलाई पड़ रहा था। प्रथम विश्वयुद्ध के परोक्ष अभिघात के ही ये परिमाप थे। युद्ध के बाद उत्पन्न देशों में विश्व–बाज़ार के दखल को लेकर आपस में कठिन प्रतिस्पर्धा के चलते कल्याणकारी राज्य, समाज और मनुष्यतत्व के प्रचलित नीतिबोध समाप्त होने लगे। विश्वव्याप्त परिवर्तन की इस प्रवाहित गति से बंगालियों की प्रचलित जीवनधारा भी परिवर्तित हुई। बांगलादेश में अंग्रेज़ी के शासन के चलते आर्थिक दृष्टिकोण से नगर को केन्द्र करके मध्यमवर्ग ही तेज़ी से फल–फूल सका, इसलिए हताशा, क्षय एवं विभ्रांति का प्रभाव उनके ऊपर ही सर्वाधिक हुआ। इस समय बंगाली मध्यवर्ग के जीवन में भोग के रास्ते बंद हो गये थे, तब भी अंध जैविक शक्ति के प्रभाव उनके ऊपर ही सर्वाधिक हुआ। इस समय बंगाली मध्यवर्ग के जीवन में भोग के रास्ते बंद हो गये थे, तब भी अंध जैविक शक्ति के प्रभाव में भोग–वासना प्रबलतम हो रही थी।

16.5 बांगला उपन्यासों का स्वर्णयुग

व्यापक रूप से कहें तो आधुनिक बांगला–कथा साहित्य का प्रारंभ बंकिमचन्द्र से हुआ है; आधुनिक युग रवीन्द्रनाथ की लेखनी से मूर्त हो उठा है और बांगला साहित्य में आधुनिकता का नया मोड़ आया है शरच्चंद्र की लेखनी से। इन सभी की लेखनी की परिणती या आधार प्रखर वास्तविकता पर आधारित थी। बीसवीं शताब्दी के तीसरे, चौथे एवं पाँचवें दशक में बांगला साहित्य में तीव्र परिवर्तन दिखलायी पड़ता है। नये भाव एवं भंगिया के साथ नये–नये लेखकों का आगमन बांगला साहित्य के आकाश में हो रहा था। ये सभी कल्लोल धारा से प्रवाहित होकर नहीं आये थे। तीव्र परिवर्तन के चलते इस समय के कल्लोल समूह के लेखकों की लेखनी में भी विशेष परिवर्तन घटे। इस युग में बांगला उपन्यास को ख्याति के शीर्ष स्थान पर पहुँचाने वाले थे ताराशंकर बंदोपाध्याय, विभूतिभूषण बंदोपाध्याय और मानिक बंदोपाध्याय। इसके अतिरिक्त महत्वपूर्ण उपन्यासों के स्रष्टा के रूप में जगदीशचन्द्र गुप्ता, सतीनाथ भादूड़ी, अमरेन्द्र घोष, मनोज बसु, प्रबोध कुमार सान्याल, रमेशचन्द्र सेन, धूर्जटिप्रसाद, मूखोपाध्याय, गोपाल हालदार इत्यादि।

ताराशंकर बंदोपाध्याय :- ऐतिहासिक ज्ञान एवं परिशुद्ध सामाजिक चेतनाबोध की सहायता से ताराशंकर बांगला उपन्यास जगत में एक नये युग का सूत्रपात करते है। यथार्थवादी आदर्शवादी के स्थान पर बांगला उपन्यास के दृष्टिकोण को ताराशंकर ऐतिहासिक वास्तविकता के स्थान पर लाये। उनके उपन्यासों की पृष्ठभूमि में सुना जा सकता है एक विराट–विस्तृत जीवन का पटाक्षेप। प्रायः अन्तिम साँस लेता हुआ सामंततांत्रिक ग्राम, कृषिप्रधान पश्चिम बंगाल के जनजीवन की प्रत्येक धारा के प्रत्येक मनुष्य की वेदना का स्पष्ट चित्रंण ताराशंकर के उपन्यासों में हुआ है। उनके द्वारा लिखित उल्लेखयोग्य उपन्यास निम्नलिखित हैं :–

'चैताली धूर्नी' (1931), 'राईकमल' (1934), 'धरित्रीदेवता' (1933), 'कालिन्दी' (1940), 'गणदेवता' (1942), 'कवि' (1942), 'पंचग्राम' (1943), 'हासुलीवाँकेर उपकथा' (1946), 'मन्वन्तर' (1943), 'संदीपन पाठशाला' (1946), 'पदचिन्ह' (1950), 'आरोग्य निकेतन' (1952), 'कालान्तर' (1956) इत्यादि।

इन सभी उपन्यासों में ताराशंकर की लेखकीय सत्ता की जो साधारण विशिष्टतायें हैं, वे निम्नलिखित हैं:–

i) कल्लोल स ः के तरुण लेखकों के क्षयधर्मी, द्विधाग्रस्त जीवन–चेतना के बीच ताराशंकर ले जाते हैं एक नये स्वस्थ–सबल ओर सीधा–सादा जीवनबोध एवं जीवनचेतना।

ii) दक्षिणपूर्व बीरभूम ज़िले के राढ़ अंचल के समाज, संस्कृति, विचित्र नर–नारी, (लोककथा), जनश्रुति, कथा–कहानी, और अंध विश्वास से भरपूर एवं रसपूर्ण आंचलिक जीवंत भाषा में परिपूर्ण आंचलिक साहित्य की महत्वपूर्ण रचना की है।

iii) ताराशंकर का शिल्प स्वभावतः देहकामना के साथ–साथ सूक्ष्य निरासक्ति और अध्यात्मपिपासा का सम्मिश्रण है। सुख–दुःख, तुच्छता से भरपूर जीवन के परिवेश में रोमांटिक प्रणय चेतना का स्फुरण–इस विचित्र विपरीतता के प्रति ताराशंकर में आकर्षण देखा जा सकता है।

iv) बाहरीगत–सुसभ्य नागरिक जीवन की तुलना में सुस्थ जीवन और चेतना के प्रति उनका आकर्षण अत्यधिक था। ताराशंकर ने नीति दुर्नीति के मध्य सहज–जीवन का यह प्राणोल्लास भरा परम्परागत मानवीय जीवन रहस्य राढ़ अंचल के जीवन से ही प्राप्त किया था।

v) अध्यात्म पिपासा के अंध मोहावेश में पड़ने के बावजूद ताराशंकर ने प्रवृतियों के रहस्य को आविष्कृत किया है।

vi) राढ़ क्षेत्र की तंत्रसाधना की पृष्ठभूमि में साधनापीठ की मिट्टी, शवदेही की भस्म अस्थियों, श्मशानों की भयंकर निर्जनता और असंख्य तांत्रिक और विचित्र साधनापंथियों की स्मृति जहाँ मिली पड़ी है। वहीं से अलौकिक शक्ति के प्रति मानव मन के दूरन्त–दुर्गम आकर्षण के रेशे–रेशे पहचानने की शक्ति ताराशंकर को मिली।

vii) उपन्यास में सामतंतत्र के टूटने के चित्रण के माध्यम से ताराशंकर शिक्षित बंगाली नागरिकों की दृष्टि में उपेक्षित बांगलादेश की करुण वास्तविकता को सत्यरूप में उन्मोचित किये है।

viii) परंपरा से गंभीर रूप से प्रेम करने के चलते ही वास्तुववादी ताराशंकर अपने उपन्यास में नये यंत्रयुग यानी अंग्रेजी शिक्षा के चढ़ते प्रभाव और शक्ति की पृष्ठभूमि में पुरानी शिक्षा–दीक्षा और विश्वास से सम्पन्न मनुष्यों के पराजय के साथ ताराशंकर का दीर्घ–श्वास एकाकार हो गया।

ix) ताराशंकर के उपन्यासों में एक समाज, एक जाति श्रेणी या समग्ररूप से एक गाँव के निवासियों के टूटने को पूरी प्रक्रिया चित्रित हुई है। उनके रचनाओं में सौन्दर्यबोध, मृत्युबोध, वयःसंधि की संवेदनाएँ और बुद्धियुक्त समाज–सचेतना समाहित हैं। इन सब का जीवनतत्व ताराशंकर के उपन्यासों में दिखलाई नहीं पड़ता है, जबकि आर. के. नारायण के 'मालगुड़ी डेज़' (अंग्रेजी उपन्यास) में यह स्पष्टता से उभर कर सामने आया है।

प्रख्यात बांगला उपन्यास समालोचक गोपिकानाथ रायचौधरी ताराशंकर के बारे में लिखते हैं, "प्रबल देहकामना, क्षयित हुई है स्थिर मानवीय विश्वास में, मनुष्य के प्रशस्ति गान में.....इनके साहित्य में जो प्रशस्ति गान हुआ है, वह धनिकों का नहीं ज़मींदारों का नहीं, दरिद्रों का नहीं, प्रजा का नहीं बल्कि महिमामय मनुष्यों का है।"

विभूतिभूषण बंदोपाध्याय :- बांगला कथासाहित्य जब अस्थिर यौवन के विद्रोह, मार्क्स एवं फ्रायड के उग्र पाश्चात्य जीवन–दर्शन के आघात से खण्डित हो रहा था, जब आत्मा का तीव्र संशय और अविश्वास वास्तविक जीवन में गंभीर रूप से प्रवेश कर उसके

अन्तःस्वरूप को नहीं पहचान पा रहा था, तभी विभूतिभूषण शांत निर्जन प्रकृतिचेतन पाठक को ग्लानि, हताशा और अविश्वास के धरातल से उठा कर गंभीर जीवनरस से लबालब भरे रास्ते पर ले जाते हैं। उपन्यासों में जीवन के साथ प्रकृति का अविच्छिन्न और अविकल्प सम्बंधों का वर्णन कर विभूतिभूषण बांगला उपन्यासों में आधुनिकता एवं नवीनता का संचार करते हैं। उनके लिखित उपन्यास हैं :–

'पथेर पांचली' (1929), 'अपराजित' (1932), 'दृष्टिप्रदीप' (1935), 'आरण्यूक' (1939), 'आदर्श हिन्दु होटल' (1940), 'विपिनेर संसार', 'अनुवर्तन' (1942), 'दवेयान' (1944), 'ईछामती' (1950), 'आशानी–संकेत' (1943–45) आदि।

इन ग्रंथों से विभूतिभूषण के लेखकीय स्वभाव की जो विशिष्टताएँ उद्घाटित होती हैं वे निम्न है:–

i) विभूतिभूषण ने बंगालियों की एकान्त परिचित, अति साधारण और अलंकारहीन विचित्रता एवं नितान्त मामूली साधारण मनुष्य के दैनिक जीवन के छोटे–बड़े दुःख का चित्रण किया है।

ii) उनके चित्रित मनुष्य प्रकृति के प्रेक्षापट के मध्य सजीव हो उठते हैं। यह प्रकृति दो तरह की है–(क) ग्राम की प्रकृति और (ख) जंगल (अरण्य) की प्रकृति। एक तरफ वे बंगाल के समतल सरल भूमि का स्निग्ध सौन्दर्य चित्रित करते हैं, दूसरी तरफ बंगाल से बाहर ऊँचे–नीच पर्वत भूमि के दिगन्त–विस्तृत रुक्ष कठिन सौन्दर्य का।

iii) उनके द्वारा चित्रित एवं वर्णित समस्त प्राकृतिक दृश्य ही उनके आत्मनिष्ठ दृष्टि के प्रकाश से प्रकाशित हो उठे हैं। 'पथेर–पंचाली' 'अपराजित' दृष्टिप्रदीप', 'आरण्यक' के नायकों की जो प्रकृति चेतना है,– वह मूल रूप से लेखक की आत्ममुखी (Subjective) चेतना ही है।

iv) विभूतिभूषण एवं उनके नायक विशाल विश्व एवं अन्तहीन समय प्रवाह के उपलब्ध चेतना के प्रवाह में मग्न हैं। जो बहुतों के मुताबिक 'अध्यात्म उपलब्धि' (Spiritual understanding) जैसा है।

v) विभूतिभूषण के उपन्यासों के स्त्री–पुरूष सभी बृहद सामाजिक द्वन्द्वों से दूर रहनेवाले प्राणी हैं। उनकी चिंता भावना और जीवन जीने की जटिलता भी न्यून है।

vi) विभूतिभूषण के उपन्यास व्यक्तिजीवन के अतीत को चिंतन के द्वारा जागृत करके स्मृति रस को जिंदा कर देते हैं।

vii) विभूतिभूषण का साहित्यबोध चिरतंन भारतीय विश्वास एवं परपंरा के साथ गूढ़ रूप से मिला हुआ है। मानवधर्म एवं अध्यात्मचेतना को वे संयुक्तरूप से साधे है।

विभूतिभूषण के विख्यात उपन्यास 'पथेर–पांचली' के विषय में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है, "पथेर पांचाली का आख्यान विशुद्ध रूप से देशी है किन्तु नजदीक की वस्तुओं का भी ढेर सारा परिचय बाकी रहता है। बहुत समय से वहीं रहने के बावजूद भी वहाँ की सभी जगहों में मनुष्यों का पहुँच पाना संभव नहीं है। पथेर–पांचाली में बांगला के टोले–मोहल्ले की अनजानी गलियों को फिर से नये रूप में देखना पड़ता है।.....पूरी पुस्तक अपने स्वयं के सत्य के बल पर खड़ी है।.....इस कहानी में गाछ–वृक्ष, रास्ता–घाट, नर–नारी, सुख–दुःख सभी हमारे आधुनिक अभिज्ञता के दायरे से दूर करके दिखाये गये हैं। साहित्य में एक नयी वस्तु को पाया गया यद्यपि पुरानी वस्तु की तरह ही वह सुस्पष्ट है"

विभूतिभूषण अपने युग के समस्त संशय–जिज्ञासा और द्वंद्वों के बीच भी मनुष्य के आध्यात्मिक उत्तराधिकार को अस्वीकार नहीं कर पाते थे। इसके फलस्वरूप मनुष्य के सम्बंध में एक प्रगाढ़ आशावाद उनकी चेतना को मृत्यु तक समुज्ज्वल करके रखा जाता था। मानिक बंदोपाध्याय :– प्रख्यात कथाशिल्पी नारायण गंगोपाध्याय मानिक बंदोपाध्याय के संदर्भ में लिखते हैं– "मानिक कल्लोल के धारावाही नहीं हैं। ताराशंकर, विभूतिभूषण के स्थानीय साहित्य भी उनको प्रेरणा नहीं दे पाया।.....बांगला कथा साहित्य में वे स्वयंसिद्ध है।" मानिक की यह स्वयंसिद्धता उनकी

'वैज्ञानिक' सोच के चलते है। उपन्यासों में चरित्रों के मन को लिखित माध्यम से रूपांतरित करने का श्रेय प्रथम बार बांगला साहित्य में मानिक को जाता है। वे बांगला साहित्य में व्यापक रूप से यौनविज्ञान, मनोविज्ञान, मार्क्सवादी इतिहास और द्वन्द्व विज्ञान को उपयोग में लाये हैं। उनके लिखित उल्लेखयोग्य उपन्यास हैं :–

'जननी', 'दिवारात्रिर काव्य' (1935), 'पुतुलनाचेर इतिहास' (1919-36), 'चतुस्कोण', 'पद्मानदीर मांझी' (1936), 'प्रतिबिम्ब', 'सहरतली', 'जीवनेर जटिलता', 'इतिकथार परेर कथा', 'दर्पण' (1945), 'अहिसा' (1942) इत्यादि।

इन सभी उपन्यासों में मानिक बंदोपाध्याय की जो लेखकीय विशिष्टताएँ चिन्हित होती हैं वे हैं :–

(i) वैज्ञानिक सत्य के अनुसंधान को कथा साहित्य के अन्तःवर्णन में प्राणवस्तु के रूप में प्रतिष्ठित करानेवाले वे बांगला साहित्य के प्रथम पथिक है।

(ii) सभ्य मध्यमवर्गीय परिवार में जन्म लेने के बाद भी इस श्रेणी के जीवन के अंधकार और कुत्सित दिशाओं का निरासक्त और निर्मोहरूप से उद्घाटित करने का दुस्साहस ये दिखला पाये।

(iii) बंगालियों के नगर जीवन के निचले स्तर के दरिद्र जीवन के प्रति ममता एवं आकर्षण को लेकर देखने और वहाँ से जीवनरस लेकर साहित्य रचने का प्रयास करनेवाले वे प्रथम व्यक्ति हैं।

(iv) अशांत जीवन–जिज्ञासा को लेकर जीवन को नये–नये ढंग एवं रूप में देखना और उसकी व्याख्या करने का प्रयास करना।

(v) रोमांटिक भावप्रवणता को लगातार त्यागने की कोशिश।

(vi) नर–नारी के जीवन में यौन–जटिलता एवं विकृत मनोभावों को वैज्ञानिक निरीक्षज एवं मर्मभेदी दृष्टि की सहायता से विश्लेषित करने की क्षमता।

(vii) संवेदनशील समाज–संचेतना में आस्था रखते हुए मध्यमवर्गीय मनुष्यों के विकृत मनोविज्ञान का विश्लेषण न करना और, कल्लोल समूह के लेखकों जैसा न करना भी उनकी एक विशिष्टता थी।

(viii) नर–नारी के चेतन–अवचेतन के द्वन्द्व और मानसिक जटिलता के रहस्यों को अच्छी तरह से आख्यानों में प्रकाशित करने की इच्छा के बावजूद रूपकथाओं में तब्दील हो जाना।

(ix) उनके नायक मन से इतने अस्वस्थ एवं इतने रिक्त, जीर्ण और निस्संग रहते हैं कि कभी–कभी प्रेम ग्रहण करने की क्षमता भी गँवा बैठते हैं।

(x) उनके उपन्यासों में अधिकांश विवाहिता नारियों का दाम्पत्य जीवन दुःख से सरोबार है। एक 'अकारण' द्विधा और संशय उनके दाम्पत्य जीवन के प्राणरस को धीरे–धीरे शुष्क और निःशेष कर देता है।

(xi) 1942 में कम्युनिष्ट पार्टी की सदस्यता ग्रहण करने के बाद वे मनुष्य के जीवन को श्रेणीद्वंद्व और श्रेणीभावना के प्रकाश में देखने की चेष्टा करने लगे। लेखक शोषितों के पक्षों का युक्तिव्याख्याता में तब्दील हो गया। सभी अव्यवस्था, जटिलता तथा विकार सामाजिक और अर्थनैतिक विषमता से उत्पन्न होते हैं–इसी मत को 12-14 सालों के साहित्य में वे प्रतिष्ठित करना चाहते थे।

अध्यापक गोपिकानाथ रायचौधरी मानिक बंदोपाध्याय के मूल्यांकन में लिखते हैं– "मनुष्य के जटिल मनोविज्ञान या यौन विकृति के अवचेतम रहस्य का अनुसंधान ही उनकी प्रधान उपलब्धि है। अखण्ड धारावाहिक कहानी नहीं। उनके द्वारा सृजित नर–नारी भी खाटी

रक्तमांस के सजीव चरित्र के रूप में सदा पाठकों के सामने उपस्थित नहीं हो सके हैं। वे मनुष्यों के एक–एक रूप के Complex या मानसिक जटिलता के प्रतिबिम्ब होकर रह गये हैं। परिपूर्ण चरित्ररूप में उनको गढ़ पाने के प्रयास में लेखक हमेशा सफल नहीं हो पाया है।"

16.6 जनजातीय जीवन पर आधारित दो उपन्यास

प्रागैतिहासिक युग से ही भारतीय भूखण्ड पर कोल, भील, सतवाल, मुंडा इत्यादि उपजातियों का निवास स्थान रहा है। पूर्वी भारत के बृहत्तर उपजाति सवतालों के एक दल ने 1790 से 1810 के बीच तत्कालीन बंगाल से सटे दुमका अंचल उपनिवेश स्थापित किया। इन्होंने वनों को काटकर रहने और कृषि लायक जमीन बनायी, लेकिन ब्रिटिश सरकार के मददपुष्ट जमींदारों के दौरात्म्य से इन्हें बार–बार अपनी बनायी ज़मीनों से हटना पड़ा। 1831 एवं 1847 में कोल जाति इन अत्याचारों के विरुद्ध विद्रोह करती है। 1855–57 में राजमहल समेत बिरभूम, बाकड़ा और मुर्शिदाबाद में सवतालो को 'खुट–काटी' (जंगल से हासिल किया हुआ कृषि के लिए जमीन) विद्रोह (कुल) फैला जाता है। 1889, 1899, 1900 एवं 1920–21 में इन जातियों ने विद्रोह किया ओर इनके विद्रोह को कुचल दिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी की युग संधि के समय बंगाल के गाँवों में उपजातियों के साथ कृषकों के विद्रोह की जो लहर उठी थी, वे बहुत ही स्वाभाविक रूप से बंगालियों की स्वार्थ विरोधी थीं। उनके स्वपालित रईसी अहंकार को ठेस लगी थी। जिसके चलते परजीवी शिक्षित बंगाली समाज अन्तरमन से प्रकृत कृषकों के इस विद्रोह को सहन नहीं कर पाये थे। साथ ही साथ इन उपजातियों के मूलभूत जीवन के साथ इन शिक्षित बंगालियों का न्यूनतम परिचय भी नहीं था। रवीन्द्रनाथ ने 1893 में उपजाति सवतालों के कृषक विद्रोह के तरफ ध्यानकर्षण करके लिखा था– "1855 ई. में हिन्दू महाजनों के द्वारा निरंकुश रूप से उत्पीड़ित होकर गर्वन्मेन्ट के खिलाफ नालिश करने के लिए सतवाल गण, अपने जंगल के घरों को छोड़कर कलकत्ता के तरफ रवाना हुए। तब अंग्रेज सवतालों को अच्छी तरह नहीं पहचानते थे। वे क्या चाहते हैं, क्यों जंगल से बाहर आये? अंग्रेज कुछ भी समझ–बूझ नहीं पाये। वास्तव में ये अंग्रेज शासक इस समय बंगाली बाबुओं को इस देश के बारे में समझने–बूझने का प्रधान माध्यम बनाते थे। इसलिए रवीन्द्रनाथ के पूर्व उल्लेखित विश्लेषणों के भीतर अंग्रेजों के स्वार्थ सश्लिष्ट बंगालियों के मन की बातें भी हैं। यह अज्ञानता, मनगढ़त धारणायें और संतुष्टचित्तता का ही प्रतिफलन उस समय के बांगला साहित्य में घटा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के बंगाल में सम्पूर्णतया अपरिचित परंतु निकट संबंधी जातिसमूह के सम्पर्क में जो सम्पूर्ण असत्य भाष्य तैयार हो उठा था, उसका पूरा प्रकाश या विवरण सजीवचन्द्र के लेखनी में आया है। संजीवचन्द्र ने पुराणों में वर्णित अनार्य लोगों के छोटानागपुर अंचलों के अनजाने जगत की यात्रायें की थीं। जहाँ– "पर्वत केवल पाषाणखंड, जंगल केवल झाड़ियों से भरे हुए, और वहाँ रहनेवाले केवल कदाचारी। यहीं कदर्यस्थानों पर ही अनार्यों का निवास करते हैं।.... पूर्व समय में जब आर्य भारतवर्ष में आये थे, तब असुरगण अति प्रबल और उनकी संख्या असीम थी। असुरगण आते और आर्यों की गायें हाँक ले जाते, घृत खाकर पलायन कर जाते.....अन्ततः बहुत समय के बाद जब आर्यगण उन्नत एवं शक्तिशाली हो गये, तब असुरगण को खदेड दिया। असुरगण अच्छे–अच्छे स्थानों को आर्यों के लिए छोड़कर स्वयं दुर्गम पहाड़ों–पर्वतों पर जाकर बस गये।

16.6.1 पलामौ (संजीव चंद्र चट्टोपाध्याय)

सजीवचन्द्र की लेखनी में जब भी आदिम जातियों का उल्लेख हुआ है, तभी उसके मध्य समकालीन एवं पहले के बंगालियों के ध्यान–धारणाओं का अविकल प्रतिफलन घटा है। उनके लिखे सन्निकट जंगली जातियों के सम्पर्क में प्रचलित मानसिकता का अतिरिक्त नयापन भी लक्ष्य किया जा सकता है, क्योंकि बांगला गद्य साहित्य के प्रथम सूचनाकाल में वहीं प्रथम बार प्रत्यक्ष अभिज्ञता के आधार पर एक अपरिचित जनपद और जीवन के संबंध में लिखने की चेष्टा करते हैं। इसके साथ और एक उल्लेखयोग्य विशिष्टता जंगलवासियों के सम्बंध में यह है कि 'पलामौ' लेखक के लेखन में सम्पूर्ण विवरण ही सृजन का प्रयास है।

बांगला साहित्य मे उस समय उपजातियों की कहानी इतिहास, जातिगत, आर्य–अनार्य अथवा साधारणतया भाषा तत्वों के आलोचना के प्रसंग में आयी है। वह भी मूलतः रचना और निबंधों के उपकरण के रूप में। किसी भी क्षेत्र में उस सामाजिक गोष्ठी का परिचय उनका अर्थ नैतिक–सामाजिक रीति–नीति अथवा स्त्री–पुरुष की कहानियों को अलग से कहीं स्थान नहीं मिला है। जो भी थोड़ा सा हुआ है, वह छिट–पुट आलोचना मात्र है। इस दृष्टि से सजीवचन्द्र प्रथम व्यक्ति है, जिनकी लेखनी में आदिवासी समाज के अनेकों छोटे–छोटे विषय तथा औरते–मरदों के गुट चित्रित हुए हैं। जिसके फलस्वरूप पाठकों के सामने एक नये जगत का दरवाजा खुल जाता है। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में जब उपजातियों की चर्चा एक बँधे–बँधाए ढर्रे के अन्दर निबंधों–प्रबन्धों में जोर पकड़ रही थी, तभी सुदूर के उपअंचल से उनकी कहानियों को पकड़कर एवं प्रथम बार सामने लाने का श्रेय संजीवचन्द्र को जाता है। इसके पहले इन सभी अनजाने क्षेत्रों को लेकर साहित्यिक बंगाली पाठकों के अन्दर कोई कौतूहल भी नहीं था, आकर्षण तो दूर की बात है। किन्तु इसके बाद ही स्थिति पलट गई। इसके मूल में दो कारण है–

1) उपजातियों की चर्चा में उपजातियों की स्त्रियों की उपस्थिति – वे सभी आदिम समाज की आदिम औरतें हैं।

2) इस निर्दिष्ट जन समाज के जीवन के मूलभूत अनुसंधानों के माध्यम से उपन्यासिक जीवन–जीज्ञासा के तृप्तिकर सम्भावनों के दरवाजे पलामौ ने खोल दिये।

पलामौ पहुँचने के पहले बराकर नदी पार करने से पूर्व संजीवचन्द्र जंगली समाज की युवतियों को देखते हैं। "वे लड़कियाँ अपने मृत्तिकारंजित बाँहों की ओट से तिरछी नयनों से उनकी तरफ देखती है और हँसती हैं। फिर दूसरे के साथ उनका यह देखना किस रूप में सामने आता है, यह भी देखती हैं। अंत में युवतियाँ हँसते–हँसते दौड़ते हुए नदी में उतर जाती हैं" यही हुआ संजीवचन्द्र के द्वारा प्रथम बार बांगला साहित्य में "उपजातियों की रमणियों का प्रवेश, जिससे बांगला साहित्य के शिक्षित उच्चवर्गीय एवं मध्यवर्गीय बंगाली समाज और पाठक जान पाये कि वन्य रमणियाँ सदा हास्यमयी (हँसमुख), उच्छल गतिमयी, तिरछी कटाक्षों की अधिकारीणी और चिर रमणियाँ होती हैं। तमाशा एवं उपभोक्ता की सुलभ मानसिकता लेकर ही संजीवचन्द्र कहते हैं– "मैं अन्यमनस्क ढंग से ये सारे तमाशे को देख रहा हूँ।" इसी के बाद पलामौ के बराबर नदी में जब वन्ययुवतियों की तरह कोलयुवतियों को भी स्नान करते हुए देखने को मिला, तब लेखक ने अन्यमनस्क नहीं, बल्कि ध्यान से निरीक्षण किया कि 'ये स्त्रियाँ एकदम से काली, सभी के कटिदेश से एक क्षुद्र सा कपड़ा लिपटा पड़ा है, सीने से लेकर नाभि तक आवरण शून्य और शरीर। उसी आवरण शून्य वृक्षों पर पुतियों की सात लड़ियों की मालायें, जिनमें क्षुद्र–क्षुद्र पत्थर के टुकड़े झूल रहे थे, कानों में छोटे–छोटे और सर पर बड़े–बड़े बनफूल झुल रहे थे। युवतियाँ परस्पर एक दूसरे के कंधे पकड़कर एक दूसरे को देखने लगतीं....." अन्य एक दृश्य वर्णन में संजीवचन्द्र लिखते हैं– 'रास्ता चलने वाली युवतियाँ शराब की भट्ठी के पास बैठकर शराब पी रही थीं, गाँववाली युवतियाँ आकर यहाँ बैठ गयी हैं। युवतियाँ उभयरूप (ठेहुने के बल) से भूमि को स्पर्श करते हुए दो हाथों में शालपलों के पात्र पकड़कर मद्यमान किये जा रही हैं और मैं मंद–मंद मुस्कुराते हुए कोल जाति की स्त्रियों को देखे जा रहा हूँ। लगता है, सवताल लोगों की स्त्रियों में भी मैंने ये रीतियाँ देखी हैं।"

संजीवचन्द्र अति दक्षता के साथ संक्षिप्त वर्णनों के माध्यम से सुगठित नारी अंगों का वर्णन किया है। आदिम रमणियों के सुन्द छन्द या घुटना मोड़ कर बैठी तिरछी भंगी में मद्धपान करती रमणियाँ, कुछ ही मुहूर्त के मध्य में पाठकों को आकृष्ट कर कोल रमणियों का सान्धिय पाने के लिए बेचैन कर डालती हैं। वनपथ के निर्जन में, पानपात्र हाथों में लिए मद्यालसा कृष्ण वर्ग की युवतियों के दर्शन के स्वर्ण सुयोग शहर में रहनेवाले बाबू लोगों के लिए यह एक अकल्पनिय, अवर्णनीय परिवेश था। संजीवचन्द्र इस वासनामय परिवेश को प्रमाणित और यथादृष्टि के साथ लिखित रूप में कहते हैं– "पूर्व में कई बार सिर्फ युवतियों की बात कही है, इच्छापूर्वक ही कही है ऐसी बात नहीं है। बंगाल के रास्ते–घाटों में वृद्धायें ही अधिक दिखलाई पड़ती हैं किंतु पलामौ अंचल में अत्यधिक युवतियाँ नजर आती हैं"।

और बतलाते हैं– "कोलों के मध्य वृद्धाएँ बहुत ही कम, उनमें अधिक उम्र हो जाने के बावजूद युवताई बची हुई है, अस्सी पार न होने के बावजूद वे झूले हुए चमड़ेवाली नहीं होती हैं।"

संजीवचन्द्र के इस वर्णन में देश के सम्पन्न एवं उच्च मर्यादा परम्परा में पले बाबू समाज की मानसिकता प्रस्फुटित हुई है। कोल रमणियों की अरक्षणीयता, कोल पुरुषों के जड़ग्रस्तता और पुरुषत्वहीनता, पाठकों के अन्तरमुखी इन्द्रियों को उद्दीप्त कर डालती हैं। इस प्रसंग में संजीवचन्द्र का वर्णन है "वहाँ के पुरुष लोगों का काम है संतानों की रक्षा करना, हमारी स्त्रियों की तरह भोग (आलस्य) के चलते पुरुषलोग बहुत जल्द ही वृद्ध हो जाते थे। लोग कहते हैं पशु–पक्षियों के मध्य पुरुष जाति ही बलिष्ठ और सुन्दर है, किंतु मनुष्यों के मध्य इस जाति के लोगों को देखकर लगता नहीं है। इनके उम्रदराज़ पुरुषों के शरीर से चमड़े झूलते जा रहे हैं, आँखों के चारों तरफ़ मक्खियाँ भिनभिना रही हैं, चेहरे पर कोई हँसी नहीं, लगता है जैसे सभी की जीवन शक्ति क्रमशः कम होती जा रही है। मुझे लगता है कोल जाति का क्षय हो रहा है।"

हम ने पूर्व में ही 1831, 1847, 1855, 1889, 1899, 1900 एवं 1920–21 के आदिवासियों विद्रोह की बाते कही है । इसके बीच 1831 एवं 1847–1855 के विद्रोह संजीवचन्द्र के लिए अजाना रहने की कोई बात ही नहीं है। फिर भी वे इन सब बातों को यत्नपूर्वक छोड़कर (त्यागकर) कोल जातियों की पौरुषहिनता और उनके समानांनतर कोल रमणियों के नानाविधि से गुणगान करने की तरफ़ मुखातिब हुए हैं। ये कोल रमणियाँ अकारण बाहरी एवं भिन्न भाषी लेखक को देखकर आमंत्रणी हँसी के साथ उन्हें नाच देखने का अनुरोध करती हैं, संजीवचन्द्र के वर्णन में 'कोल कन्यायें मुझे देखकर खड़ी हो गईं। उनके मध्य एक लम्बोदरी... सर पर पूर्णकलश को दो हाथों में पकड़कर हास्यमुख से मुझसे बोली, रात में नाच देखने आइयेगा"। मैंने सर हिलाकर जैसे ही स्वीकार किया, वैसे ही सभी हँसने लगीं। कोल युवतियाँ इतना हँसती है, इतना नाचती हैं, लगता है पृथ्वी की और किसी जाति की लड़कियाँ इतना हँस और नाच नहीं सकती।

संजीवचन्द्र ने कोल रमणियों की केवल अरक्षणीय वर्णन ही नहीं किया है बल्कि उन्हें लावण्यमयी नाचनेवाली के रूप में भी चित्रित किया है। उनके वर्णनों में बाधा–बंधनहीन रंगीनी कोल युवतियाँ कई तरह चित्रित हुई हैं– ".....अनावृह देह ...अनावृत वृक्ष..... आह्लादपूर्ण, आह्लाद से चंचल.....मादल बज उठा, इन युवतियों का देह सिहरन से भर उठा। यदि देह का संगीत होता है तो युवतियों के देहों में वह संगीत बस गया, इसके बाद ही वे नाचने लगीं। युवतियाँ ताल से ताल मिलाकर नाचने लगीं.....नाचते–नाचते बैर के पत्ते की तरह सभी एक बार 'चित्त' हो उठती थीं, आकाश में स्थित चन्द्रमा उन्हें देखकर हँस पड़ता और वटवृक्ष के अंधकार में बैठा मैं हँस रहा था।" तब भी सिर्फ़ लावण्यमयी सहजप्राप्तव्य नारी एवं उन नारियों के समाज में हीनवीर्य पुरुषों के वर्णनों से ही संजीवचन्द्र ने अपने आख्यान को नहीं भर दिया है। इस पलामौ में ही वे कोलों के समाज और अर्थनीति को लेकर संक्षिप्त ही सही मगर बहुत मूल्यवान वर्णन किया है। इन वर्णनों से ही उन्नीसवीं शताब्दी के पलामौ परगना के आस–पास के अंचलों में ब्रिटिश शासक और शोषकतत्वों के बारे में जाना जाता है। संजीवचन्द्र की लेखनी में भी बात उभरकर सामने आयी हैं– 'ये सभी कोल या तो कलकत्ता आते है या चाय बागान में.....यह वर्णन संक्षिप्त और खंडित तरीके से उन्नीसवीं शताब्दी के तथाकथित उपजाति समाज के परिवर्तन को सूचित करता है। कोल और समगोत्रीय तथाकथित आदिम जातियों के श्रमजीवी मनुष्यों को उन दिनों में दलालों या गिरमिटों के माध्यम से रांची, सिंहभूम, सवताल परगना, हजारीबाग, पलामौ से असम के चाय–बागानों, अंडमान–द्वीपपुंजों, अन्यत्र–अन्यदेशों मॉरिशस या पश्चिमी भारतीय द्वीपसमूह में चालान (भेज) कर दिया गया था। यह, इस देश में कुली तैयार करने का इतिहास है। निज के वासस्थान को छोड़कर दूसरे देश में जाकर कुली के रूप में खटने के पीछे अन्य कारण के रूप में ऋणग्रस्तता भी है। शराब की भट्ठी की बात कही गई है, जो ब्रिटिश शासन के आबकारी नीति के प्रयोग के माध्यम से 'उपजाति के लिए तैयार बस्ती की समस्या की बात की स्मरण कराती है। मद्यपान और ऋणग्रस्तता ने उन्नीसवीं शताब्दी के वन–पहाड़ों में संयुक्त रूप से रहनेवाले कृषक समाजों को छिन्न–भिन्न कर दिया था, इसमें सन्देह नहीं है।

संयुक्त रूप से रहनेवाले कृषक समाजों को छिन्न–भिन्न कर दिया था, इसमें सन्देह नहीं है। संजीवचन्द्र ने इन उपजातियों के ऋणग्रस्तता को लेकर विशद आलोचना भी की है, आज एक सौ बीस साल बाद भी जिसका महत्व बिन्दु मात्र भी कम नहीं हुआ है। उनके वर्णनों में गुलामी और भूमिदास प्रथा के इतिवृत्त को पाया जाता है।

संजीवचन्द्र के वर्णित उपन्यास को पलामौ अंचल के साथ न देखकर देश के एक विस्तृत परिमंडल की जनजाति (Scheduled tribe) समाज के मनुष्यों के दरिद्र सीमाओं के नीचे जीवनयापन करने वाले लोगों के परिप्रेक्ष्य में देखा जा सकता है। वास्तव में भारतीय उपमहाद्वीप में यह प्रथमबार साहित्य के महल में उच्चवर्ग के चिंतन में 'यह निम्नवर्ग का प्रवेश' घटता है। संजीवचन्द्र लिखते हैं– ''कोलों का सबसे महत्वपूर्ण उत्सव विवाह है। इस उपलक्ष्य में वे बहुत खर्च करते है। उनके पास एक पैसा संचय नहीं है, कोई आमदनी का जरियाँ नहीं है, इसलिए खर्च निर्वाह करने के लिए वे कर्ज लेते हैं। दो चार गाँवों के बीच एक हिंदू महाजन रहते हैं, वे ही कर्ज देते हैं.....उनके निकट एकबार कर्ज लेने पर उनका और उद्धार नहीं होता था। जिसने एकबार सिर्फ पाँच रुपया ऋण ले लिया, वह उस दिन के बाद अपने घर में और कुछ लेकर नहीं जा सकता है; जो उपार्जन करेगा, उस पर महाजन का हक बन जाता है। ऋणी के जमीन मे दो चार मन जितना कपास पैदा हुआ, उसे पहले महाजन के घर में लाना होगा, उसे वे वजन करेंगे, परीक्षा करेंगे, कितना कुछ करेंगे। अंत में हिसाब करके कहेंगे कि यह असली यानी मूलधन पाँच रुपये का सिर्फ एक रुपये के बराबर कपास है। और चार रुपया बाकी रहा। ऋण लेने वाला कृषक 'जो आज्ञा' कहकर घर चल जाता है। किंतु उसका परिवार क्या खायेगा ? जमीन में जितनी फसल हुई थी, वह तो सारी महाजन ने ले ली। ऋणी कृषक हिसाब नहीं जानता, एक से दस तक गिनती नहीं जानता, सभी के ऊपर उसका बच्चों जैसा भोला विश्वास है। महाजन अन्याय करेगा, यह उसकी बुद्धि में नहीं आया। इसलिए महाजन के जाल में फंस गया। इसके बाद परिवार आहार नहीं पाता, फिर महाजन के पास खुराक के लिए कर्ज लेना आवश्यक हो गया, जिसके फलस्वरूप ऋणी कृषक जन्मों तक के लिए महाजन के हाथों विकृत हो गया। अब वह जो भी उपार्जन करेगा, वह सब महाजन का है। महाजन कृषक को जितना कम से कम हो सके खुराक देता। यही उसके जीने का बंदोबस्त था।

कोई–कोई इस कारण से 'सामकनामा' लिख के दे देते हैं। 'सामकनामा' अर्थात 'गुलामी' जिसने लिख दिया, वह पूरा गुलाम हो गया। महाजन गुलाम को सिर्फ आहार देता है, गुलाम बिना वेतन का उनका सारा कार्य करता है, गठरी ढोता है, उनके साथ सर्वत्र जाता है। उसका अपने संसार के साथ अब कोई सम्बंध नहीं रहता। अन्नाभाव की कमी के चलते उनका संसार भी बहुत जल्दी लुप्त हो जाता है। कोली की यह दुर्दशा अति साधारण है। उनके पास सिर्फ एक उपाय है– पलायन। भाग कर ही बहुत सारे कोल बच पाये।

अन्य समस्याओं को लेकर इतनी गंभीरता से कुछ न बोलने के बावजूद संजीवचन्द्र की लेखनी के माध्यम से उन्नीसवीं शताब्दी के कोल समाज की क्या अवस्था थी, उसका थोड़ा सा पूर्वाभास तो इसमें मिल ही पाता है। उनकी बस्ती मापने से पहाड़ एवं जंगलों में बसे छोट–छोटे ग्राम, कोलों के घर मायने 'सभी की पर्णकुटिया', पहने हुए कपड़े को कोई नाम न देने काम चल सकता है, युवतियों के कटिप्रदेश में सिर्फ एक छोटा सा क्षुद्र कपड़ा किसी तरह अटका दिया गया था। पुरुषों की अवस्था भी क्रमशः उसी तरह की थी और बालक तो बिना परिधान के ही थे। जीविका, उपजीविका के सम्बन्ध में कोल के बारे में यह कहा जाता था कि वे एक से लेकर दस तक गिन नहीं सकते, अर्थात् लिखने–पढ़ने की कोई चर्चा ही नहीं थी, जिसके फलस्वरूप खेती–बारी, पशुपालन के अलावा सम्पूर्ण रूप से कुलीगिरी पर आश्रित रहते थे। बीच–बीच में हाथों के कार्यों का उल्लेख– 'पुरुष.....कभी–कभी चटाई बुनते' जैसे वाक्यों से होता। कुल मिलाकर कोल लोगों का कार्य–कर्मों का यही हिसाब और विवरण है।

'पलामौ' की मारफत से कोल के धीर–धीरे खत्म हो जा रहे समाज का जो चित्र हमारे सामने आता है, उसे एक वाक्य में कहा जा सकता है–दरिद्रता के कारण गुलाम समाज की परिणति की कहानी। सम्भवतः उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक ये सारे कार्य समाप्त होने

लगे। सारे के सारे निरक्षर उपजाति के कृषक समूहों में महाजन के बही–खाते में टीप देकर 'आइकाठी (गुलामी) के रूप में अपनी जमीन, गाँव, घर–द्वार छोड़कर सिर्फ एक मुट्ठी भात के लिए गुलामी करते थे। अपने रहने की टूटी–फूटी और सूखी जमीन तथा दुर्भिक्ष के बड़े ग्रास के साथ घृणित गुलामी दास प्रथा–सब मिलाकर सचमुच कोल जाति को उपजाति के हिसाब से भी छोटी जाति कह दिया जाता है। जिस पलामौ की प्रधान दौलत महुआ गाछ था..... जिसका फूल खाकर ही लोग बरसात के तीन महीने पार लगा देते थे। मज़दूरी के रूप में पैसे के बदले यह फूल पाकर भी संतुष्ट हो जाते थे। वहाँ तो ऐसा होना स्वाभाविक ही है।

अति संक्षिप्त होने के बावजूद संजीवचंद्र द्वारा लिखित यह रोजनामाचा पाठकों के हृदय को स्पर्श करता है। उनके द्वारा वर्णित कोलों की जीवनकथा को पढ़कर लगता है कि हतद्ररिद्र ऐसे समाज का बचा रहना ही अपने में एक परम हृदयविदारक घटना है। उस समय कलकत्ता के समाज–संस्कृति की पटभूमि से कबूतरों को उड़ाना, बागान–घरों के रंगमहलों में बाई जी को नचाना, विलायती दारू पीना, अंग्रेजी बोलनेवाले नये बाबू–विलासों के पास ही 'पलामौ' के रूप में संजीवचन्द्र ने खोल दिया था एक दूर दिगंत निर्जन लीला क्षेत्र का दरवाजा जो पूरे शबाब पर था। उपजाति की युवतियों को आनंद भोग के उपजीव्य के रूप में चित्रित करके साहित्य में अनैतिक उच्छृंखलता को चित्रित करने की स्वीकृति मिल जाती है। जिस अनैतिक भोग और व्यभिचारिता के चरितार्थ इसमें रसचित्र आ गये थे, इसी का आकर्षण परवर्ती समय में बराबर मिल जाता है।·पलामौ और उसकी तरह के अनार्य प्रतिवेशियों की निवासभूमि, वन्य रमणियों तरफ लोगों को आने के लिए बाध्य करने लगी, क्योंकि वन अनभिज्ञता के बावजूद संजीवचन्द्र ने इनके जीवन की ऐसी कहानी चित्रित कर दी थी। यहाँ की 'लम्बोदरी' कोल युवतियाँ 'प्रेम–प्रीति को लेकर गहरा सम्बन्ध नहीं रखती हैं। उनके क्षेत्र में 'प्रणय कहना ठीक नहीं होगा' अथवा वे सभी मादल बजने से ही विदेशी पुरुषों के सम्मुख 'आवृत देह.....अनावृत कर देती हैं'। साहित्य की करामात से कोल समाज रूपांतरित हो जाता है असभ्य जंगली पुरुष और बाल–वनितातुल्य नाचनेवाली औरतों के समाज में या कि सम्पूर्णतया कुली–कामिनी के समाज में। एक वाक्य में कहा जाए तो वह यह उन्नीसवीं शताब्दी के प्रतिष्ठित बंगाली कुलीन समाज के साहित्य में निचले कुली समाज का परिचय कहा जा सकता है। ऐसा करके ही उन दिनों बांगला साहित्य अपने पड़ोसी के साथ जिस कर्तव्य को सम्पादित कर रहा था, वह परवर्ती समय के लिए सस्ता श्रमिक और मनोरंजन की सहजलभ्य नारियों के संग्रह के प्रयोजनीयता के लिए कुलियों का मात्र अनुसंधान था।

तब भी सर्वस्वाभाविक रूप में कहा जा सकता है कि अति संक्षिप्त होने के बावजूद संजीवचंद्र द्वारा प्रदत्त रोजनामाचा हमारे मन को उद्वेलित कर जाता है। एक बार फिर ऐसा लगता है कि हतदरिद्र गरीब समाज में बचा रहना ही उनके लिए एक बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। प्रश्न उठता है कि पलामौ लिखने के सवा सौ साल बाद भी वे कैसे बचे रह गये अपने आस–पास के निष्प्राण, स्वार्थी पड़ोसियों के बीच ? इसी के बीच एक यक्ष प्रश्न उठ खड़ा होता है कि कैसे निरन्न, उपवासी मनुष्यों के समाजों के बीच उनकी लड़कियाँ लावण्यमयी हो उठीं? यह क्या सिर्फ शरीर देखने का दृष्टिकोण है ? अवश्य ही उन्नीसवीं शताब्दी के उच्चवर्गीय 'एलिट' बंगाली, जो अंग्रेजों के गुणगानों में अपने मनप्राण को ढाल देते थे–उनके चैतन्य के समक्ष इससे अधिक की आशा करना व्यर्थ है। जितना पाया गया है उतना ही बांगला साहित्य के लिए मूल्यवान समायोजन है। आदिवासी जीवनधारा के इतिहास गवेषणा के लिए यह अमूल्य सम्पदा है।

16.6.2 आरण्यक (विभूतिभूषण बंदोपाध्याय)

विभूतिभूषण बंदोपाध्याय का 'आरण्यक' बंगाली पंचांग से 1345 के चैत महीने में अर्थात 1939 में मार्च–अप्रैल महीने में प्रकाशित हुआ। इसका रचनाकाल 1937 से 1939 है। 1924 से 1930 तक विभूतिभूषण व्यक्तिगत कर्मसूत्र के चलते पूर्णिया के भागलपुर के नजदीक विस्तीर्ण अरण्यभूमि पर थे एवं वहाँ की विचित्र भौगौलिक स्थिति, प्रकृति, मनुष्य, भाषा संबंधी परिचय से कल्पना मिलाकर जिस साहित्य की सृष्टि की, उनकी दृष्टि वास्तविकता की तुलना में

की पृष्ठभूमि लेकर चलता है। पथुरिया घाट के खेलात घोस के मालिकाना के अन्दर भागलपुर के जंगल की जायदाद के लिये बने आफिस में एसोसिएट मैनेजर के रूप में 1924 से 1929 के सितम्बर महिने तक विभूतिभूषण थे। जंगल के जीवन की अभिज्ञता लेखन के साहित्य रूप में लेने में दस वर्ष लग गये।

आरण्यक वर्णनामूलक उपन्यास है। सत्यचरण नामक कथावाचक के जुबानी ही सारा आख्यान वर्णित हुआ है। उपन्यास के प्रथम अंश में ही सत्यचरण की वक्तव्यमूलक प्रस्तावना के अंत में कहा गया है: 'किन्तु मेरी ये स्मृति आनंद की स्मृति नहीं है, दुःख की है। यह स्वच्छंद प्रकृति लीलाभूमि मेरे हाथों ही विनिष्ट हो पायी थी, जंगल के देवता इसलिए मुझे क्षमा नहीं करेंगे मैं जानता हूँ। स्वयं के अपराध की कथा स्वयं से बोल लेने से उस अपराध का भार कम हो जाता है। ऐसा मैंने सुना है। इसलिए इस कहानी की शुरुआत करता हूँ। उपन्यास की गति मंथर है। किन्तु निसर्ग– उसके प्राणी (Flora and Fauna) और मनुष्यों के साथ एक समन्वय के प्रयास का लक्ष्य देखा जा सकता है।

'आरण्यक शब्द का अर्थ है– अरण्य, अरण्यस्थित या अरण्यसंबद्ध। ग्रंथ का नाम 'आरण्यक' से समझा जा सकता है सिर्फ अरण्यप्रकृति नहीं, अरण्यस्थित मानवजीवन भी इसका अभीष्ट अंग है। इसके अलावा लेखक स्वयं कह रहा है–यह यात्रा कहानी या डायरी नहीं बल्कि उपन्यास है। हम जानते हैं कि उपन्यास जड़ प्रकृति का चित्रण नहीं है, मानव प्रकृति का विश्लेषण, वास्तववादी मनुष्यों का हृदय–संवाद है। उपन्यासों में मनुष्य ही मुख्य अवलम्बन है। इस उपन्यास में विशेष कोई जाति नहीं है बल्कि विभिन्न जात–पात के लोगों और गरीब मनुष्यों की बाढ़ है। विभूतिभूषण उन्हीं दरिद्रों को ऊपर से देखतें हैं मानवदर्दी मनोभाव वहीं स्पष्ट है। किन्तु शहरवासी सभ्य मनुष्य 'आरण्यक' का कथावाचक सत्यचरण प्रकृति के प्रभाव एवं अपनी इच्छा/रुचि से प्रकृतिमय हो उठा है। मोहनपुर पहुँचकर नौकरी छोड़ देने की इच्छा, कलकत्ता के कॉलेज स्ट्रीट मोड़ के दक्षिण–पश्चिम में स्थित प्रेसिडेंसी कॉलेज की दीवाल से सटी रेलिंग पर किताब और मासिक पत्रों के लिए व्याकुलता–इत्यादि सत्यचरण के नागरिक मानसिकता के प्रकाशक हैं।

उपन्यास में विभूतिभूषण अरण्यवासी और आदिवासी– उभय सम्प्रदायों को ही लाये हैं। उन्होंने मनुष्यों की मौलिक इच्छा– खाद्य सामग्रियों का अनुसंधान और उसके उपकरणों से हमारी स्पष्ट रूप से पहचान करायी है। फिर गदहों की तरह जीवनयापन करनेवाले वनवासियों के मध्य जातिभेद के उत्कृष्ट रूप को भी दिखलाया है। तब तक बांगला भाषा में निम्नवर्ग के जनजीवन को लेकर कोई उपन्यास ही नहीं था। इसलिए 'आरण्यक' बांगला भाषा एक श्रेष्ठ उपन्यास बना हुआ है।

उपन्यास समाजतात्विक कार्य–कारण व्याख्या का क्षेत्र नहीं है; किन्तु आरण्यक में विभूतिभूषण ने बनवासी और आदिवासी नर–नारियों के सम्पर्कों के सहज रूप के साथ उस समय के आधा सामंततांत्रिक बंगाली समाज के नारी–पुरुषों के सम्पर्को की जो विपरीतता और विकृति थी–उसे भी लक्ष्य किया है। उपन्यास में अरण्य का पण्यरूप स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आता है, जिस अरण्य को हासिल करने के लिए सत्यचरण का आगमन होता है, उस का क्षेत्र 30 हज़ार बीघा है।" लेखक कहता है– "पुरानी प्रजा लोगों को जमींदार यह सब भूमि दखल नहीं देना चाहते हैं। मोटे सलामी और बढ़े हुए भाड़े के लोभ के साथ नये प्रजा लोगों के साथ जमींदार इस भूमि का बंदोबस्त करना चाहते हैं। अथवा गृहहीन, आश्रयहीन अतिदरिद्र पुरानी प्रजा को उनके न्याय अधिकार से वंचित कर दिया गया है। वे बार–बार अनुरोध करके और रो–गाकर भी ज़मीन संबंधी भारतीय जीवधारा की यह नग्न निष्ठुरता अथवा सामंततांत्रिकता के उद्घाटन के लिए विभूतिभूषण को किसी राजनैतिक परिभाषा के आश्रय का सहारा नहीं लेना पड़ा है। ऐसी कठिन परिस्थितियों में रहनेवाले अधिकतर लोग सहज और सरल हैं। इसलिए उनकी उन्मुक्त एवं उदार आत्मा की बातें बार–बार लेखक कहता है। यह जितना पुरुषों के लिए (जैसे– गनू महतो, नंदलाल ओझा, धातुरीया, दशरथ झंडावाला) उतना ही स्त्रियों के लिए भी है। वर्णित नारियों में प्रधान भानुमति–मुंडा राजा दोबरू पान्ना बीरबदी की नातिन। लेखक उसके बारे

नारियों में प्रधान भानुमति–मुंडा राजा दोबरू पान्ना बीरबदी की नातिन। लेखक उसके बारे में कहता है– "मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना ही वह अपने घुटनों को मोड़ के मिट्टी के फर्श पर बैठ गयी और पीतल की थाली में से पपीते के दो टुकड़े उठाकर मेरे हाथों में रख दिये। उसका यह निस्संकोच बंधुत्वपूर्ण व्यवहार मुझे अच्छा लगा।" भानुमती के संबंध में लेखक और कहता है– "भानुमती के अन्दर जो आदिम नारी है सभ्य समाज में उस नारी की आत्मा संस्कार के बंधनों के दबाव से मूर्छित पड़ी है।"

घाटशिला केन्द्रित आदिवासी जीवन की अभिज्ञता एवं उपलब्धि, विभूतिभूषण के आरण्यक में भागलपुर की अभिज्ञता के ऊपर आवरण ढक देती है। विभूतिभूषण के इस उपन्यास से ही बांगला साहित्य में प्रथम बार आदिवासी भारत के प्रति श्रद्धा और आकर्षण प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास में ही वनवासी एवं आदिवासियों के साधारण दुःख और दरिद्रता के लक्षणों को छोड़कर भी दो समूहों का जीवन समानान्तर रूप से चल रहा है। उनके विश्वासनुसार वनवासी मनुष्य ही भारत के आदि बाशिन्दे हैं। "सुदूर अतीत में आर्यों ने खैबर में दर्रे को पार करके जिस दिन पाँच नदियों के प्रदेश में प्रवेश किया था, यह वन तब भी इसी तरह था,.....इस अंचल के वन सभ्यता के प्रतीक हैं। इन प्राचीन वृद्धों के पूर्वज जो बहु सहस्र वर्षों से इस जंगल में निवास करते आ रहे हैं।" और एक स्थान पर लेखक कहता है– "देखने में आता है कि यायावर आर्य लोग उत्तर–पश्चिम के पहाड़ी दर्रे को पारकर झरने की तरह अनार्य आदिम जाति शासित प्राचीन भारत में प्रवेश करते हैं.....भारत का परवर्ती जो कुछ भी इतिहास है– वह इसी आर्य सभ्यता का इतिहास है – विजित अनार्य जातियों के अंधकारों में चूर्णमान अस्थिकंकालों की रेखाओं में। उन लिपियों को पाठोद्धार करने के लिए विजयी आर्य जाति कभी भी व्यस्त नहीं हुई, आज भी विजित हतभाग आदिमजाति गण उसी तरह अवहेलित, अवमानित, उपेक्षित है और सभ्यता दर्पी आर्यगण कभी भी उनकी तरफ घूरकर देखें भी नहीं। उनकी सभ्यता समझने–बूझने की कोशिश ही नहीं की। आज भी नहीं करते..... सभ्यता के गर्व से, उन्नत नासिक आर्यकातों के गर्व से मैं प्राचीन अभिजात वंशीय दोबरू पान्ना को वृद्ध सवताल समझता हूँ, राजकुमारी भानुमती को मुंडा कुली रमणी समझता हूँ"। अन्यत्र लेखक वर्णन करता है– "मुगल बादशाहों के समय में मुगल सैनिकों के साथ लड़े हैं..... मुगलकाल के अंतिम समय जब सूबेदारों का मुगल वंश पर प्रभुत्व था, तब इनका राज्य नष्ट हो गया। बहुत पराक्रमी वीरों के ये वंशज हैं, अभी इनके पास कुछ भी नहीं। जो कुछ बचा भी था वह 1862 के सवताल विद्रोह में नष्ट हो गया। (वास्तव में सवताल विद्रोह 1855 में हुआ था) सवताल विद्रोह के नेता अभी भी बचे हुए है। वर्तमान में वे राजा हैं। नाम है दोबरू पान्ना बीरवर्दी। बहुत ही वृद्ध और बहुत ही गरीब। दोबरू पान्ना के वक्तव्य के रूप में लेखक जो वर्णन करता है, उसमें भी इन अनार्यों की अतीत महिमा के प्रति मोह को दर्शाया गया है: "दोबरू पान्ना बोले–अब और क्या है। हमारा वंश सूर्यवंश है। ये पहाड़, जंगल, सारी पृथ्वी पर हमारा राज्य था। अपने जवानी के दिनों में मैंने कम्पनी राज्य से लोहा लिया है। अभी तो मेरी उम्र बहुत है, युद्ध में हार गया। उसके बाद अब कुछ भी नहीं रहा।"

सहानुभूति के लिए बेचैन मानवीय वेदना को ही विभूतिभूषण ने कहानी का रूप दिया है। उस कहानी में आदिवासी वनवासियों के जीवन पर एक–एक कमियों–दरिद्रताओं की मूर्तियों को चित्रित किया गया है, सामंततांत्रिक शोषण, प्रकृति और मनुष्यों के शत्रुताहीन सम्पर्कों को स्पष्टापूर्वक पकड़ा है। विभूतिभूषण दिखलाते हैं, जंगलों की जीवंतता से भरपूर रहने के कारण ही उबला हुआ बथुआ साग और चीना घास के दोनों से जिनकी क्षुधा तृप्त हो जाती थी, जो दो मुट्ठी चावल के लिए शीतलहरों से भरी रातों में मीलों–मील पैदल चलकर आते हैं– वे भी प्रकृति के शस्य–श्यामल की महिमा के आच्छादन से सतेज एवं प्राणवत हैं। उनके निरीक्षण में जंगल की विशिष्टता के जरिए ही मोहनपुरा, रिज़र्व फॉरेस्ट से सटे हुए मनुष्यों के दरिद्र क्षुधार्त, कदर्य और कंकालों जैसी मूर्ति में से ये सारे चित्र उभरकर नहीं आ पाते।

निम्नवर्ग का जनजीवन ही प्रकृत इतिहास का नियंता है। इतिहास की यह नियामक शक्ति केवल अर्थनीति द्वारा ही नियंत्रित नहीं होती। उनके जीवन में परम्परागत संस्कृति, विश्वास एवं धर्म की भूमिका समान रूप से महत्वपूर्ण है। 'अरण्यक' में निम्नवर्ग का यह विश्वास, धारणा, मिथ, किंवदंती, लोकशिल्प एवं शिल्पी का संकट दैनंदिन जीवन में व्यवहार की वस्तु,

खाद्य पदार्थ, मेला, धार्मिक आचार एवं नाना देशज भाषाओं की विशिष्टता के अनुसंधानों पर दृष्टि डालने पर इनके बीच से ही भारत के अतीत के इतिहास और समाज को पाया जा सकता है। विभूतिभूषण परोक्ष रूप से यह रेखापथ तैयार कर गये हैं। इसके द्वारा 'परवर्ती' समय में नये दृष्टिकोण, नये पथ पर चलने की प्रेरणा दी है महाश्वेता देवी जैसी उपन्यासकार को। यहीं पर 'आरण्यक' अनन्य हो उठता है। भिन्न–भिन्न मात्राओं के अर्थ में यह 'आरण्यक' उपन्यास आधुनिकता के मानदंडों पर भारतीय साहित्य की एक सम्पदा है।

16.7 सारांश

आधुनिक बांगला साहित्य में दो विशिष्ट धाराएँ दिखाई पड़ती हैं - शहरी, भद्रलोक संबंधी और बृहत्तर जन साधारण और ग्रामीण समाज पर आधारित।

बंकिमचंद्र के उपन्यासों में नर-नारी के संबंधों की व्याख्या है, जो पारिवारिक जीवन पर आधारित हैं। रवींद्रनाथ ठाकुर के उपन्यासों में व्यक्ति या चरित्रों का सूक्ष्म निरीक्षण है। उनके उपन्यास मूलतः तत्वाश्रित हैं और उनमें मानवीय मूल्यों की स्थापना है। शरतचंद्र ने अपने उपन्यासों में व्यक्ति स्वाधीनता का गौरवपूर्ण चित्रण किया है। मानवीय संबंधों में प्रेम के माध्यम से व्यक्ति चेतना की व्याख्या की है।

इन प्रख्यात उपन्यासकारों के बाद कल्लोल समूह के उपन्यासकार प्रकाश में आए। उनके बाद बांगला उपन्यास जगत में ताराशंकर बंदोपाध्याय, विभूतिभूषण बंदोपाध्याय और मानिक बंदोपाध्याय ने अपने लेखन से बांगला साहित्य के स्वर्ण युग का निर्माण किया। ताराशंकर आंचलिक कथाओं का चित्रण करते हैं, विभूतिभूषण ने जन सामान्य को केंद्र में रखा और मानिक में समाज के निचले स्तर के प्रति समवेदना का स्वर प्रखर है।

जनजातीय जीवन पर दो पूर्ववर्ती उपन्यास हैं। संजीवचंद्र चट्टोपाध्याय ने लगभग 120 साल पहले पलामौ अंचल की कोल जाति का रोजनामचा लिखा है। इसमें कथा आख्यान प्रबल है, समस्या समाधान कम। यह पहली बार जनजातियों को करीब से देखने का प्रयास करता है। विभूतिभूषण बंदोपाध्याय 'आरण्यक' नामक उपन्यास में मुंडा, सवताल आदि जातियों के जीवन के प्रति 'बेचैन मानवीय वेदना' का चित्रण है।

महाश्वेता देवी ने इसी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए बिरसा की कहानी कही है।

16.8 प्रश्न

निबंधात्मक

1. बांगला उपन्यास साहित्य का परिचय देकर उसमें महाश्वेता देवी का स्थान निर्धारित कीजिए।

टिप्पणियाँ

1. बंकिम, रवींद्र तथा शरत के उपन्यास
2. बांगला उपन्यास का स्वर्ण युग
3. बांगला में महाश्वेता पूर्व के जनजातीय उपन्यास

इकाई 17 जंगल के दावेदार : सामाजिक चेतना

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 मुंडा समाज

17.3 बिरसा मुंडा

17.4 मुंडा विद्रोह

17.5 उपन्यास की पृष्ठभूमि

17.6 सारांश

17.7 प्रश्न

17.0 उद्देश्य

इस इकाई में मुंडा विद्रोह को समझने के लिए हम मुंडा समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थिति की चर्चा करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- मुंडा समाज के संगठन का वर्णन करेंगे;
- मुंडा समाज में शोषण और दमन की स्थिति का वर्णन कर सकेंगे;
- मुंडा विद्रोह तथा उसके कारणों की व्याख्या कर सकेंगे;
- मुडा विद्रोह में बिरसा मुंडा की अहम भुमिका की चर्चा कर सकेंगे; और
- 'जंगल के दावेदार' उपन्यास की पृष्ठभूमि और ऐतिहासिक क्रम का वर्णन कर सकेंगे।

17.1 उद्देश्य

बिरसा मुंडा 19वीं शताब्दी के आखिर में भारत में अंग्रेजी शासन और मुंडा समाज के उच्च वर्गों द्वारा शोषण के खिलाफ विद्रोह का झंडा लिए खड़ा था। विद्रोह का आधार यही था कि अंग्रेज अप्रत्यक्ष रूप से कर भार के माध्यम से मुंडा समाज का शोषण कर रहे थे। इस शोषण में भागीदार थे ज़मींदार और सूदखोर महाजन जो ऋण के माध्यम से मुंडाओं को आजीवन शिकंजे में कस रहे थे। इस कारण मुंडा उच्च वर्ग के लोगों (दिकु) के प्रति आक्रोश की स्थिति में थे। अपनी आत्म रक्षा और मुक्ति के लिए मुंडाओं ने ईसाई और हिंदू धार्मिक नेताओं को सहारा लेना चाहा, लेकिन वहाँ से भी उपेक्षा और तिरस्कार मिलने के कारण वे निराश हो गए। उनको लगा कि धार्मिक नेता भी ब्रिटिश शासन के समर्थक हैं।

इन्हीं परिस्थितियों में बिरसा मुंडा ने ब्रिटिश साम्राज्य से लोहा लेने की ठानी। 1895 में उसने पहला विद्रोह किया और कैद हुआ। 1897 में जेल से छूटा और उसने मुंडाओं को संगठित किया। उसकी पुलिस से मुठभेड 1899 के अंत में शुरू हुई और 20-25 दिन में ही समाप्त हो गई। संगठन कौशल और रणकौशल में अज्ञान के कारण और विपन्नता और शस्त्रहीनता के कारण मुंडा अति सशक्त अंग्रेज़ों का मुकाबला नहीं कर पाते। मुंडा और उस के साथी कैद हो जाते हैं और 6 जून 1900 में जेल में बिरसा मुंडा की मृत्यु 26 साल में हो जाती है।

17.2 मुंडा समाज

एक समय समस्त छोटानागपुर घने जंगलों से आच्छादित था। कोल जाति ने सर्वप्रथम यहाँ के जंगलों को साफ़ करके यहाँ रहना शुरू किया। यह कोल जाति 'किलि' या गोत्रों में विभक्त थी। जो गोत्र गाँव का निर्माण करता, रहने की सुविधा के लिये आने वाले सभी कोल उसके शासन को मान लेते। उस व्यक्ति को मुंडा, अर्थात शीर्षस्थानीय, की पदवी से सम्मानित किया जाता था। वास्तव में कोल जाति का मुंडा नाम इस शब्द से ही बना है। जंगल को साफ करके मुंडा जिस गाँव का निर्माण करते, उन गाँवों को 'खुटकट्टि' बोला जाता। तैयार किए गए गाँव का सीमा निर्धारण करने की एक विशेष रीति प्रचलित थी। जंगल के बीच प्रयोजन के अनुसार चार जगह आग जलाकर, उन चार जगहों के बिन्दु को सरल रेखा द्वारा योग करने से जो सीमा निर्धारित होती, उस सीमा के अन्दर पड़ने वाली सारी जमीन ही उस खुटकट्टि गाँव की नींव डालती। चारों सीमाओं के अन्दर पड़ने वाली सारी उपजाऊ, अनुपजाऊ ज़मीन एवं जंगल सभी उनका होता। यहाँ तक कि जमीन के अन्दर से निकलने वाले खनिज पदार्थ पर भी खुटकट्टियों को छोड़कर अन्य किसी का वे अधिकार नहीं मानते थे। इस तरह खुटकट्टि लोग समस्त जमीन से आय करते एवं अपने को उस जमीन का मालिक समझ के चलते। वे किसी को भी उस जमीन का लगान नहीं देते थे।

मुंडा ग्राम व्यवस्था के चार अपरिहार्य अंग थे – **(1) सारन, (2) ससान, (3) आखड़ा एवं (4) गिति-ओडा।**

(1) सारन : मुंडा लोग गाँव के चारों सीमा पर स्थित आदिम जंगल के पुराने वृक्षों का यत्नपूर्वक संरक्षण करते थे। इस तरह वृक्षों की रक्षा करने की पद्धति को वे सारना कहते थे। मुंडा यह मानते थे कि सारना में गाँव के देवता वास करते हैं। इसलिए देवता के रूप में सारना पर पूजा एवं बलि चढ़ाते थे।

(2) ससान : मुंडा गाँवों में किसी की मृत्यु होने पर उसके शरीर को शवदाह या समाधिस्थ करने के बाद उसकी हड्डियों को संग्रहित करके मिट्टी के पात्र में भरकर गाँव के निश्चित ससान (श्मशान) भूमि में उसे गाड़ने की रीति है। अस्थियों को समाकिस्थ करने के बाद उस मिट्टी के ऊपर बड़े–बड़े चौड़े पत्थरों को रख या लिटा देते थे।

(3) आखड़ा : शाम के समय अथवा उत्सव के दिन गाँवों के स्त्री–पुरुष जमीन के बड़े साफ–सुथरे भूखण्ड पर मादल बजाकर नाचने–गाने का उत्सव करते हैं। इस भूखण्ड को ही आखडा कहते हैं। आखडा के नेता को मानकि कहते हैं। मानकि के अधीनस्थ इलाके को पाढ़ा, पटि या पिड बोला जाता है।

(4) गिति-ओड़ा : गाँव के अविवाहित युवकों के सोने के स्थान को गिति–ओड़ा कहते हैं। अविवाहित युवतियों के लिये गिति–ओड़ा या सोने की जगह की व्यवस्था वृद्ध विधवाओं के घर में अलग से की जाती है। यहाँ पर युवक वृद्धजनों से पुराणों की कहानियाँ सुनते हैं, आपस में पहेलियाँ बुझाते हैं और अपने अनुभवों को एक दूसरे से बांटते हैं।

नृतात्विक निर्मल कुमार बसु मुंडा जाति के स्वर्ण अतीत के स्वप्नयुग के वर्णन के बारे में लिखते हैं– "एक तरफ सारना, ससान, आखड़ा, गिति–ओड़ा, दूसरी तरफ भूमि के ऊपर मालिकाना रहने के बावजूद खुटकट्टि वालों का पंचायत के ऊपर आधारित रहना। मुंडा एवं मानकियों के शासन के भीतर मुंडा जातियों का जीवन सुख–दुख से कट जा रहा था। जितने दिन निर्जन वनभूमि का अभाव नहीं था, उतने दिन किसी गाँव के बाशिन्दों की संख्या बढ़ जाने पर नये वनों में नये खुटकट्टि गाँवों की स्थापना करना सम्भव था। .....किन्तु कालक्रम में हजारीबाग एवं पलामौ जिले में अत्याधिक कृषक वर्ग के आ जाने से जमीन का अभाव घटित हो गया, जिससे राँची जिले के ऊपर आये नये वर्ग का दबाव लगातार बढ़ने लगा।" ('हिन्दू शमाजेर गड़न', विश्वभारती, 1984, पृ0 21) महाश्वेता देवी 'बिरसा मुंडा' शीर्षक जीवनीपरक ग्रंथ के ('बिरसा मुंडा', महाश्वेता देवी, पयापिरास' 2002, पृ0 11) द्वितीय अध्याय की प्रस्तावना में लिखती हैं– "छोटानागपुर के अन्तर्गत सिंहभूम, राँची, पलामौ जिले में मुंडा, उराँव, हो आदि आदिवासियों की बस्ती थी। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यानी 1750 से 1800 के अवधि में यहाँ पर जमीन

लोभी मनुष्य टूट पड़े। इसके फलस्वरूप ग्रामवासियों की खेती–बारी और ग्रामव्यस्था टूटने लगी। जंगल हासिल करके जिन आदिवासियों ने खुटकट्टि ग्राम व्यवस्था की स्थापना की थी, अब वह उनका नहीं रह गया था। .....छोटानागपुर के राजा ने अपने निकट स्वजनों को ज़मीन एवं गाँव देकर जब जागीरदार बना दिया, तब मुंडा लोग दक्षिण खुटकट्टि एवं पश्चिम तमाड़ के पर्वतीय जंगली क्षेत्रों की तरफ़ चले गये। 1831.32 में कोल विद्रोह के बाद इन सब जगहों पर भी ज़मींदार एवं जागीरदार चले आये। ये लोग राजा एवं अदालतों के समक्ष दखल का कागज़ या पट्टे के कागज़ात दिखलाकर मुंडाओं की ज़मीन पर दखल करने लगे। 1863 तक अंग्रेज़ सरकार ने ज़मींदारों को पुलिस का कार्य करने की क्षमता भी दे रखी थी, जिसके चलते मुंडा अपनी स्वाधीनता खो बैठे। उनकी ग्राम एवं समाज व्यवस्था टूट गयी। ज़मीन के ऊपर उनका दखल खत्म हो गया। पहान एवं मानकियों के पास कोई क्षमता ही नहीं रह गयी। ज़मींदार उनके पास से खजाने के रूप में फ़सल तो लेते ही, जोर–जबरदस्ती बिना मज़दूरी के बैठबेगारी भी करवाते थे। ये सब बाहरी अत्याचारी लोग ही मुंडा, सवताल, हो एवं उराँव जातियों के समक्ष 'दिकु' के नाम से परिचित हो उठे। गाँव–गाँव में बैठबेगारी चलती थी। साल भर में निश्चित कुछ दिन बिना मज़दूरी के मालिकों के खेतों में काम करना पड़ता था। यही बैठबेगारी थी। उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू के दिनों में जब छोटानागपुर में ईस्ट–इंडिया कम्पनी का शासन आया तब 12,500 वर्ग मील इलाके में एक अंग्रेज शासक था। हिन्दू एवं मुस्लिम कर्मचारियों को तो आदिवासियों पर कोई दया–मया नहीं आती थी। इसलिए शोषण एवं अत्याचार बढ़ गये। साहेब लोगों की आँखों में आदिवासी 'चोर–चुहाड़ एवं डकैत' थे। ब्रिटिश विचार व्यवस्था (न्याय–व्यवस्था) से आदिवासियों का और ज़्यादा नुकसान हुआ। अदालती भाषा हिन्दी एवं उर्दू थी, जिसे वे एकदम नहीं जानते थे– न समझते थे। उन्हें ठगने के लिए वकील तो थे ही। फलस्वरूप आदिवासियों के मन में दिकु, ब्रिटिशशासन और सभी के प्रति अविश्वास की भावना जन्म ले लिया। सुविधा देखकर आसाम के चाय बगानों में काम करवाने के लिए दलाल लोग भी वहाँ आ पहुँचे। दल के दल हतभाग्य आदिवासी घर–द्वार छोड़कर जाने लगे। 1864–67 के बीच कुल मिलाकर 6590 आदिवासी (मुंडा 3986, उराँव 1053, भुईयाँ 1546) इसी तरह चले गये। इसके बावजूद आदिवासी चावल से जो हड़िया बनाके पीते थे, उससे उनका उतना नुकसान नहीं होता था। लेकिन तभी ब्रिटिश शासन ने आबकारी लाइसेन्स देकर पाँच–दस मिल की दूरी पर शराब की दुकानें खोल दीं। हंड़िया आदिवासियों का पेय था, जो पूजा जैसे धार्मिक कार्यों में लगता था। किन्तु तब उनके बीच शराब का नशा नहीं पहुँचा था। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें नशेड़ी बना डाला। इसी बीच हिन्दू राजा एवं ज़मींदारों की दौलत के बल ने असंख्य तरह के असंख्य साधु–सन्यासी आदिवासियों के बीच पहुँच गये। उन्होंने मुंडाओं के टूट चुके धर्म–विश्वासों में विभिन्न तरह से प्रभाव विस्तार किया। इसी बीच 1844 में विभिन्न मिशनरी दल भी उनके समाज में आ पहुँचे। वे जैसे स्कूल चलाते, लोगों की सेवा करते वैसे ही आदिवासियों को ईसाई बनाने लगे। इस तरह मुंडाओं की धर्म, संस्कृति सभी विपन्न होने लगी। सभी तरफ़ प्रलय के आने से पहले का गाढ़ा काला अंधकार दिखाई पड़ने लगा था।"

महाश्वेता देवी इस विवरण के अंत में लिखती हैं – "जितने भी कारण मैंने बताये, बिरसा के विद्रोह के पीछे ये सभी थे। ये थे, जिसके कारण बिरसा से पहले भी बार–बार इन क्षेत्रों में विद्रोह होते रहे।" 'जंगल के दावेदार' उपन्यास के ऐतिहासिक प्रेक्षापट के चलते मुंडाओं के प्रथम विद्रोह से लेकर बिरसा मुंडा के नेतृत्व में होने वाले संगठित 'उलगुलाल' विद्रोह तक सम्पूर्ण परिचय रहना ज़रूरी हो जाता है।

मुगल शासनकाल में शाह आलम के समय छोटानागपुर के राजा के साथ वार्षिक मालगुज़ारी 6000 रुपया तय थी। 1770 में कप्तान क्यामाक ने सेना के साथ छोटानागपुर के पलामौ राज्य में पहुँचकर राजा दर्पनाथ शाही के साथ जो नया अनुबंध किया उसके अनुसार अब राजा को और 6000 रु. वार्षिक नज़राना भी देना पड़ेगा। कुछ ही दिनों में यह 12000 की रकम बढ़कर 14100 रु. एवं 3 पाई हो गई; भविष्य में इसे और बढ़ाकर 15041 रु. कर दिया गया। इस कर में बेतहाशा वृद्धि के कारण जहाँ राजा दर्पनाथ की स्थिति डावाँडोल हो गई, वहीं विशेषकर पलामौ एवं छोटानागपुर में जहाँ कृषि योग्य भूमि कम एवं अनुन्नत थी, वहाँ से इतना ज्यादा खज़ाना देना उतरोत्तर कठिन होता गया। छोटानागपुर की मालगुज़ारी क्रमशः बाकी रहने लगी। प्रजा राजा द्वारा तय किये गये करभार को वहन न कर सकने की स्थिति में सन्

1789 ई0 में तामाड़ नामक परगना में विद्रोह कर बैठी। जहाँ तक स्मरण की बात है, इसे ही आदिवासियों का प्रथम विद्रोह कहा जाता है। 1795 ई0 तक इस विद्रोह का ताप चारों तरफ फैला था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के सैनिकों ने आकर इस विद्रोह को कुचल दिया था। इस तामाड़ परगना में 1797 ई0 में बिसुन मानकि के नेतृत्व में फिर हंगामा खड़ा हुआ। 1796 से 1798 पर्यन्त राहे एवं सिल्ली परगना में भी इन्हीं कारणों से विद्रोह भड़क उठा।

1800 ई0 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने छोटानागपुर में स्टम्प एवं आबकारी कानून जारी किया। इससे करभार एवं असंतोष दोनों ही राज्य में बढ़ा। छोटानागपुर का पलामौ राज्य समयानुसार मालगुजारी नहीं दे पा रहा था। इस बहाने से 1806 ई0 में पलामौ राज्य में कम्पनी ने राजा को शांति–रक्षा के लिए थानेदारों एवं चौकीदारों की नियुक्ति के लिए बाध्य किया। ये सभी हस्तक्षेप प्रजा के सर के ऊपर उत्तरोत्तर खर्च की पोटली को बढ़ाने लगे, जिसके फलस्वरूप 1812 ई0 में एकबार फिर प्रजा विद्रोह कर बैठी। इसके बाद 1819–20 ई0 में रूदु एवं कोला मुंडा के नेतृत्व में फिर विद्रोह घोषित हो उठा। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने इन्हें बन्दी बना लिया एवं कम्पनी के कारागार में इनकी मृत्यु हो गयी।

इन सभी विद्रोहों एवं प्रजा–असंतोषों का सहारा लेकर ईस्ट इंडिया कम्पनी छोटानागपुर के महाराजा को कर लेने के अधिकार से वंचित करके 1817 ई0 में स्वयं अपने तत्वाधान में कर्मचारियों द्वारा शासनभार की परिचालना करने लगी। राजा, जागीरदार एवं खुटकट्टियों की परम्परागत शासन व्यवस्था ध्वस्त हो गई। परवर्ती 10–12 साल में छोटानागपुर अंचल में हिन्दू, सिख एवं मुसलमान ठेकेदार– व्यवसायियों के अत्याचार में क्रमशः वृद्धि होती गई। ये ठेकेदार–व्यवसायी कम उम्र के राजा जगरनाथ शाहिदेव से लोभनीय व्यवहार एवं द्रव्य इत्यादि देकर जमींदारी–सम्पत्ति लिखवा लेते रहे। यही बाहरी बनिये एवं ठेकेदार मुंडाओं से खजाना एवं विभिन्न प्रकार के सलामी इत्यादि लेते रहे। पूर्ववर्ती शोषक जागीरदार लोगों की तरह मुंडा समाज में उठ–बैठ नहीं सकने के कारण मुंडाओं के प्रति अमानवीय रूप से निष्ठुर हो उठे। शोषण और अत्याचारों में इस तरह से वृद्धि के फलस्वरूप 1832 ई0 में फिर विद्रोह देखने को मिला। इस विद्रोह का भी निर्ममतापूर्वक दमन कर दिया गया। 1858 ई0 में सोनपुर एवं बासिया परगना में हंगामा शुरू हुआ। पूर्ववर्ती साल 1857 में सिपाही विद्रोह होने और छोटानागपुर के सिपाही छावनी में विद्रोह घटने के बावजूद मुंडा लोग इस विद्रोह से दूर ही थे।

1858 ई0 में ब्रिटिश सरकार छोटानागपुर से जमीन संबंधित आँकड़े एवं सूचनाएँ इकट्ठी करने के लिए तत्पर हो उठी। मुंडाओं में उस वक्त भी प्राचीन नीति–नियम बचे हुए थे, उन सभी को संरक्षण देने के दृष्टिकोण से 1869 में 'भूईहारि कानून' नाम से एक कानून पास किया गया।

'भूईहारि कानून' के सदर्थक (अच्छे) एवं अनुकूल पहलू को भी मुंडा लोगों ने माँगकर नहीं देखा। ईसाई धर्म प्रचारक कोल भाषा में इस कानून को अनुवाद करके अशिक्षित मुंडा समाज को समझाने की कोशिश करके व्यर्थ सिद्ध हो गये। 1879 ई0 में ईसाई धर्मावलम्बी मुंडा एवं उराँव जातियों ने मिलकर एक नया आंदोलन शुरू किया। जबकि 1858 ई0 से ही ईसाई धर्मावलम्बी (चर्च) मुंडाओं के नेता, सरदारों के माध्यम से शासकों के साथ आपस में सुलह–सफाई के लिए आवेदन –निवेदन का रास्ता अख्तियार करने लगे। इसे सरदार आंदोलन के रूप में जाना जाता है।

छोटानागपुर के आठ परगनों के 14000 मुंडा ईसाई कमिश्नर के पास लिखित आवेदन में लिखते हैं:–

> "छोटानागपुर मुंडाओं को छोड़कर और किसी की सम्पत्ति नहीं हो सकती। ठेकेदार, इलाकेदार या नागवंशी किसी का यहाँ अधिकार नहीं है। ..... उन लोगों ऐसा क्या किया है जिसके लिए मुंडा लोग उन्हें अपनी जमीन दान करेंगे? मुंडाओं के पास क्या पेट नहीं है? मनुष्य एक पाव चावल तक दान नहीं कर पाता और यह विशाल राज्य मुंडा जाति नागवंशियों को दान दे दे?"

इन्हीं ईसाई सरदार लोगों ने दोयेसा में 1881 ई0 में स्वाधीन राज्य की स्थापना की। उनको नेतृत्व दिया था जान–द–बैप्तिस्ट नामक ईसाई सरदार ने। कुछ दिनों में ही यह सरदार विद्रोह दमन कर दिया गया। नेताओं को अदालत द्वारा दंडित किया गया। 1886–87 में छोटानागपुर में स्थित जर्मन लूथेरन चर्च के पादरी नरकोट के पास मुंडा जाति ने 'छोटानागपुर भूमिसत्व कानून' के अन्तर्गत अपने छीनी गयी या खो गयी जमीन की वापसी के लिए दावे किये। यहाँ से निराश होकर वे तोरपा में पादरी लेबेवेन्स परिचालित रोमन कैथोलिक चर्च में गये। लेवेभेन्स की मदद से बासिया, पालकोट, सिखाई, चयनपुर और अन्यान्य थानों में आन्दोलन चल पड़े। मुंडाओं के इस विद्रोह से असुविधा में पड़कर ब्रिटिश शासकों ने कठोरतापूर्वक इस विद्रोह का दमन किया। पादरी लेबेवेन्स की बदली की व्यवस्था की गई। बहुत मुंडाओं को जेल में डाल दिया गया। 1889–90 में फिर मुंडा लोगों ने विद्रोह करने की कोशिश की। इस बार भी नेतृत्व ईसाई सरदारों ने ही किया। 1890 में सरदार लोगों ने घोषणा की कि हमारा विद्रोह उन सभी ईसाई मिशनरियों एवं उनके कर्मचारियों के विरुद्ध है जिन्हें जमींदारों ने घूस खिलाकर खरीद लिया है। सरदार लोगों ने कलकत्ता के बाबुओं को प्रताड़क के रूप में चिन्हित किया। मिशनरियों, सरकारी कर्मचारियों एवं साहेब लोगों की संयुक्त साजिश को देखकर ये सरदार इन सभी को या कहें ब्रिटिश सरकार को ही भगाना चाहते थे क्योंकि अत्याचारी जमींदार ब्रिटिशों की मदद पाते थे। 1892 में इन सरदारों ने आंदोलनकारी समस्त ठेकेदार और जर्मन मिशनरियों को मार डालने की योजना बनाई। किन्तु संगठित व्यवस्था, स्थिरता एवं शक्तिशाली नेतृत्व क्षमता के अभाव में यह परिकल्पना व्यर्थ सिद्ध हुई।

चार दशक तक लगातार कानून के रास्ते लड़ाई करने के बाद जब सरदारों को इस रास्ते में सार–शून्यता हाथ लगी तब वे क्लांत, मनोबलहीन, स्वप्न द्रष्टा मात्र रह गये। तब वे किसी नये नेता में अपने स्वप्न को फलीभूत होने की आकांक्षा पालने लगे। सरदारों के इन मनोभावों को पादरी हैफ़मन के लिखे पत्र से जाना जा सकता है, जो पादरी ने तत्कालीन रांची के कमिश्नर को लिखा था :

"मैने सरदार नेता एवं अन्य मुंडाओं को बोलते हुए सुना है, हमने सरकार से प्रतिकार चाहा था, कुछ नहीं मिला। मिशनवालों के पास गये, उन्होंने भी हमें 'दिकुओं' के हाथ से न बचाया। अब हमारे पास अपने ही किसी आदमी के ऊपर भरोसा करने के अलावा कोई उपाय नहीं है।"

17.3 बिरसा मुंडा

इसी 'अपने आदमी' का नाम बिरसा मुंडा था। उसके नेतृत्व में पिछली बार की तरह मुंडा फिर 1897 और 1899–1900 ई0 में विद्रोह करके छोटानागपुर से सभी विदेशियों को खदेड़ने का प्रयास करके हार गये। महाश्वेता देवी ने अपने उपन्यास 'जंगल के दावेदार' में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में 1897 और 1899–1900 ई0 में होने वाले इस विद्रोह की प्रस्तुति, प्रासंगिकता, विस्तार, सीमाबद्धता, स्वप्न और व्यर्थता के जीवन लेख का निर्माण किया है। बिरसा की मर्मविदारक मृत्यु और मुंडाओं की यह मरणजयी स्वाधीनता प्राप्ति की चेष्टा विनष्ट हो जाने के बावजूद इस स्वप्नाकांक्षा का मूल्य चिरकाल तक बना रहेगा। 'जंगल के दावेदार' के आख्यान में साहित्यिक गुण के साथ ऐतिहासिक मूल्य भी उपन्यास को महत्वपूर्ण स्थान दिलाते हैं।

Lineage between the history of Munda outbreak led by Birasha Munda (ULGULAN) and the fiction narrated in the novel 'Jungle ke Davedar.'

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम छः वर्षों में (1895–1900) मुंडाओं ने दो बार एक के बाद एक विद्रोह करने का प्रयास किया। 1895 में जो विद्रोह जुलाई अगस्त महीने में आरम्भ हुआ वह उसी साल दिसम्बर में समाप्त हो गया। अन्तिम विद्रोह की शुरूआत 1899 के जनवरी महीने में हुई जो 1900 में 3 फरवरी को बिरसा की गिरफ्तारी के साथ–साथ समाप्त हो गई।

1895 के अगस्त महीने के मध्य लोहारडांगा के पुलिस सुपरिंटेन्डेन्ट को विद्रोही मुंडाओं की तत्परता का पता चला। जानकारी में आया कि डेढ़ से दो सौ के बीच सशस्त्र कृषक छोटानागपुर के एक ऊँची टीलेनुमा पहाड़ी पर एकत्र हुए हैं। दूसरी तरफ आदिवासियों का एक दल इलाके–इलाके में घूम–घूम कर आनेवाले प्रलय का प्रचार कर रहा था। वे प्रचार कर रहे

थे कि इस प्रलय में सरकार बह जायेगी, कायम होगा मुंडाओं का राज। 27 अगस्त 1895 का दिन आक्रमण करने के लिए निर्दिष्ट हुआ। प्रचार किया गया कि भगवान सिंगबोड़ा स्वयं उस दिन अवतरित होंगे। बिरसा ही इस भगवान के प्रतिरूप हैं। वे ही देवता के प्रतिनिधि हैं। बिरसा की शक्ति के प्रभाव से ब्रिटिश सेनाओं की गोलियाँ पानी बनकर निष्क्रिय हो जायेंगी।

ब्रिटिश प्रशासन समाचार को महत्वपूर्ण समझकर तुरन्त सक्रिय हो उठी। व्यापक पुलिस तत्परता से इलाके में दहशत की सृष्टि की गई। 23 अगस्त 1895 को बिरसा को गिरफ्तार कर रांची जेल भेज दिया गया। शीघ्रातिशीघ्र न्याय प्रक्रिया पलटा ली गई। बिरसा को ढाई साल की कैद की सजा दी गई। उसको पहले राँची जेल में रखा गया। उसके बाद रांची से हजारीबाग जेल में भेज दिया गया। दो वर्ष की सजा काटकर 30 नवम्बर 1897 को बिरसा मुक्त हुआ। वह फिर चालकाड में वापिस आ गया। कुछ दिन के मध्य ही बिरसा के पुराने अनुयायी फिर उसके चारों तरफ जमा हो गये। फिर नये रूप से परिचय और आलोचना शुरू हुई। फिर ब्रिटिश सरकार एवं जमींदारों एवं महाजनों के ऊपर आक्रमण करने की गोपनीय योजनाएँ बनने लगीं। आदिवासियों को फिर से विद्रोह के लिए तैयार करने के लिए प्रचार अभियान की शुरुआत हुई। प्रचार अभियान का पूरा दायित्व दिया गया डोंका मुंडा को। वह चारों तरफ घूमकर सरदारों को फिर से खड़े होने के लिए उत्साहित करने का कार्य करने लगा। इस प्रचार के संग–संग धार्मिक प्रचार भी चलने लगा।

1899 के नवम्बर महीने में बिरसा नवरतन गाँव में आया। यहीं पर 1711 ई0 में राजा दुर्जनशाल द्वारा मुंडाओं के लिए निर्मित पवित्र ऐतिहासिक गौरव का प्रतीक या स्मारक के रूप में एक दुर्ग था। यहाँ से बिरसा ने डोमबारी को प्रस्थान किया, जो मुंडा बहुल खुंती के पूर्व में स्थापित एक गाँव था। कौशलगत कारणों से बिरसा एवं उसके दलबल ने इस संवेदनशील क्षेत्र को ही अपने संग्राम केन्द्र के रूप में भी छोटी पहाड़ियों से चारों ओर से घेरा। डोमबाड़ी सभा–समावेशों के लिए उचित स्थान था। सरदारी लड़ाइयों का नेता डोंका, बिरसा मुंडा को नेता के रूप में मान चुका था। 1899 के फरवरी महीने में यहीं जागरी मुंडा के घर में विद्रोही मुंडाओं की एक सभा आयोजित हुई। इस सभा में कोई महत्वपूर्ण निर्णय न हो सका। मार्च महीने में सिम्बुया टीले पर परवर्ती सभा अनुष्ठित हुई, जिसमें बिरसा ने घोषणा की "ब्रिटिश राज्य के 'रावण' को समाप्त करना होगा।" अंग्रेज साम्राज्ञी 'मन्दोदरी' का कुश का पुतला यहाँ जलाया गया।

सिम्बुया टीले की सभा के पश्चात समस्त मुंडारी अंचल में गोपनीय रूप से सभा–गोष्ठियों का आयोजन होने लगा। पार्श्ववर्ती सिंहभूम जिले में भी इस विद्रोह की अग्नि प्रज्वलित होने लगी। 1899 में 22 दिसम्बर को कोटागाडाय में एक महत्वपूर्ण सभा हुई। इस सभा में बिरसा की उपस्थिति में कुछ महत्वपूर्ण फैसले लिये गये। बिरसा ने जमींदारों राजाओं एवं हाकिमों के जुल्म के प्रतिवाद में सशस्त्र विद्रोह का आह्वान किया। इलाके के अनुसार विद्रोह वाहिनी का निर्माण किया गया। सभी तरफ आक्रमण (विद्रोह) करने के लिए भीतर ही भीतर तैयारी चल रही थी। सशस्त्र विद्रोह के लिए आने वाला बड़ा दिन (25 दिसम्बर 1899) निश्चित हुआ। ब्रिटिश सरकार अपने गोपनीय सूत्रों से बिरसा की इस योजना की खबर पा चुकी थी किन्तु बिरसा वाहिनी की गोपनीय प्रस्तुति की व्याप्ति और शक्ति का वे सही–सही अनुमान नहीं कर सके थे। मुंडा विद्रोही अपनी योजना के अनुसार ही बड़े दिन 25 दिसम्बर की रात राँची और चक्रधरपुर जिलों के विभिन्न इलाकों में आक्रामक रूप से सक्रिय हो उठे। उनका हथियार था– तीर–धनुष और पुरातन अस्त्र–शस्त्र। इन्हीं अस्त्रों–शस्त्रों से ही वे शत्रुओं के अधिकतर लोगों को हताहत करने में सफल हुए। अनेक जगहों पर उन्होंने मिशनरियों के घर–बाड़ी एवं गोदाम जला दिए। ब्रिटिश वाहिनी ने भी मुण्डाओं के ऊपर खूब अत्याचार किया। वे किसी भी तरह बिरसा को पकड़ने के लिए खोजने लगे। इस बीच विद्रोही कुछ समय के लिए शक्ति संगठित करने की नीयत से शांत रहे। 5 जनवरी (1900 ई0) तक विद्रोह शांत रहा। इसके बाद एक बार फिर मुंडा विद्रोही अंग्रेज एवं उनके समर्थक जमींदार–महाजनों के ऊपर टूट पड़े। 5 जनवरी को गया मुंडा के घर बिरसाइतों की एक मीटिंग हुई। वहाँ नये अभियान की परिकल्पना की गई। अंग्रेज पुलिस बहुत आगे से इसकी खबर पा चुकी थी। वे भी विद्रोहियों के दमन के लिए गुपचुप तैयारी करते रहे और गया मुंडा के घर को चारों तरफ से घेर लिया गया। ब्रिटिश पुलिस और मुंडाओं के बीच आमने–सामने का खूनी संघर्ष शुरू हो गया। पुलिस और चौकीदार मुंडाओं के तीव्र आक्रमण के चलते पीछे हटने को बाध्य हुए। 6 फरवरी को

रांची के पुलिस कमिश्नर ने एक विशाल पुलिस वाहिनी लेकर विद्रोहियों के घेरे पर फिर आक्रमण किया। लेकिन वीर मुंडाओं के अदम्य साहस आत्मरक्षा के मनोभाव के कारण ब्रिटिश पुलिस फिर पीछे हटने को बाध्य हुई। 8 जनवरी को और भी तीव्र, व्यापक और भयानक रूप से ब्रिटिश वाहिनी का घमासान युद्ध हुआ। बिरसा गुप्त रूप से यहाँ से 'आऊभातु' गाँव चला गया। अंग्रेज सेनावाहिनी ने उसके पीछे–पीछे 'आऊभातु' गाँव को घेर डाला। लेकिन बिरसा को पकड़ने में नाकामयाब रही, क्योंकि बिरसा अंग्रेजों की आँखों में धूल झोंककर छद्म वेष में वहाँ से निकल गया। इस अवस्था में बिरसा गाँव–गाँव घूमकर किसानों को ब्रिटिश के विरुद्ध उकसाने लगा। ब्रिटिश सेना की आँख में धूल झोंककर गाँव–गाँव में सभा समावेश चलते रहते थे। बिरसा को पकड़ाने के लिए पुरस्कारों की घोषणा की गई। आर्थिक लोभ के चलते कुछ मुंडा पुलिस की मुखबिरी करने लगे और 3 फरवरी 1900 ई0 को सैलराकाब पर्वत पर बिरसा को पकड़कर पुलिस के हवाले कर दिया। उसको सिंहभूमि के डेपुटी कमिश्नर के पास ले जाया गया। क्षिप्त मुंडा किसान अपने प्रिय नेता को पुलिस के हाथों से छुड़ाने के लिए तैयारी करने लगे। बिगड़ती अवस्था को देख बिरसा मुंडा को शीघ्र ही राँची जेल में ले जाया गया। कई महीने के पश्चात् ही 9 जून सुबह 9 बजे बिरसा मुंडा की मृत्यु राँची जेल में हुई। तब बिरसा की उम्र 26 वर्ष मात्र थी। उसके अनुयायियों में कितनों को तो फाँसी हुई और कई लम्बी अवधि तक जेल में रहे।

17.4 मुंडा विद्रोह

बिरसा के नेतृत्व में संगठित मुंडा विद्रोह के तात्पर्य :- यह अंश समीरण दत्तगुप्त की पुस्तक 'शताब्दीर आलोय मुंडा विद्रोह' से लिया गया है, जो मुंडा विद्रोह के बारे में महत्वपूर्ण सूचनाएँ देता है।

1. मुंडा विद्रोह की एक अन्यतम विशिष्टता थी विद्रोही कृषक वर्गों का धार्मिक उद्वेग : शैशव काल में बिरसा ने जर्मन मिशन स्कूल में शिक्षण लाभ प्राप्त किया। किशोर होने पर एक कैथोलिक गिर्जा स्कूल में भर्ती हुए। स्कूल के छात्र रहते समय और उच्च शिक्षा ग्रहण करते वक्त बिरसा के मन में यह विचार आया कि कोलों के कुसंस्कार को दूर करके जाति को उन्नत बनाये बिना बहुत दिनों तक दिकुओं के शोषण–अत्याचारों से मुक्ति दिलाना असम्भव है। कोल जातियों का धर्म और प्रचलित हिन्दू धर्म के साथ ईसाई धर्म के मिश्रण से बिरसा ने एक नया धर्ममत बना डाला।

2. आन्दोलन पर पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव :- आदिवासी समाज में जन्म होने के बावजूद बिरसा का प्रारम्भिक जीवन और किशोर जीवन ईसाई मिशनरियों के धार्मिक और नैतिक वातावरण के बीच बीता। इसलिए आंदोलन का नेतृत्व करते वक्त भी पाश्चात्य शिक्षा के प्रकाश में ही दैनंदिन अनुभवों को वे परखते थे। उन्होंने अनुभव किया कि उभय पक्ष के धर्म प्रचारक ही मुंडाओं के सबसे बड़े शत्रु हैं। धर्म व्यवसायियों का प्रभाव नष्ट करने के लिए ही बिरसा मुंडा एक नये धर्ममत को सामने लाया। स्कूल (मिशनरी) जीवन में सीखे गये पाश्चात्य शिक्षा के समर्थक पक्षों को भी बिरसा ने अपने धर्म में शामिल किया, जिससे बिरसा का धर्म उदार और जनमुखी हो उठा।

3. कल्याणकारियों के छद्म वेष में ब्रिटिश शासन की दलाली करने वाले ब्राह्मण-पुरोहित एवं मिशनरी ही मुंडाओं की गतिविधियों को सर्वप्रथम ब्रिटिश प्रशासनकारियों के पास पहुँचाते थे। बिरसा के नये धर्म में दीक्षित होकर वीर कृषक जब विद्रोह की प्रस्तुति के लिए तैयारी कर रहे थे तब जमींदार, ब्राह्मण, पुरोहित और महाजन मुंडा अंचल को छोड़ कर भागने लगे। वे लोग मुख्यतः ब्रिटिश प्रशासन के एजेंट के रूप में कार्य करने लगे थे, अपनी स्वार्थ लिप्सा के चलते। इसलिए विद्रोहियों की खबर को तत्परता से थाने में पहुँचा देते थे। इनके दिए गए समाचार के आधार पर ही कई सौ पुलिसवाले चालकाड गाँव में खूंटी गाड़ बैठे थे।

4. संग्राम के लिए मुख्य उद्देश्य जंगल एवं जमीन के चिरकालीन अधिकार की पुनः प्रतिष्ठा होनी चाहिए थी :- प्रथम विद्रोह जमींदार– महाजनों के षड्यंत्र और प्रशासन के साथ उनके हाथ मिला लेने के कारण व्यर्थ हो गया। पुलिस के निर्मम अत्याचार से मुंडाओं का गाँव जनपद तहस–नहस हो गया। अधिकतर घरों में आग लगा दी गई, बहुत–से मनुष्यों

को हाथी के पैरों तले कुचल दिया गया। **इन अभिज्ञताओं के चलते मुंडा लोग समझ गये कि जंगल और जमीन पर पूर्णकालिक अधिकार के लिए मुंडाराज की प्रतिष्ठा करनी पड़ेगी।**

5. समाज-संस्कार द्वारा राजनैतिक उद्देश्य की परिपूर्णता - मुंडा विद्रोह का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि विद्रोहियों को समाज–संस्कार के कार्यों की तरफ मुखातिब करना। बिरसा के निर्देश के कारण विद्रोही छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटकर आदिवासियों के गाँव–गाँव में जाकर नये धर्म का मौखिक प्रचार–प्रसार करने लगे। पुरानी जीवन धारा में पूरी डूबी हुई एक जाति को नवजागरण के प्रकाश से प्रकाशित करने के लिए ही यह परिकल्पना की गई थी। इसके फलस्वरूप जमीन की लड़ाई और चेतना लाने की लड़ाई एकाकार हो उठीं। विद्रोह के लिए निर्दिष्ट दिन (24 दिसम्बर 1899 की रात) को 'प्रलय का दिन' कहकर चिन्हित किया गया। कहा गया कि प्रलय के दिन सभी मुंडाओं को नये वस्त्र पहनकर नये साज (रूप) में सज्जित होना पड़ेगा।

6. शोषणमूलक धर्म के विरुद्ध प्रगतिमूलक धर्म ही हथियार :- बांगला नाटक जगत के शिखर पुरुष गिरिशचन्द्र घोष उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दिनों में (बिरसा के विद्रोह के बहुत पूर्व) किसी समय बोले थे– "हिन्दुस्तान के मर्म में ही धर्म हैं। धर्म को आश्रय करके ही हिन्दुस्तान के मर्म तक पहुँचा जा सकता है।" यह कथन कितना प्रभावी (महत्वपूर्ण) है इसे मुंडा विद्रोह ने प्रमाणित कर दिया था। सामंत प्रथामूलक समाज में शासक समूह द्वारा प्रचलित धर्म ही जब समाज का शोषण–उत्पीड़न करने के हथियार में तब्दील हो जाता है तभी संस्कारमूलक धार्मिक आंदोलन ही शासक श्रेणी के विरोध में गणसंग्राम के हथियार के रूप में खड़ा हो उठता है। मुंडा विद्रोह के समय जो धार्मिक आवेश उठ खड़ा हुआ था उसकी पूर्वधारा हमारे और कई कृषक विद्रोह में विद्यमान थी। गारो विद्रोह या पागलपंथी विद्रोह, वाहावी विद्रोह, फराजी विद्रोह इत्यादि विद्रोहों पर धर्म का प्रभाव पूर्ण रूप से था। धर्म–संस्कार के प्राथमिक लक्षण स्पष्ट होने के साथ ही साथ वह जमींदार, तालुकदार एवं महाजनों के विरुद्ध लड़ने की प्रेरणा देने में सहायक सिद्ध हो उठा, मुंडा विद्रोह में भी बिरसा एवं इसका नया धर्म (बिरसाइत) एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने में सक्षम हुआ।

7. धर्म प्रचारक सामंतवाद और साम्राज्यवाद के स्वार्थों की रक्षा करते हैं :- मुंडा विद्रोह सचमुच में भारत के स्वाधीनता आंदोलन की इस सत्यता को प्रमाणित करती है। मुंडा विद्रोह की अन्यतम सच्चाई होती है जागीरदारी व्यवस्था के सम्मुख वीर कृषकों की लड़ाई। 1862 से 1886 तक जागीरदारों के साथ मुंडा कृषकों की लड़ाई जारी रही। 1867 ई0 में सितम्बर महीने में 14 हजार ईसाई धर्मावलम्बी कृषक, जागीरदारी व्यवस्था के विरुद्ध कोर्ट में हाजिर हुए। इसके पहले तक उनके धार्मिक पथ प्रर्दशक मिशनरी जमींदारी व्यवस्था और बेगार प्रथा को बन्द करा देने के आश्वासन देने के बावजूद वे इस बारे में सक्रिय कुछ न कर सके।

8. पिछड़ेपन के निरूपण (विघटन) के लिए नये संस्कार की जरूरत :- इस सत्य का उद्घाटन बिरसा मुंडा के विद्रोह की प्रस्तुति के क्रार्यक्रम के भीतर ही उभरता है। सामाजिक जीवन और आचरण–व्यवहार में तब का मुंडा समाज अत्यधिक पिछड़ेपन का शिकार था। बिरसा के नये धर्म ने इस पिछड़ेपन के विघटन (अतिक्रम) के उद्देश्य से खूब सूक्ष्म रूप से अपने अंदर ढांचागत परिवर्तन किया था। बिरसा मुंडा ने घोषणा की थी' **"सिंहबोंगा' ने स्वयं उसके मारफत कहलाया है कि अब से बहुत देवताओं (बोंगाओं) के बदले केवलमात्र एक देवता को मानकर ही चलना और उसकी पूजा करना है।"** बिरसा की इस घोषणा से ही समझा जा सकता है कि उस समय मुंडा समाज में बहु देवताओं की पूजा प्रचलित थी, जिसके द्वारा समाज की दिशाहीनता ही प्रकट होती है।

9. पुरानी धर्म भावना को तोड़कर ही नवजागरण सम्भव होता है :- मुंडाओं के विद्रोह की गति–प्रकृति देखकर इस सूत्र की सत्यता का पता चलता है। कृषक विद्रोह के साथ मुंडाओं के धार्मिक नवजागरण आवेदन के एकाकार हो उठने से मुंडाओं के विद्रोह में गुणात्मक अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। बिरसा ने विद्रोह की प्रस्तुति के समय ही निर्देश दिये– **"अब से मुंडा समाज में किसी भी पूजा अर्चना में हिन्दू ब्राह्मण को बुलाने की आवश्यकता नहीं है। मुंडा समाज अपनी पूजा स्वयं करेंगे।"** इसके द्वारा एक तरफ मुंडा समाज की पुरानी धर्म–भावना को बिरसा ने तोड़ा तो दूसरी तरफ मुंडा समाज के ऊपर हिन्दू ब्राह्मण प्रभुत्ववाद को कौशलपूर्वक नष्ट किया।

10. मुंडा समाज को प्रभावितं करने एवं परिचालित करने के क्षेत्र में हिन्दू ब्राह्मण एवं ईसाई धर्मावलम्बी के आपसी द्वन्द्वों के परिमाण :– हिसाब से ही (प्रथम में ही) चिन्हित किया जा सकता है कि बिरसा मुंडा द्वारा पूजा–पर्व में हिन्दू ब्राह्मण को बुलाने की प्रथा को निषिद्ध करने की घोषणा ने हिन्दू और ईसाई धर्म के द्वंद्व को भी दिखाया है। यहाँ यह ध्यान में रखना होगा कि हिन्दू धर्मावलम्बी ब्राह्मण समाज ने ही शुरुआती दौर में मुंडाओं को बहुत काल से दबा कर रखा था। इसकी व्याख्या वे बहुत ही कौशलपूर्वक इस तरह देते हैं :–

''ब्राह्मणशासित समाज की उत्पादन व्यवस्था सहित समाज प्रचलित छोटे-बड़े के भेदभाव कोल भाषाभाषी जातिवृन्द के मध्य कार्यरत रहने के कारण कोल जाति भी हिन्दुओं की एक जाति है।''

11. गणविद्रोह की धारणा के यथार्थ - 'मुंडा विद्रोह वास्तव में गणविद्रोह का पर्याय था। क्योंकि इस विद्रोह में सभी स्तरों की जनता ने भाग लिया था। यहाँ तक की नारियाँ एवं शिशु तक ने इस विद्रोह में भाग लिया था, जिसके फलस्वरूप विद्रोह के निर्दिष्ट दिन (24/12/1900) चालकाँद में विशाल जनसमूह देखने को मिला।

12. ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ देशी सामंत और महाजनी श्रेणियों की मैत्री :- इसको मुंडा विद्रोह प्रकट कर डालता है। विद्रोही कौशलगत कारणों से साम्राज्यवादी ब्रिटिश शक्ति को निष्क्रिय करने के लिए सर्वप्रथम महाजनों एवं सामंतों के विरुद्ध ही विद्रोह के बिगुल फूँके। लेकिन विद्रोह के प्रथम दिन से ही ब्रिटिश सेना उनकी रक्षा में उतर पड़ी।

13. श्रेणी संघर्ष धार्मिक संघर्ष के रूप में तब्दील हो गया था :- हिन्दू धर्म एवं मंदिरों के अनुशासन को हथियार में परिणत करके पुरोहित और जमींदार श्रेणी ने जिस तरह प्रत्यक्ष रूप से मुंडा जनजीवन में अत्याचारों की बाढ़ ला दी थी, उसी तरह मिशनरी उन्हें धर्मांतरण करके इस देश मे ब्रिटिश हुकूमत को मजबूत एवं स्थिर करने के उद्देश्य से कार्य करते थे। मुंडाओं की आर्थिक और सामाजिक जीवन को सुस्थिर करने की उनकी कोई मंशा नहीं थी। मुंडा बहुत दिनों के परिचित शत्रु हिन्दू जमींदार, पुरोहित, महाजनों को उद्देश्य सिद्धि के पथ में प्रधान बाधा के रूप में चिन्हित करके, उनके विरुद्ध 1895 ई0 में अस्त्र धारण किया। प्रथम विद्रोह के समय मुंडा समाज के ऊपर मिशनरियों के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। विद्रोही समझ नहीं पाये थे कि उनकी जमीन की लड़ाई अलग रूप से सफल नहीं हो पायेगी। साम्राज्यवादी ब्रिटिश शक्ति के प्रभुत्व को बिना नष्ट किए जमींदार, महाजन और पुरोहितों के अत्याचार को खत्म नहीं किया जा सकता। इसलिए 1897 साल के बाद मिशनरियों के दिलासा दिलाने वाले वाक्य उन्हें शान्त नहीं रख पाये। महाजन–जमींदारों एवं गिर्जाओं के प्रति हिंसात्मक कार्रवाई इसलिए एक साथ चालू की गयी। धर्म श्रेणी शोषकों का ही एक मुखौटा है इसे समझ लेने के बाद मुंडा सम्प्रदायों की श्रेणी घृणा धार्मिक घृणा में परिणत हो गई।

14. द्वितीय बार के मुंडा विद्रोह (1897-1899) ने देशप्रेम, गणतांत्रिक और साम्राज्यवाद विरोधी चरित्र ग्रहण किया :– इस बार विद्रोही समझ गये थे कि चर्च के अनुशासन एवं ब्राह्मण पुरोहितों के मध्य एक योगसूत्र है। वे समझ गये कि सामंततंत्र एवं साम्राज्यवाद दोनों मिलकर मैत्रीबद्ध होकर किसानों के जिंदा रहने के अधिकार को निगलने के लिए तैयार बैठे हैं। इसलिए मुंडाओं का दूसरी बार का यह विद्रोह कृषि विद्रोह के उपादान से समृद्ध हो उठा। इस तरह यह विद्रोह सिर्फ़ जमींदार–महाजनों के विरुद्ध ही नहीं चला, बल्कि मिशनरियों के अनुशासन एवं कपट के विरुद्ध भी यह विद्रोह कृषि विद्रोह गुणगत रूप से समृद्ध हो उठा था। इस तरह जमींदार, महाजन, मिशनरी और ब्रिटिश शासक इन सभी के विरुद्ध सर्वात्मक विरोधिता के द्वारा यह विद्रोह कृषि क्षेत्र में साम्राज्यवादी शक्तियों के निगलने के विरुद्ध मुखर हो उठा था।

'शताब्दीर आलोय मुंडा विद्रोह' ग्रंथ में मुंडा विद्रोह के इस नकारात्मक दृश्य को दिखलाया गया है :-

बिरसा मुंडा के नेतृत्व में दो बार मुंडा विद्रोह होकर भी असफल हो उठा। इसकी व्यर्थता के मूल में निश्चय ही कुछ नकारात्मक (Negative) कारण रहे हैं :–

क) बिरसा के नेतृत्व में मुंडा विद्रोह के रणकौशल का एक नकारात्मक पक्ष यह भी था रण कौशल की परिकल्पना को जल्दी प्रकाशित करना:- विद्रोह के दिन की घोषणा व्यापक

लोगों के बीच की जाती थी। इसके फलस्वरूप ज़मींदार महाजन लोग एवं ब्रिटिश साम्राज्यवाद इसकी खबर पहले ही पा जाते थे। वे सरल मुंडाओं के बीच तुरंत अपने जासूस फैला देते थे। वे मुंडाओं के बीच से भी अर्थलोभी विश्वासघाती मनुष्यों को खोज लेते थे, जिन्हें आर्थिक प्रलोभन दिखाकर विद्रोह की गोपनीय खबरों को पा सकें। इसी तरह विश्वासघातकों के द्वारा ही बिरसा को बंदी बनाया गया था।

ख) बिरसा के रणकौशल में दूरदर्शिता का अभाव :- बहुत सारे लोगों को चालकाड़ में एकत्र होने का आह्वान बिरसा ने किया था– किन्तु युद्ध परिचालना का कौशल विन्यास वहाँ नहीं था। इसलिए सहज ही अंग्रेज पुलिस विशृंखल जनता का दमन करने में सक्षम हुई।

ग) उन्नत अस्त्रों के व्यवहार और संग्रह की अक्षमता :- जमींदार एवं ब्रिटिश वाहिनी उन्नत किस्म के आग्नेयअस्त्र व्यवहार करते थे, जबकि मुंडाओं के हथियार बोलने में वही तीर–धनुष, बलोया और खड्ग एवं टांगी थे। ज़मींदारों के पास था पेशादारी 'पाईक' एवं 'बरकन्दाज' नामक भडैत सेनावाहिनी। पुराने समय के अस्त्रों को लेकर ब्रिटिश सेना एवं जमींदारों के विरुद्ध छापामार लड़ाई में कुछ समय के लिए भले ही सफलता मिल जाए, कुछ पुलिसवालों को मारकर कुछ दिनों के लिए उद्दीपन संचारित हो सकता है किन्तु स्थायी एवं मूल रूप से विजय पाना सम्भव नहीं। वही घटा था 1899 के दिसम्बर और 1900 के जनवरी के प्रथम सप्ताह के सम्मुखीन लड़ाई में।

घ) युग और तत्कालीन देश-काल संबंधित मनुष्य के आकांक्षाधारक आदर्श में अभाव:- बिरसा की लड़ाई धार्मिक स्वाधीनता एवं कृषि जमीन अधिकार संबंधित निर्दिष्ट नीति रहने के बावजूद यह लड़ाई नितांत एक ही व्यक्ति के प्रति भावावेश की तीव्रता से चालित मनुष्यों की लड़ाई थी। निश्चय ही उन दिनों इतिहास–समाज, वस्तुजगत के द्वन्द्व से प्राप्त राष्ट्रीय एवं सामाजिक तथा राजनैतिक चिंता की तीक्ष्णता असम्भव थी। यह याद रखना होगा कि जिस समय बिरसा एवं उनके अनुयायियों को लड़ाई करनी पड़ी थी, उस समय भारतीय जनमानस में हिन्दू, स्वाधिकार प्राप्त करने की राजनैतिक भावना का शैशव काल भी नहीं था। भारतीय जातीय कांग्रेस जमींदार शिल्पपति–बैरिस्टर और व्यवसायियों के प्रतिष्ठित नेतृत्व में ब्रिटिश शासन के समक्ष आवेदन–निवेदन के माध्यम से अपनी माँग हासिल करने में मग्न थी। उस अवस्था में मुंडा विद्रोह के नेताओं के कार्य परिचालन में इस समय के आंदोलन के लिए आदर्श या कर्मनीति–रणकौशल की आशा करना उचित नहीं जान पड़ता है।

17.5 उपन्यास की पृष्ठभूमि

1895 से 1900 ई0 तक के मुंडा विद्रोह के नायक बिरसा मुंडा को लेकर महाश्वेता देवी का यह 'जंगल का दावेदार' उपन्यास है। उपन्यास परोक्ष अवदान की नींव के ऊपर खड़ा है। कुमार सुरेश सिंह नामक ऐतिहासिक नृतात्विक के लिखे 'Dust storm and hanging mist' किताब ही 'जंगल के दावेदार' के उत्स का मूल है। परोक्ष उपादान की नींव के आधार पर ही महाश्वेता ने समग्र उपन्यास को अपने अनुसार लिखा है। पूरा उपन्यास ही प्रायः कथोपकथन शैली में लिखा गया है। उपन्यास में रचनाकाल (1975) के एक विशेष दृष्टिकोण से पचहत्तर वर्ष पहले की एक घटना को चित्रित किया गया है। बिरसा के समय से अनुभव को लेना और जीवन के निरीक्षण का समय सुयोग न रहने के बावजूद इस उपन्यास में कितनी साधारण और दीर्घस्थायी वास्तविकता अंकित की गई है। लेकिन मुंडाओं के दैनिक जीवन के क्रिया–कलाप खूब स्पष्ट रूप से उभरकर सामने नहीं आ पाये हैं। समग्र उपन्यास में चरित्रों का परम्परागत संलाप ही कहानी को गति प्रदान करता है। इस तीव्र गति के संलाप के फलस्वरूप ही मुंडा जीवन की तत्कालीन वास्तविकता को कितने विशद रूप से चित्रित किया गया है।

महाश्वेता अपने कैनवस को एक निश्चित सीमा के अंदर रखती हैं – सिर्फ आदिवासी मुंडा तथा बिरसा ही उनके कलम के जादू से निखर पाये हैं, जिसके फलस्वरूप शोषण और दरिद्रता का भयावह रूप जो सिर्फ आदिवासी जीवन में ही सीमित नहीं था बल्कि अभी भी उसी तरह व्यापक है यह बात 'जंगल के दावेदार' में नहीं आ सकी है। मुंडाओं का विद्रोह

समकालीन सामंतवादी (feudal) व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह था। 'जंगल के दावेदार' की भूमिका में ही महाश्वेता ने पाठकों का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया है।

उपन्यास में मुंडाओं के विद्रोह की ऐतिहासिक परम्परा को महाश्वेता देवी ने स्पर्श किया है, जो वास्तविक इतिहास के सत्य को ही प्रतिष्ठित करता है। संथाल विद्रोह (1855) के संदर्भ में वर्णित हुआ है:– "मुंडाओं के सभी लड़के चंदा लेकर ही खुटकट्टि व्यवस्था की जमीन पर दखल बनाए रख सकते थे। सवताल जंगल काटकर जो जमीन हासिल करते थे, उसका नाम दामीन–ई–को था। सवतालों के जीवन के साथ ही साथ उनके दामिन–ई–को में भी 'दिकु' लोग आ टूटे।"

मुंडा विद्रोह के ऐतिहासिक गवेषणा ग्रंथ के ऊपर ही महाश्वेता का उपन्यास आधारित है, इसलिए उनके वर्णनों में तथ्यात्मक भ्रांति बिल्कुल नहीं है। समय का हिसाब देने में भी वे अभ्रांत हैं, बिरसा के पैदा होने के बहुत पहले, शायद बिरसा के परदादा लकरा के पैदा होने से भी पहले, सब कुछ बदल गया था। (पृ0.30) "बिना तापहीन आवेग के ही वे जीवन–मरण की बातें करते हैं। भाग्य के प्रहारों के चलते उनके अंदर यह उदासीनता आ व्यापी है।"

"बिजली के चमकते प्रकाश में आलोकित एक कुमारी अरण्य कन्या के तरफ बढ़ता हुआ एक काला हाथ कहता है– 'यह सब मेरा है।' (पृ0.38)

सारा जंगल मिलेगा वैसे ही जब धरती छोटी बच्ची–सी कोमल थी। धरती वैसी ही हो जायेगी। उस धरती पर महाजन नहीं, दिकु नहीं, साहब नहीं होंगे। (पृ0–30)

इतिहास के साथ साल–तारीख मिलाकर भी देखा जा सकता है कि मुंडाओं के विद्रोह के साथ महाश्वेता के 'ज़ंगल के दावेदार' की अत्यधिक समानता है। सुप्रकाश राय के 'मुक्तियुद्ध भारतीय कृषक' ग्रंथ और 'भारतीय कृषक विद्रोह और गणतांत्रिक संग्राम' ग्रंथ के वर्णन से भी जाना जा सकता है। "1895 के नवम्बर महीने में बिरसा को अढ़ाई साल एवं उसके अनुयायियों को विभिन्न समय के लिए सश्रम कारावास का दंड दिया गया था।" वे और लिखते हैं, "जमींदारों महाजनों के इस उत्पीड़न एवं शोषण के साथ ही साथ महामारी और अकाल के आक्रमण ने भी आदिवासियों को ध्वंस के करीब ला पटका। जमींदार समूहों के भयंकर उत्पीड़न और अनावृष्टि के चलते 1897 में समग्र मुंडा अंचल में एक भयानक दुर्भिक्ष देखने को मिला। अनाचार के चलते अत्यधिक लोग मृत्यु के ग्रास बने। इसके अतिरिक्त 1898 में गर्मी के समय समस्त मुंडा अंचल में हैज़ा महामारी का फैलना, जिससे सैकड़ों आदिवासी चिकित्सा के अभाव में मृत्यु के ग्रास बने। इससे आदिवासी कृषकों में हाहाकार मच गया। इस अवस्था में बिरसा एवं उसके अनुयायी 1897 के जनवरी महीने में जेल से मुक्त होकर मुंडा अंचल में वापस आए। बाहर आकर मुंडाओं की यह चरम अवस्था देखकर बिरसा और स्थिर न रह सके।"

यद्यपि बिरसा का कारादंड अढ़ाई साल का था, उनकी रिहाई अढ़ाई–तीन महीने बाद ही हो गयी। महाश्वेता ने पहले अध्याय में उनकी गिरफ्तारी के वर्णन से लेकर पन्द्रहवें अध्याय (1897 के नवम्बर में बिरसा छूटा पृ0– 140) तक इसे खींच कर ले जाकर बिरसा की रिहाई की बात लिखी है। किन्तु मियाद पूर्ण होने के पहले ही बिरसा की रिहाई क्यों हुई, इसके प्रकाश में महाश्वेता देवी और सुप्रकाश राय कुछ स्पष्ट नहीं कर पाए हैं। सच्चिदानंद अपने ग्रंथ में स्पष्ट रूप से लिखते हैं :– "He kindled the flame of revolt that was burning in heart of the Mundas. He exhorted his followers to rise against foreigners. A force was sent against him and after some struggle he was arrested and sentenced to two and half years imprisonment. On occation of Queen Victoria's Diamond Jubilee in 1897 he was released."

एशियाटिक हैज़े के प्रादुर्भाव और जर्मन मिशन के शिक्षा के प्रभाव से बिरसा का हैज़ा प्रतिरोध के लिए मुंडाओं के बीच आ खड़ा होना और उसके फलस्वरूप महामारी का स्थागित हो जाना ये सभी वर्णन महाश्वेता के उपन्यास 'जंगल के दावेदार' में मिलते हैं, जिसके चलते बिरसा भगवान के रूप में और विश्वासयोग्य हो उठा। सुप्रकाश राय ने भी अपने ग्रंथ में हैज़े के संबंध में लिखा है। सच्चिदानंद तो लिखते ही हैं :– "On his release his influence increased and he started the work of organising resistance in right earnest. Famine, scarcity and small pox which ravaged the land of the Munda between 1897-99 gave him an excellent opportunity for social service"

विभिन्न लेखकों की रचनाओं में हैज़ा या चेचक के बारे में तथ्यगत अन्तर देखने को मिलता है। किन्तु 'जंगल के दावेदार' में हैज़े के प्रतिरोधक के रूप में बिरसा की भूमिका आलोकप्राप्त गुणी या ओझा के रूप में उभरकर सामने आती है। रोगियों के कष्ट–भोग–मृत्यु की गणना उस तरह प्रकाश में नहीं आ पायी है। "स्पर्शआतुर मानवीय वेदना से भी वस्तुवादी ऐतिहासिकता को 'अंगीकारबद्धता' की भावना ज्यादा मुखर या प्रकाश में आ पायी है। हो सकता है कि इसीलिए वेदना बोध की भावलोलुपता को लेखिका ने छोड़ दिया हो। या ऐसा भी हो सकता है कि प्रत्यक्ष अनुभव की अभिज्ञता के मुँह में ईश्वरीय वाणी के रूप में हैज़े से बचाव का दिशा निर्देश दिलवाया हो।

धर्म एवं राजनीति को एकत्रित करके मुंडा लोगों के बहुईश्वरवाद से एकेश्वरवाद में लाने की चेष्टा भी बिरसा ने की थी। इस बारे में सुप्रकाश राय लिखते हैं–"स्वजातियों की मुक्ति साधने में निवेदित प्राण ही इस मुंडा नायक को उसके धार्मिक और राजनैतिक संग्राम के बीच से मुंडावासियों के भीतर जो नई चेतना का संचार करता है, उनके मध्य (बीच) मनुष्य बन के बचे रहने की जो तीव्र आकांक्षा पैदा कर देता है, उसी के लिए उसे (बिरसा) भगवान के आसन पर बैठा दिया जाता है। आज भी बिरसा उस उच्च आसन पर प्रतिष्ठित है।"

धर्म में विप्लव लाने के मूल में राजनीति कार्य करती है। 'जंगल के दावेदार' में महाश्वेता इसी भाव को चित्रित करना चाहती थीं। मुंडाओं के मध्य एक तीव्र संस्कृति की बुनियाद बनानी होगी 'मुंडारी राज' की प्रतिष्ठा के लिए। इसलिए एक सहज, सुंदर, कर्मकाण्ड और रूढ़िगत विश्वासों से रहित धर्म की आवश्यकता है। इसलिए बिरसा ने भगवान बनकर धर्म में क्रांति लाना प्रारम्भ कर दिया। इसी के साथ मुंडारी स्वाधीन राज की धारणा को भी व्यक्त होते हुए देखा जा सकता है।" मुंडा लोगों को जंगल का अधिकार चाहिए–आदिम युगों की भाँति ! आदिम (खुटकट्टि) ग्राम व्यवस्था चाहिए। अबाध जीवन की भाँति जीवन का रहन–सहन चाहिए (पृ0– 185.86)।" "साहब और सरकार के साथ लड़ाई ..... उलगुलान सहज ही होने वाला नहीं....." (पृ0– 226)

महाश्वेता द्वारा चित्रित मुंडाओं के इस स्वप्न या परिकल्पना के बीच एक विरोध या असामंजस्य लक्षित किया जाता है। इसमें दिखाया गया है कि नये समाज जीवन व्यवस्था की तैयारी के लिए पुराने युग के धर्म को त्याग करके बिरसाइत होना पड़ेगा। जिस व्यवस्था को फिर से वापस मांगा जा रहा है– वह है भी आदिम ग्राम–व्यवस्था।' जिसमें आदिम ग्राम व्यवस्था को छोड़कर नयापन कुछ भी नहीं है।

मुंडाओं के बहुईश्वरवाद के बदले धर्म एवं राजनीति को एकत्रित करके बिरसा ने जो चेष्टा की थी, उसके मूल्यांकन में सुप्रकाश राय लिखते हैं– "स्वजातियों की मुक्ति चेतना के लिए अपने प्राणों को उत्सर्ग कर देने वाली इस मुंडा नायक ने उनमें धर्मीय एवं राजनैतिक संग्राम के जरिए जो नई चेतना का संचार किया, उनके बीच मनुष्य बने रहने की जो तीव्र आकांक्षा जगा पाया, उसी के लिए उन्होंने भगवान के आसन पर बिठा दिया" आज भी वह उसी आसन पर बैठा है।

महाश्वेता ने बिरसा के धर्मों की आचरण विधि के बारे में लिखने के बावजूद उसके नये धर्म के मूलतत्व एवं उत्समूल को 'जंगल के दावेदार' में अनुपस्थित रखा है। जबकि बिरसा के संग्राम का क्षण स्थायित्व उसके धर्म के उत्समूल में ही निहित है। सच्चिदानंद के Cultural change in tribal Bihar Munda and Oroan' नामक ग्रंथ में यह स्पष्ट व्याख्या है :– "His early chilhood was spent in Khantanga where he came into contact with Christion Missionaries. It was in their association that he picked up reading and writing. After some time Birsa joined Anand Panre in Gourbera as his domestic servant. The latter receited stories from the epics by which Birsa greately impressed. At this time he also visited the neighbouring village of Bamhani where a reputed Vaishnava saint gave discourses on Bhakti. He was so profoundly influeneed by the doctrine of non-violence preached by the saint that **he gave up hunting and non-vegetarian food**..... The edifice of his cult, a blending of Hinduism and Christinity, was built on the foundation of Munda culture.....Although his religion is no longer an active force now, his memory is enshrined in the heart of the Munda people as Dharti Aba or Bhagwan."

बहु ईश्वर की आराधना बन्द करना, सिंगबोंगा एवं अन्य बोंगाओं की आराधना बन्द करने का देव निर्देश का प्रचार बिरसा ने किया। उसके देव रूपातंर में विश्वासी मनुष्यों (उसके पिता

और माता भी जिसमें सम्मिलित थे) ने निस्संशय अथवा अनिच्छा रहने के बावजूद उसे देवता मान लिया था। ऐसी गुरुत्वपूर्ण वर्णना महाश्वेता ने विस्तार से अपने उपन्यास में की है :–

किंतु सभी मुंडाओं ने अपने पुराने बहुईश्वरवाद को छोड़ा नहीं। वे सिंहबोंगा एवं अन्य बोंगाओं की पूजा बन्द करने के लिए प्रस्तुत न थे। बहुत–से बिरसाइयत ही बिरसा के धर्म में आस्था खो रहे थे, इसकी कहीं महाश्वेता देवी ने अपने आख्यान में चर्चा तक नहीं की।

बिरसा अपने ईश्वरीय शक्ति में स्वयं विश्वास करना आरम्भ कर दिए थे, इस धारणा के ऐतिहासिक तथ्य एवं सैद्धांतिक आधार रहे हैं। महाश्वेता ने भी लिखा है "बिरसा जानता था कि बन्दूक में क्या क्षमता होती है। किंतु वह तो भगवान.....किन्तु बिरसा यह भी जानता था, कि हार–जीत सफलता–विफलता से सभी युद्धों को विचार नहीं किया जा सकता।....." किन्तु यह वक्तव्य उस काल की कसौटियों पर चढ़ा दी गई है, एवं वर्तमान समय में बिरसा आंदोलन का मूल्य बिरसा पर आरोपित हुआ है। क्योंकि जिस समय में आन्दोलन की 'सफलता–व्यर्थता' के मूल्यांकन की आवश्यकता थी उस समय के बीच बिरसा की मृत्यु जेल में 'हैज़े' (निश्चय ही संदेह है कि यह रोग या अंग्रेज की साजिश के चलते) से हो गई।

मुंडा विद्रोह में बिरसाइतों एवं अंग्रेज वाहिनी के बीच हुए युद्धों का रूप और प्राकृतिक ऐतिहासिक वर्णन सच्चिदानंद के एक ऐतिहासिक ग्रंथ में पाया जाता है:–

"Later on Troops are called out by government and the find showdown took place on Dumbari Hill on the 9th January 1900. About 200 men and women children were killed. Ultimately the rebal forces dispersed. Birsa was arrested------I"

इस सम्बन्ध में सुप्रकाश राय अपनी पुस्तक 'भारत में विद्रोही संग्राम का इतिहास' में लिखते हैं– "सेना एवं सशस्त्र पुलिसवालों की कुल संख्या मात्र 300 थी"। सुप्रकाश राय और भी लिखते हैं– "विद्रोहियों ने चारों तरफ फैल कर राँची एवं सिंहभूम जिले में लगातार दो महीने तक युद्ध जारी रखा।" किंतु यह तथ्य विश्वासयोग्य नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि नेतृत्वहीन, आग्नेयास्त्रहीन और लक्ष्यविहीन विद्रोहियों द्वारा लगातार दो महीने तक युद्ध जारी रखना युद्ध के नियमानुसार मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव भी था। महाश्वेता भी उपन्यास वर्णना में लिखती हैं:–".....साहब और सरकार के साथ लड़ाई।.....उलगुलान सहज होना सम्भव नहीं है।"

वास्तविकता के पक्ष में सच्चिदानंद द्वारा वर्णित इतिहास ही ग्रहणयोग्य है। अर्थात् विद्रोह अपनी शुरुआत 24 दिसम्बर 1899 को बड़े दिन की देर रात से लेकर 9 जनवरी 1900 ई0 तक चला। अर्थात मात्र 16 दिन में युद्ध समाप्त हो गया था। किसी–किसी क्षेत्र में महाश्वेता के उपन्यास में इतिहास की भ्रांति देखी जा सकती है जिससे उपन्यास ऐतिहासिक धरातल से दूर खड़ा दिखलाई पड़ता है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में ही आदिवासी अपने वनों एवं वन्य सम्पदा से विजड़ित एवं निर्मूल हो रहे थे, जिसके चलते आदिवासियों को विद्रोह एवं विक्षोभ बढ़ता रहा। कोल एवं मुंडाओं के विद्रोह के बारे में हमलोग इस अध्याय के शुरू में ही जानकारी प्राप्त कर चुके है। इस काल में अन्य आदिवासी जातियों ने भी कई बार विद्रोह किया। इसके फलस्वरूप एक कानून बना, जिसके द्वारा आदिवासियों को बहुत कम अधिकार दिए गए लेकिन इसी के साथ–साथ राष्ट्र के शासन तंत्र के लिए पुलिस एवं सामरिक वाहिनियों का कार्य–व्यापार बढ़ने लगा। 'जंगल के दावेदार' उपन्यास में 'अधिकार' या 'Legal right' का प्रश्न उठता है। "देखा जाता है कि जो मुंडा कानून नहीं जानते, अदालत नहीं जानते, जज क्या बोल रहा है नहीं जान पाते, वे प्रचलित निवासों का अधिकार खोने लगे"। अधिकार रक्षा के लिए असहिष्णु विद्रोह या प्रतिवाद करने से सेना या पुलिस वाहिनी द्वारा उन्हें दबा–कुचल दिया जाता। जिसके फलस्वरूप ब्रिटिश द्वारा प्रचालित 'कानून की पवित्रता' (Corpus of British law) के प्रति उनमें भय और घृणा पैदा हो गई। क्रमशः उनके मन में यह बात बैठती गई कि ब्रिटिश कानून में यथार्थ विचार या सत्य विचार नहीं है। 'जंगल के दावेदार' में इसी उपलब्धि को संचारित होते देखा गया है: सरदार केस करने गए, केस हुआ क्या ? कानून के समक्ष उनकी बात खड़ी हो पायी ?

फिर कानून का यह अधिकार प्रायः बाजार के क्रय द्रव्य में परिवर्तित हो गया, जब देखा गया कि अदालत के शरणापन्न होने जाकर मुंडा लगातार प्रताड़ित होते। इतिहासकार सुमित सरकार के 'Modern India' ग्रंथ (मैकमिलन इंडिया द्वारा प्रकाशित, 1983–84, पृ0–46. 47) में लिखा गया है– "In the early 1890s, the tribal chiefs (Sardars) attempted to fight the alien land lords and the imposition of Beth Begari (forced labour) in the courts, through a Calcutta based Anglo-Indian lawyer who seems to have cheated them. A missionary reported the Sardars as complaining- "We have appealed to the Sarkar for redress and got nothing. We have turned to the missions and they too have not saved us form the Dikus. Now there is nothing left us but to look to one of our own men." फिर बैरिस्टर जैकब जैसा ऐतिहासिक व्यतिक्रम चरित्र भी था। महाश्वेता 'जंगल के दावेदार' में इसी जैकब को कोमल बृहद हृदय के साथ महत्वपूर्ण रूप से चित्रित करके दिखलाती हैं कलकत्ते का साहब कानूनविद जैकब 'स्वयं के खर्च' पर केस का दायित्व लेते हैं, "जिस कानून में सभी आपत्तियाँ दर्ज हों, यह कानून पास होने से मुंडाओं को एक आना लाभ होता और जमींदार को पन्द्रह आना।"

लक्ष्य करने लायक विषय यह है कि धनतंत्र में आदिवासियों को कानून तक खरीदना पड़ता है। जबकि कानूनवाला शासकवर्ग उनकी सम्पत्ति को अपने अधिकार में करके उन्हें खत्म कर दे रहे थे। मानवदर्दी जैकब साहब द्वारा खर्च ना लेने के बावजूद उनके इस महत्वपूर्ण कार्य द्वारा धनतंत्र का पण्यरूप, कानून का पण्यरूप खत्म नहीं हो जाता।

महाश्वेता की पुस्तक में सरकारी तथ्य इत्यादि जो हैं, उनके अतिरिक्त हजारी प्रसाद की चिट्ठियाँ भी सम्मिलित होती हैं। इस हिसाब से कहा जा सकता है कि यह निचले तबके के इतिहास के सार सत्य का अन्वेषण करता है या पाठकों के समक्ष इतिहास को बनाने का प्रयत्न–प्रयास करता है।

इतिहास एवं उपन्यास – दोनों का एकाकार होना वांछनीय नहीं है। 'जंगल के दावेदार' में ये घटा भी नहीं है। महाश्वेता ने इस उपन्यास में मुंडा विद्रोह के मूल निर्णायक तत्व उसके अपने मूल रूप में रखे हैं। मूल तथा केन्द्रीय चरित्र बिरसा के जीवन के परम्परागत विकास के लिए महाश्वेता को कल्पना की जरूरत अधिक पड़ी है। यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि वे उपन्यास लिख रही हैं, इतिहास नहीं। जिस देश में डेढ़ सौ वर्षों से इतिहास चर्चा का मतलब राजाओं, महाराजाओं, जमींदारों के सिंहासन आरोहण, अवरोहण की कहानी हो, उस देश में स्वभावतः जंगलवासियों के जीवन और संग्राम का व्यवस्थित इतिहास मिलना कठिन है। बल्कि नयी इतिहास दृष्टि या चेतना विद्रोह क्षेत्र की तत्कालीन नजदीकी जन प्रतिश्रुत है। दायित्व स्वीकार करने का अपराध समाज कभी क्षमा नहीं करेगा। मेरा बिरसा केन्द्रित उपन्यास उसी प्रतिश्रुति का ही परिणाम है।

17.6 सारांश

मुंडा समाज ग्राम व्यवस्था पर आधारित है। मुंडा छोटा नागपुर के इलाके में रहते थे और जंगल को साफ करके गाँव तैयार करते थे। शुरू में गाँव के मालिक खुद थे और उन्हें किसी को लगान नहीं देना पड़ता था।

इस उपन्यास का नाम मूल बांगला नाम के अनुसार है 'जंगल का अधिकार (अरण्येर अधिकार)। वास्तव में जंगल पर जिनका मूलतः अधिकार था वे सरकारी नीतियों के कारण उस अधिकार से वंचित हो गए। उन्हें जमीन के लिए लगान देना पड़ा और लगान की बढ़ती राशि की पूर्ति करने के लिए वे ऋण लेने लगे। और ऋण न चुका सकने की स्थिति में वे अपनी जमीन से बेदखल होते गए। शुरू में जो जंगल के मालिक थे शोषण के कारण वे गरीबी की गर्त में चले गए।

उनकी संस्कृति पर भी बाहर के लोगों का दबाव पड़ने लगा। ईसाई मिशनरी मुंडाओं को ईसाई बनाने में लगे हुए थे, फिर भी वे मुंडाओं को और उनकी संस्कृति को हेय समझते थे। इस तरह मुंडाओं के सामने अस्तित्व का सवाल उठ खड़ा होता है। इस संदर्भ में वे अपने

अधिकार के लिए किस के पास जाएँ ? कहीं कोई सहारा न पाकर मुंडा विद्रोह कर उठते हैं जिसका नेतृत्व बिरसा मुंडा संभालता है।

इस विद्रोह को उलगुलान कहा जाता है, जिस शब्द में इस विद्रोह को धर्मयुद्ध की अर्थच्छटा दी जाती है। 19वीं शताब्दी के अंतिम छह वर्षों में (1895-1900) मुंडाओं ने दो बार विद्रोह करने का प्रयत्न किया। ब्रिटिश शासन उनके विद्रोह का सामना करने के लिए पूरी तरह से सन्नद्ध थे। उनके पास भेदी थे, हथियार थे, और सैनिक बल था। मुंडा विद्रोह टिक नहीं पाया। मुंडाओं ने बाहरी लोगों के दमन और शोषण से अलग होकर जिस 'मुंडारी राज' को प्रतिष्ठा के सपने देखें वे जून 1900 में बिरसा की जेल में मृत्यु के साथ ही टूट और बिखर जाते हैं।

महाश्वेता देवी ने इस विद्रोह के संदर्भ में कथानायक के रूप में बिरसा मुंडा और अन्य साथी मुंडाओं की कहानी प्रस्तुत की है। उनकी सहानुभूति बिरसा और मुंडाओं से तो है ही, वे इस कहानी के माध्यम से एक सवाल उंठाती हैं जो व्यक्तियों के अधिकारों और उनका हनन करने के लिए प्रयोग में लाये जाने वाले दमन चक्र से संबंधित है। महाश्वेता देवी कहती हैं कि शोषण और दमन के विरुद्ध चेतना को उजागर करना लेखक का दायित्व है और बिरसा केन्द्रित इस उपन्यास में वे इसी दायित्व का निर्वाह कर रही हैं।

17.7 प्रश्न

निबंधात्मक

1. मुंडा विद्रोह के कारणों और कमजोरियों का वर्णन कीजिए।

टिप्पणियाँ

1. मुंडा समाज की स्थिति और ह्रास
2. जंगल के दावेदार के द्वारा महाश्वेता देवी का संदेश

इकाई 18 कथानक एवं चरित्र

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 कथा सूत्र

18.3 बिरसा मुंडा का चरित्र चित्रण

18.4 अन्य पात्र

- 18.4.1 धानी मुंडा
- 18.4.2 शाली
- 18.4.3 अमूल्य

18.5 सारांश

18.6 प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस इकाई में 'जंगल के दावेदार' के कथानक और मुख्य पात्रों की चर्चा की गई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- तत्कालीन परिवेश का वर्णन कर सकेंगे;
- 'जंगल के दावेदार' के कथासूत्र का वर्णन कर सकेंगे;
- बिरसा मुंडा की चारित्रिक विशेषताओं की समीक्षा कर सकेंगे; और
- धानी मुंडा, अमूल्य, शाली इन तीन अन्य चरित्रों की विशेषताएँ बता सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

जंगल के दावेदार एक चरित काव्य है, जीवनी परक उपन्यास है। इसलिए इसमें कथासूत्र बुनने या कथा नायक का काल्पनिक वर्णन करने की गुंजाइश नहीं है। लेकिन कथाकार ने वर्णन के लिए जिस पात्र को चुना, उसे वे शोषण और दमन के प्रति संघर्ष का प्रतीक बनाती हैं। उसमें अदम्य साहस है, दुश्मनों से लोहा लेने और अपने लोगों को नेतृत्व प्रदान करने का सामर्थ्य है। बिरसा स्वयं ही अपने इस गुरुतर दायित्व को पहचानता है और स्वयं को भगवान या मुंडा लोगों का 'आबा' घोषित करता है। यही नहीं, स्वयं लेखिका उसकी इस महत्वपूर्ण विशेषता को रेखांकित करती है, जो इस चरित्र को उदारता प्रदान करता है।

अमूल्य का चरित्र भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि वह उन 'दिकु' लोगों का प्रतिनिधि है, जिनके खिलाफ़ मुंडाओं का संघर्ष है। इसके बावजूद उपन्यासकार ने बिरसा और अमूल्य में मानवीय संबंधों की प्रगाढ़ता का वर्णन किया है, जो इस देश की एकता का मूलमंत्र है।

18.2 कथा सूत्र

'जंगल के दावेदार' की शुरुआत ही बिरसा की मृत्यु के वर्णन से होती है। उसके मृत शरीर के क्रिया–कर्म के खत्म हो जाने के बाद ही उसके जीवित काल का आख्यान शुरू होता है। 1895 से 1900 ई. तक मुंडा जन–जीवन में बिरसा को सालीटरी सेल में विरामहीन चलते

देखना, कनु मुंडा द्वारा बिरसा को शैशव–क्षिप्रता से देखना, धानी मुंडा का आक्षेप–इत्यादि विषय एक पारस्परिक क्रम के अनुच्छेदों में वर्णित न होने के बावजूद इनमें एक संलग्नता दिखलायी पड़ती है। इस संलग्नता का मूल सूत्र है बिरसा मुंडा का दिपदिपाता जीवन। 1900 ई. 2 जून को राँची जेल में सुपरिंटेन्डेन्ट के ज्ञापन ने अचानक उस जीवन स्पंद को चादर से ढक दिया। 'उसे हैज़ा हुआ है, और वह नहीं बच सकता', सुपरिंटेन्डेन्ट के इस घोषणा के आठ दिन बाद 9 जून 1900 ई. को बिरसा की मृत्यु के रहस्य को खोलकर उपन्यास समाप्त हो जाता है।

उपन्यास की शुरुआत में ही बिरसा की मृत्यु और फिर 18 पृष्ठों तक बिरसा की मृत्यु के कारणों एवं मृतदेह के दहन का वर्णन किया गया है। वास्तव में, 'उपन्यास' साहित्य के प्रांगण में लेखिका बिरसा की वीरगाथा का ही वर्णन करने में लगी थीं। इसलिए यहाँ अवसान, विच्छेद एवं विलीन होने का भी दीप्त वर्णन मिलता है। महाश्वेता अपनी क्रांतिकारी जीवनधर्मिता से ही शब्दों को लेकर बिरसा के चिता में भस्मी होने के कारणों को लिखती हैं:– "बिरसा को घेर कर आग लपक कर आकाश की ओर उछल पड़ी।" (पृ.–22)

बिरसा की मृत्यु एवं दाह संस्कार को भी महाश्वेता पवित्र क्षण के रूप में एकाकार (coincide) करना चाहती थी। इसलिए दिखलाती हैं कि बिरसा का दाह संस्कार जब समाप्त होता है– उस वक्त सुनारा जेल में मर रहा है। यह मृत्यु लेखिका के परिपार्श्विक वर्णन–चित्रण को आगे बढ़ाती है। शवदाह समाप्त होते–होते शिवन मेहतर पागल हो जाता है लेकिन पागल या उन्मादी होने के बावजूद उसके मुख से यह पवित्र घोषणा निकलती है–".....उलगुलान का अंत नहीं है।.....भगवान का मरण नहीं होता।....."(पृ. 27)

बिरसा की मृत्यु से उपन्यास शुरू होता है और घटना पीछे की तरफ चलने लगती है। जैसे लगता है दूरबीन को उल्टे पकड़कर समय को पीछे की तरफ देखना। इसलिए 9 जून के वर्णन के बाद मई के अंतिम सप्ताह का वर्णन इसके बाद 3 फरवरी 1900 ई. का वर्णन। इसी दिन बिरसा को पकड़ा गया था। आख्यान के शुरू से ही लेखिका इतिहास की दलील को उद्घाटित करती हैं। 1900 ई. के फरवरी महीने से बिरसा को बिना विचारे जेल में बंदी बनाकर रखा गया था। मई महीने की 30 तारीख से 9 जून तक लगातार बिरसा जेल में कारावास भुगतता रहा। 9 जून को उसकी मृत्यु के पश्चात् साधारण लोगों और मुंडाओं में व्याप्त इस गणनायक के प्रति भगवान के विश्वास को (धारणा को) तोड़ने और नष्ट करने के लिए जेल सुपरिटेन्डेन्ट एण्डरसन ने अन्य 460–470 कैदियों को बिरसा की लाश की बगल से होकर गुजरने के लिए आदेश किया, जिनके हाथ–पाँवों में डन्डाबेरी जैसी कठिन अवस्था थी। भरसी मुंडा विह्वल, भावाच्छन होकर करुण गीत गाने लगा, जिससे सुपरिटेन्डेन्ट एण्डरसन और गुस्सा हो उठा। यहाँ तक की लाशघर का डोम तक एण्डरसन के सामने मृत बिरसा को भगवान कहके उल्लेख कर बैठता है।

उपन्यास द्वन्द्व के मूल केन्द्र में है मुंडाओं के अस्तित्व का संकट एवं उससे मुक्त होने के लिए उनके प्रयास अर्थात् लेखिका दिखलाना चाहती हैं कि व्यक्ति बिरसा जो अवतार सुलभ भावमूर्ति, विद्रोह और संगठन का निर्माणकर्ता है, उसका भी उत्थान समय और समाज द्वारा होता है। लेखिका के वर्णन में उस समय और समाज का जीवनसत्य तथा मुंडा जातियों का जीवन संकट इस तरह प्रस्फुटित होता है– "धानी की जवानी की जमीन, जंगल, पहाड़, जन्म से मिली मुंडारी दुनिया से मुंडा उखाड़े जा रहे थे।" (पृ. 33)

सवताल और मुंडा इन दो आदिम जातियों का जीवनसत्य एक ही जमीन पर पोषित है– जो है जंगल और जंगल के ऊपर निर्भरशील जीवन। जिसके चलते शोषण और उच्छेद का शिकार उभयपक्ष ही बना, इसलिए 1855 का सवताल विद्रोह 'दामिन–ई–कोह' एवं 1895–1900 का मुंडा जातियों का 'हुल' ये दोनों संग्राम वर्णन में एकाकर हो उठते हैं। घटनाकाल, नेतृत्व एवं पद्धति में पृथक या अलग रहने के बावजूद सवताल विद्रोह एवं मुंडाओं का संग्राम शोषण एवं अत्याचार के विरुद्ध लड़ाई के अन्तर्गत ही था। 'हुल' एवं 'उलगुलान' (1855 एवं 1895–1900) की विद्रोही परम्परा के मध्य में एक और पारम्परिक विद्रोह 'मुल्क की लड़ाई' का नाम आता है। मुंडा सरदार एवं ईसाई मिशनरियों के मुंडाओं के नेतृत्व में यह लड़ाई दस सालों तक

चली। यह लड़ाई जब चल रही थी, तब बिरसा शैशव काल में था। धानी मुंडा ने शिशु बिरसा में भविष्य के नेता के लक्षण को देख लिया था। इस लड़ाई का योद्धा धानी मुंडा सरदारों को बोलता हैं "अब दुख किस बात का? बीस वर्ष का हो जाने दो, भगवान को पाओगे। यह भगवान मानुष को भूलता नहीं, गोद में झूलता नहीं, इसके हाथों में बलोया (एक तरह का अस्त्र) रहेंगे, तीर–धनुष रहेंगे।" लेखिका का उद्देश्य स्वाधीन सत्ता को बचाने के प्रयासी एवं परम्परा से लड़ते आदिवासियों की स्तुति में 'उलगुलान' को चिह्नित करना था। इसलिए उन्होंने 'खेरवार' की लड़ाई एवं मुलकई लड़ाई की परम्परा में बिरसा की लड़ाई को ही स्थापित किया है। जैसे ये दोनों लड़ाइयाँ एक दूसरे की सम्पूरक एवं सम्प्रसारण ही हों– "मुलकई लड़ाई चलती रही। धीमे–धीमे, जब बिरसा ने उलगुलान की हाँक लगाई तो सब चले गए" (पृ.– 35) उपन्यास में अंग्रेज शासकों के चरित्र उद्‌घाटन करने के लिए लेखिका उनके द्वारा तैयार उनकी व्यवस्था को भी सामने लाती है। अदालत में न्याय के नाम पर जो प्रहसन संघटित होता हैं उसे प्रकट करने के लिए वे दिखलाती हैं, अंग्रेजों की नयी व्यवस्था की तुलना में विचारहीनता, विचारक एवं विचार प्राप्तकर्त्ता के बीच मानवीय संयोग का व्यवधान था। "हाकिम अंग्रेज था। दुभाषिये और वकीलों ने उसे जो कुछ समझाया उसने वही समझा। आरोपी की बात, किसी मुंडा की बात वे समझते नहीं थे। वे हाकिम अंग्रेजी के अलावा कुछ समझते नहीं थे और मुकदमा करते थे मुंडा, सवताल, उराव, हो,कोल आदि लोगों का ! वकील जो कहता, दुभाषिया जो कहता वही सुनकर फैसला लिखते।" (पृ.–36) सिर्फ अंग्रेजों का व्यसन और विचार व्यवस्था ही नहीं बल्कि मुंडाओं के जीवन में शोषण मुक्ति के पथ में जो दूसरे अवरोधक हैं, उन्हें भी वे चिन्हित करती हैं। वे हैं– "महाजन, ग्राम प्रधान, पुलिस, दरोगा, हाकिम, 'पक्का रास्ता' इत्यादि..... ।" (पृ.–38)

व्यक्ति और समाज अर्थात परिवेश या वातावरण का जो द्वन्द्व उपन्यास के नायक के व्यक्तित्व को संगठित करता है, बिरसा के संदर्भ में वह प्रतिद्वन्दी समाज शक्ति का, मुंडाओं के दारिद्र्य–दग्ध जीवन का आधार था 'समाज' 'राष्ट्र' और 'अभाव' ! ये तीन वर्णनयुक्त शब्द कितने दारुण हैं, बिरसा इसे शैशवकाल से ही देख रहा था। इसलिए अभावग्रस्त जीवन को अतिक्रमित कर उठने की तीव्र आकांक्षा ही उसके जीवन विकास की प्रेरणाशक्ति हो उठी– "उसे बड़े होने की तबियत होती, कोम्ता के साथ जाकर हाट में एक नमक का बोरा, तेल का डिब्बा लाकर करमी को रानी बना देने की साध होती"।

इस तरह के उपन्यास में विभिन्न तरह की अभिज्ञता के बीच शैशव से नायक के जीवन की प्रगति को दिखलाया जाता है। इस तरह के उपन्यास में नायक ही सर्वस्व होता है। अत्यधिक क्षेत्रों में लेखक ही नायक के द्वारा आत्मप्रकाश पाता हैं। 'जंगल के दावेदार' उस तरह का न होने के बावजूद भी क्रमशः बिरसा सर्वस्व व्यक्त हो उठता है। लेखिका बिरसा के पूर्वकालिक समय या पारिवारिक जीवन से ही बिरसा के ऊपर ऐन्द्रजालिक शक्ति का आरोप करना शुरू कर देती हैं। इस तरह के वर्णन में क्रमशः उन्हें इतिहास से दूर जाना पड़ा हैं। करमी को संबोधित कोमता के मुँह से बिरसा के अलौकिक माहात्म्य को लेखिका सामने लाती हैं:" अपने बेटे के गुण नहीं जानती तुम। वह वंशी बजाकर हिरण को बुला लेता है, खामोशी को जमा कर लेता है। वन के पशु–पक्षी उसके बस में हैं।" मूल समाज–संघर्ष के वर्णन के बहुत आगे ही लेखिका नायक के चरित्र पर अद्वितीय लेपन करते–करते आख्यान को आगे बढ़ाने लगती हैं। बिरसा जब एक नितांत गरीब मुंडा परिवार में बहु संतान के बीच परिपालित या पोषित था, तब उसका (लेखिका के वर्णनानुसार)–पिता सुगाना मुंडा भी समझता था कि उसका लड़का बिरसा मुंडा लड़का है–फिर भी वह जैसे 'और (दूसरे) जात' का लड़का हो, और सब की तरह देखने में उसका मुँह और आँख दूसरों की तरह ही था। (पृ.– 42)

बिरसा के व्यक्तित्व पर असाधारणता का आरोप करने के लिए लेखिका इतनी दृढ़ संकल्प होती हैं कि बिरसा के बंसी बजाने की घटना को असाधारण करके दिखलाने के लिए तीन पृष्ठ बंसी बजाने पर ही खर्च कर डालती हैं, जिससे पाठक समझ सके कि ऐसी बंसी बजाने के पीछे अलौकिक शक्ति हैं। इस वंशी की अलौकिकता का वर्णन कोमता, करमी और सुगाना से मुख से ही नहीं होता है, सुगाना के बड़े भाई कानू, गाँव के अन्य मुंडारी औरतों के मुँख से भी क्रमशः बिरसा की इस वंशी बजाने की अलौकिक प्रतिभा का उल्लेख मिलता हैः "लड़का जब वंशी

बजाता है सब मुंडा लोगों के घरों में उसी वंशी को सुनकर भागते खरगोश, भयानक सूअर, वन के हिरण–सब शांत होकर दो–दंड रुक जाते हैं। ऐसा कभी, कहीं देखा है ?" (पृ. 43)

बिरसा में उद्घाटित अद्भुत दैवी क्षमता एवं दार्शनिक–भावुकता की आधाभूमि महाश्वेता देवी मुंडा जीवन से ही आविष्कृत करती हैं। वे दिखलाती हैं कि मुंडा लोगों का जीवन इस तरह की खिचड़ी है जहाँ सब समय ऐतिहासिकता और वर्तमान के द्वन्द्व को प्रकटरूप से देखा जा सकता है। उपन्यास में लेखिका दिखलाती हैं– "मुंडारी जीवन माने हजारों अनुशासन से दबा पिसा, हर क्षण में अनेकानेक विश्वास! आज तुम मुंडारी हो, कल तुम ईसाई हो, फिर मुंडा, फिर इसाई, लेकिन तुम्हारा नाम आज सुगाता, कोमता, डोनका, भरमी, धानी कल पलुस, दाऊद, मेथ्यू, जोहान, अब्राहम–कुछ भी क्यों न हो। खून में रहता है सिगंबोंगा का शासन हरम असुल की त्योरी" (पृ.–52) यह धर्माश्रित जीवनदर्शन दिखलाने के बाद बिरसा की दार्शनिक–भावुकता का उन्मेष और कृत्रिम नहीं लगता है। उपन्यास में देखा जाता है कि खुटकट्टि गाँव में रहते–रहते बिरसा में एक दार्शनिक भावुकता अद्भुत रूप से विकसित होती है। संगोपन में स्वयं का जीवन और व्यक्तिसत्ता को लेकर चिंतन शुरू होता है। परिपार्श्व में वह परिवेश को निरख–परख कर उसके साथ अपने को मूल्यांकित करना चाहता है अपनी अवस्था को महसूसते हुए। ग्रीष्मकाल में एक छोटे से सूखे कदीले जलाशय के सामने असहाय खड़ी एक हरिण का करुणा भरा दृश्य बिरसा की आँखों के सामने उपस्थित हो जाता है। अपने आप को निर्गम, विशेष पराजित और मृत्यु के सामने समर्पित इस हिरण के समान पाता है। उपन्यास वाचक के द्वारा कहा गया है– "बिरसा क्या इस समय वही सांभर है ? चारों ओर मुक्त और बृहत्तर जीवन है; सोचने से भी डर लगता है।.....आजकल वह दिन–रात यही बातें सोचता रहता था। जब सोचता कि इस समय वह कहा है चारों ओर क्या हो रहा है ? यह सब वह भूल जाता, मन में कुछ भी न रहता।" (पृ.–57)

मौसी के पास से मार खाकर खट्टा त्याग करने के युक्तिसंगत सिद्धांत, कुंती बरतौल में कोमता के पास जाने का सिद्धांत एवं बुर्जू के जर्मन मिशन में जाने के सिद्धांत में पीछे की ओर का आकर्षण एवं भावावेगों को दमन करने के बीच से बिरसा के जीवन का नया अध्याय चालू होता है। वह सोचता कि भाग्य उसे 'बाहर घसीट रहा है।' इस नये अभ्यास के बारे में उपन्यास में भी बतलाया जाता है –"बुर्जू का जर्मन मिशन निराला था। बस्ती के बहुत दूर। वहाँ बिरसा का नया जीवन शुरू हुआ। मिशन का साफ–सुथरा, नियमों में बंधा सुन्दर जीवन बिरसा के जाने–पहचाने जीवन से बिलकुल भिन्न प्रकार का था। बिरसा उस जीवन में डूब गया।" बिरसा का चालकाड़ में जाना जैसे उसके जीवन के एक नए अध्याय का सूचक था। उसी तरह दो वर्ष बाद लोयर प्राइमरी पास करके उच्च शिक्षा के लिए बिरसा का चालकाड़ से चाईबासा जाना भी एक नया अध्याय था। इतिहास को इकट्ठा करके उपन्यास लिखने के बारे में खूब ही सचेत रहनेवाली लेखिका अपने वर्णन में दिखलाती हैं– "बिरसा को पता न था, वह चला था एक जीवन से एक दूसरे जीवन की ओर।"

वास्तविकता, इतिहास और औपन्यासिक आख्यान में समानता लाने के लिए उपन्यासकार को एक तटस्थ दूरी बनाए रखना पड़ता है। इस कर्म में इतिहास आधारित उपन्यासकार जितनी दक्षता सूक्ष्मता दिखलायेगा, उतना ही आख्यान का आधार मजबूत होगा। 'जंगल के दावेदार' में महाश्वेता जिस युवक के जीवन को लिपिबद्ध करती हैं, उसका जन्म 1874 में एवं मृत्यु 1900 में 9 जून को होती है। बिरसा को बिरसा मुंडा बनाकर सामने आने में बुर्जू का जर्मन मिशन एवं चाइबासा में पढ़ने जाने के ऐतिहासिक सत्य को हम देख पाते हैं। इस सत्य को उपन्यास में अंगीभूत करने के लिए ही लेखिका बिरसा के जीवन का साल–तारीख के साथ वर्णन करती हैं। "साल 1886 में चार लड़के सुगाना मुंडा के साथ चाइबासा गये थे।" छुट्टी के समय घर आकर अपने परिवेश में बिरसा सरदार आंदोलन को देखता है। तभी से उसके अंदर सोच विचार की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। सरदारों के नेतृत्व में चलने वाली इस मुल्कई लड़ाई में यहाँ तक जर्मन लूथरन चर्च एवं रोमन कैथोलिक चर्च से दीक्षा लेने वाले ईसाई मुंडा भी शामिल थे। बिरसा अपने गाँव में जो सुनकर आया था, वास्तव में वह मुल्कई लड़ाई के अंतिम समय की ध्वनि थी। "मिशन के साहेब और साहेब सरकार–सब एक हैं। साहब लोगों से मुंडा लोगों की कोई भलाई नहीं होगी।" (पृ.–70)

उपन्यास के ऐतिहासिक चरित्रों का चित्रण करते समय लेखिकों ने जैसे लेखन समय (1975) से अस्सी वर्ष पहले के इतिहास की स्थापना की है, वैसे ही अपनी चिंता–भावना एवं मूल्यांकन को भी उपन्यास के वाचन में प्रतिष्ठित किया है, जिससे अपने समय एवं इतिहास के मेल से एक ऐतिहासिक महत्व की सर्वकालीन व्यंजना मिल जाती है। इतिहास के साथ अपने वर्तमान देश–काल के समय को लेखिका संयोजित करती हैं। इसलिए ऐतिहासिक प्रेक्षापट के आधार पर लेखिका जिस घटना का उल्लेख करती हैं, उसका वर्णन वर्तमान समय के उपन्यास के आख्यान को इतिहास के प्रमाण से गंभीर कर देने के लिए ही लेखिका उपन्यास के बीच–बीच में इतिहास की परिक्रमा कर लेती हैं। इस नियम के अनुसार ही लेखिका इतिहास को समाविष्ट करने के उद्देश्य के साथ लिखती है– "साल 1879 में मुंडा लोगों ने सरकार को जो अर्ज़ी दी उसका कोई नतीजा नहीं निकला। 1881 में सरदारों का एक दल मुंडा मिशन को तोड़कर निकल आया था। उन्होंने कहा था हम 'मेयेल' के से चिलरेन (चिल्ड्रेन बच्चे) सही। हमारा नेता एक मुंडा जान द बतिस्ट है। छोटानागपुर के राजाओं का आदिम ठौर दोयेसा जाकर हम राज कायम करेंगे।" (पृ.–73)

मामूली एक नेटिव ईसाई होकर जीवन पथ पर चलते–चलते सरदार आंदोलनों में ईसाई मिशनरियों द्वारा निभाई गयी स्वार्थपरक एकदेशीय भूमिका बिरसा की आँखों को खोल देती है। मिशन में फादर (ईसाई धर्मगुरुओं) की चर्चाओं के द्वारा जो विश्वास ईसाई धर्म के प्रति उसके अन्दर आ रहा था, उसी "अलौकिक ज्योतिर्मय जगत का दरवाजा" देखाने वाले शिक्षक गुरु जब सरदारों को 'धोखेबाज और ठग' के रूप में चित्रित किया तब "बिरसा के अन्दर प्रवाहित मुंडारी रक्त में उबाल आ गया।" तभी बिरसा ने अचानक इतने साहस से प्रतिवाद किया कि फादर लोगों के समक्ष बिरसा के अन्दर निहित मुंडारी अभिज्ञान उन्मुक्त हो उठा। एक नए बिरसा का जन्म होता है। यह चारित्रिक नवजन्म प्राप्त बिरसा मुक्त कंठ से सिर्फ प्रतिवाद ही नहीं करता, अत्यंत कठोरता के साथ फादर के गले से गला मिलाकर प्रतिप्रशन कर डालता है– "सरदारों ने क्या धोखेबाजी की, वे मुंडाओं के अधिकारों के लिए लड़ रहे हैं; कैद हुए, जान दी। वे धोखेबाज हैं? नहीं.....नहीं....."। इसके बाद और अपमानकारी मिशन के जीवन में बिरसा नहीं रहा। मिशन छोड़ कर वह चालकाड़ चला आया। पिता के समक्ष मिशन छोड़ने के कारण को सविस्तार बतलाता है। इस समय विभिन्न तरह के असंतोष रहने के बावजूद बिरसा के समक्ष वरणीय पथ के रूप में कोई निर्दिष्ट दिशा नहीं थी। भविष्य के प्रति शंकित रहने के बावजूद उसके पिता सुगाना मुंडा बिरसा को साथ ले जाकर मिशन से पूरे परिवार का नाम कटवा लाए।

मुंडा सरदारों के दिशाहीन आंदोलन के अंतिम समय में चालकाड़ के अपने पैतृक घर में बिरसा का एकल जीवन–यापन वास्तव में उसकी आत्मजिज्ञासा का उद्‌बोधनकाल था। धानी उसे मुल्की लड़ाइयों में योग देने को कहता है। बिरसा अस्वीकार करता है। धानी पूछता है– "जंगल में पागल की तरह क्यों घूमता रहता है।" इस प्रश्न के उतर में बिरसा की आत्मजिज्ञासा एंव आत्मानुसंधान की गूढ़ (गोपन) खोज प्रकाशित हो उठती है। धानी को वह कहता है– "कितनी ही बातें मन में उठती हैं ! मैं कहाँ से आया ? क्यों आया ? कैसे आया ?" आत्मजिज्ञासा की यह अशांत भावना ही उसे ले जाती है बन्दगाँव के जमींदार जगमोहन सिंह के मुंशी आनंद पांडे के पास। बिरसा ने सुना था कि पांडे सब जानता है।' आनंद पाण्डे के पास जाकर बिरसा ने 'जनेऊ पहना, चन्दन लगाया, तुलसी की पूजा की, रामायण–महाभारत–पुराण सब सुना। कुछ–कुछ पढ़ा लेकिन मन जैसे भरा नहीं। बिरसा बड़ा अस्थिर और बड़ा अशांत रहने लगा।'

बंदगाँव का निस्तरंग परिवेश भी बिरसा के अशांत मन की जीवन जिज्ञासा को शांत नहीं कर पाया। उल्टे वहाँ जप–पूजा और तुलसी माला को अंगुली में फेरने के दैनिक कार्य ने इस धर्म की सारशून्यता को ही उसके मन में उद्‌घाटित किया। इसलिए आनंद पाण्डे एवं उसके भाई सुखनाथ पाण्डे को जप–पूजा और तुलसीमाला को अंगुलियों में फिराने के सम्बन्ध में वह बोल पड़ता है– "उससे तुम लोगों को शांति मिलती है, मुंडाओं को मिलेगी?" अपने धार्मिक मूल के उत्तराधिकार की वर्जनाओं के मूल का विकल्प न पाने के परिणामस्वरूप ही बन्दगाँव में वैष्णव धर्म में सत्य संद्धानकारी बिरसा बोल उठा– "हमलोगों का भगवान अलग है। हम सिंहबोगा की

प्रजा हैं। हरमी ही हमारे आदि पुरुष हैं।" सुगाना मुंडा भरमी–दासों एवं मतारी को बिरसा के पास भेजते हैं। उनके आने के बाद बिरसा फिर प्रवाहित सामाजिक और राजनैतिक घटनाक्रम को स्पर्श करता है। भरमी बतलाती है, सरकार ने सिगरिड़ा गाँव से उन्हें उजाड़ दिया है। पलामौ, मानभूम और सिंहभूम में जंगल के कानून को लागू कर दिया है।".....ढोला पीटा है सब गाँवों में। सारी जमीन–जंगल वापस ले लिए हैं।..... जंगल तो ले लिया अब से कोई जंगल में गाय–छागल (बकरी) नहीं चरा सकेगा। जंगल से काठ–पत्ता, शहद नहीं ला सकेगा। शिकार नहीं खेल सकेगा। जंगल के भीतर जितने गाँव थे, सब उजाड़ दिए।" भरमी लोगों के उच्छेद की कहानी सुनकर बिरसा जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, उसके द्वारा उसके चरित्र के नये रूपान्तर को समझा जा सकता है। सिर्फ वही नहीं, इसी घोषणा, इस पूर्ण उच्चाराण के बीच से जो आग्नेयपूर्ण उद्‌गारों की स्वतःस्फूर्तता सुनी जाती है वह वास्तव में 'जंगल के दावेदार' उपन्यास का भावनिष्कर्ष है।

> "जंगल का अधिकार कृष्ण–भारत का आदि अधिकार है। जब सफेद आदमियों का देश समुद्र के अतल में खोया हुआ था, तब से ही कृष्ण–भारत के काले आदमी जंगलों को माँ के रूप में जानते–पहचानते हैं।" (पृ.– 81)

इस आत्मविश्वासी संवाद के बाद उपन्यास के वर्णन में लिखा है– "बिरसा बोला 'ना'। वही नहीं बोला– उसके रक्त ने उससे कहलवाया था। उसने नहीं कहा, सारा कृष–भारत और सारे काले आदमी उसकी वाणी में बोल उठे थे।"

बन्दगाँव में भरमी के मुँह से पलामौ, मानभूम, सिंहभूम में सरकारों द्वारा मुंडाओं के उच्छेद की कहानी सुनकर बिरसा और निष्क्रिय नहीं रह सका। शुरू हो चुके उसके प्रत्यक्ष और सक्रिय कार्यक्रम। "फिर बिरसा घर न लौटा। वहीं से उनको लेकर चाइबासा चला गया। अर्जी लिखकर जंगल–आफिस में दे आया था।" चाइबासा आफ़िस के बाबुओं द्वारा तुच्छ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार एवं बिरसा तथा उसके साथियों को 'तूँ बोलकर अपमान करना एवं तिरस्कारपूर्ण सम्बोधन के लिए वह प्रतिवाद करता है। मनुष्यता के आत्मसम्मान अर्जन के लिए यह प्रतिवाद से ही समझ में आ जाता है कि सरदारों के आवेदन–निवेदन वाले आंदोलन पथ के न पड़ने वाले प्रभाव को लेकर मुंडा बिरसा कितना सुनिश्चित हो उठा था। वह बोलता है– "तू, तू क्यों कहते हो? आदमी नहीं हैं ? 'साहब' को देखकर आप कहते हो? बनिया देखकर 'तुम' कहते हो? मुंडा देखकर 'तू' कहते हो?" इस प्रतिवाद को रोकने के लिए आफिसर बाबू 'चुप रहो'–बोल उठने पर अब बिरसा अपने स्वरूप को बदल कर, आफिसर को असम्मान सूचक सम्बोधन में बोल उठा– "ए दिकु, मेरा नाम बिरसा है। मैं साहब से नहीं डरता हूँ। ठीक ढंग से बात करो.....नहीं तो तुमको कुचला बाण ढूका दूंगा" (पृ.–82)

जंगल आफिस पर इस घटना के क्षोभ एवं अस्थिरता को लेकर बिरसा बंदगाँव में वापस आकर आनंद पाण्डे के दरवाज़े पर प्रकट होता है। बिरसा ने सरकार के नाम अर्जी दिया है, सरदारों की बातों से परिचालित हुआ है– इस तरह की खबरों को सुनकर आनंद पाण्डे बिरसा को वापस चले जाने को कहता है, क्योंकि ऐसे आदमी को अपने पास रखने से 'जमींदार' गुस्सा हो जायेंगे। बिरसा के सामने इस तरह का व्यवहार अस्वाभाविक या आश्चर्यजनक नहीं था। फिर भी चुपचाप चले जाने की अपेक्षा वह आनंद पाण्डे की तरफ अन्तरभेदी प्रश्न उछाल जाता है– मैं तो चला जाऊँगा। लेकिन तुम एक बात बताओ।.....मुंडा न होता तो क्या भगा देते?.....बेवकूफ, जानवर था–इसलिए गाये चरायीं। बहुत लकड़ियाँ फाड़ीं। आज मुंडा चिल्लाने लगे हैं, इसी से उन्हें और भागते हो यही न?" इस तरह की व्यंग्य बातों से समझा जा सकता है कि बिरसा मुंडा ने सत्ता के आत्मबोध जागरण की पूर्णता प्राप्त की है।

18.2 बिरसा मुंडा का चरित्र-चित्रण

हतभागा गरीब सुगाना मुंडा का लड़का बिरसा। वह चाइबासा के जर्मन लुथरन चर्च में पढ़ने गया था। गरीब घर का यह लड़का "हथेली–हथेली भर का कौर लेकर भात खाकर था।" 'इजार' पैन्ट कैसे पहने जाते हैं, यह नहीं जानता था। उसका जन्म चालकाड़ के बामबा में हुआ था। बृहस्पतिवार को जन्म हुआ था, इसलिए नाम रखा गया बिरसा। उसके शारीरिक वर्णन के बारे

में उपन्यास में लिखा गया है– "शक्ल बड़ी सुन्दर निकल गयी। मुंडा लोगों के घर इतना लम्बा, सुगठित शरीर ऐसी आँखें देखने में नहीं आतीं।" बचपन से ही बिरसा स्वप्नदर्शी था। बचपन में उनके अभावग्रस्त सांसारिक जीवन में जब उसका बड़ा भाई कोमता बड़े होकर हाट (बाजार) से एक बस्ता नमक लाने की बात कहता, तो उस बात की प्रतिक्रिया में ही बिरसा के कवि समान स्वप्नदर्शी होने के परिचय को हम देख पाते है। – "बिरसा भैया के दम्भ की यह असम्भव बात सुनकर अपनी बंसी लेकर निकल जाता। लौकी की खोल से बना दुहला और बंसी दोनों ही उसके लिए जरूरी होते। दुहले की झंकार और बंसी के सुर दोनों ही उसके साथ–साथ घूमते। जंगल में बैठकर वह अपने मन से बंसी बजाता।"

समाज–परिवेश की वास्तविकता के चलते शुरू में उसके स्वप्न छोटे थे। आठ वर्ष की उम्र में उसके मामा निबाई मुंडा उसे उसके मौसी के घर आयूभात ले गये। जहाँ मौसी जोनी के साथ बातचीत करते वक्त उसके स्वप्न की सीमा प्रकट होती है। उसके धारणानुसार 'बड़े होने' का अर्थ था– "माँ को बोरा भर नमक लाकर दूंगा, डब्बा भर दाल और दाना ला दूँगा।" इस बड़े होने के सपने के भविष्य में ही था 'प्रचारक' होना, पाठशाला में पढ़ना, मौसी की गाय चराना, बेड़ा बाँध देना और लकड़ी ला देना। चालकाड़ से चाईबासा आकर उम्र, बुद्धि और अभिव्यक्ति किसी में भी बिरसा के अन्दर कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। उसके स्वप्न तब भी खंडित ही थे। बड़े होने पर वह क्या होगा–दूसरों से साग्रह वह यह प्रश्न करता। पर वही प्रश्न अपनी तरफ पाकर वह हक्का–बक्का हो उठता, बोलता, "लिखना–पढ़ना सीखूंगा, बहुत सा लिखना–पढ़ना। उसके बाद कचहरी जाकर, बाप को अपनी जमीन लौटाऊँगा" और क्या करोगे ? इस प्रश्न के जवाब में कहता है "प्रचारक बनूँगा। सब को यीशु की बात बताऊँगा।" इसके बाद ?" इस तीसरे बार के एक ही प्रश्न का उत्तर नहीं है उसके पास, इसलिए कहता है– "तब देखा जायेगा।"

बिरसा के पास जंगल में रहकर जंगल को लेकर स्वप्न देखने की कोई सीमा नहीं थी। जंगल को वह अपने अधिकार की सम्पत्ति समझता। जंगल में आते ही वह समाज और परिवार की बात भूलकर स्वप्न देखने लगता। इस तरह अपने को भूलकर अपने में रहने का अभ्यास बिरसा में निर्मित हो गया था। एक दिन धानी मुंडा को वह कह बैठता है– "यह जंगल मेरा है।" शैशव एवं परवर्ती यौवनकाल में भी जंगल के लिए बिरसा के अन्दर एक अदम्य आकर्षण था। इसलिए दुख, विषाद एवं जिस कारण भी मन अशांत होने से वह जंगल में जाकर शांति पाता। यहाँ तक की यौवन (युवा समय) में मुंडा जाति के मुक्ति के सम्बन्ध में रास्ता खोजने में अस्थिर होने के वक्त भी देखा जाता है कि बारसा "सब मेरा है, कोई कानून मुझे रोक नहीं सकता– कहते–कहते वह जंगल के अन्दर घुसा जा रहा था।" शैशवकाल से ही बिरसा के चरित्र का एक बड़ा भाग था, उसकी पारिवारिक मानसिकता। खांटगां में मौसी के घर से निकलकर वह कुंती बरतोलि में बड़े भाई के पास पहुँचता है। उस रात बड़े भाई कोमता के साथ वह जो बातचीत करता है वह उसकी पारिवारिक सहृदयता की अनुभूति कराती है। उपन्यास में इस अंश के वर्णन में मिलता है, "बिरसा और उसके बड़े भाई के बीच बचपन से लेकर गहरी हमदर्दी और मेल–मिलाप है। बिरसा अगर देखे कि उसका 13 वर्ष का भैया भूरा मुंडा की रोगी और बदशकल लड़की से शादी कर रहा है–तो कोमता को कुछ समझाना न होगा, बिरसा जान जायेगा कि कोमता यह काम कर रहा है, गृहस्थी जमाने के लिए।" सिर्फ पारिवारिक ही नहीं, समाज और पास–पड़ोस सभी के मनों को जीत लेनेवाला चरित्र बिरसा के पास था। आठ वर्ष की उम्र में ननिहाल जाकर नाग जोनि के पास आयुभातू में रहकर मामी का सबसे प्रिय हो उठा था। शालगा की पाठशाला में पढ़ने जाकर शिक्षक जयपाल नाग का गंभीर महत्त्व भी वह पाता है एवं आयुभातू में समान उम्र के लड़कों के बीच वह खूब लोकप्रिय हो उठता है। जर्मन चर्च में पढ़ने जाकर वह सहपाठियों के बीच एक गंभीर प्रेम के बंधन में पड़ जाता है। छुट्टी के बाद मिशन में वापस लौटते समय देखा जा सकता है कि मुंडा लड़के बिरसा की प्रतीक्षा कर रहे हैं क्योंकि बिरसा को वे 'पहान' अर्थात प्रधान या सरदार अर्थात दलनेता मानते हैं। बंगाली सहपाठी अमूल्य के बारे में मुंडा लड़के उससे अपनी असहिष्णुता एवं अपसंद की बात सुनाकर उसे भी अमूल्य के साथ सम्पर्क न रखने की बात करते हैं। वहाँ बिरसा की अभिव्यक्ति से उसके सहजात नेतृत्व क्षमता के बारे में समझा जा सकता हैं। प्रथम में ही क्रोध से उसकी "आँख लाल हो आयीं।"

इसके बाद वह मुंडा सहपाठियों को तिरस्कारपूर्ण बातों से तिरस्कृत करता है एवं स्वयं को इस गुप्त सलाह–मशविरा एवं समझाने–बुझाने से अलग कर लेना चाहता है। कहता है "मैं उसे नहीं छोड़ूँगा, उसके लिए अगर तुम मुझे छोड़ते हो तो छोड़ दो।" उसके इस आत्म प्रहार की घोषणा तत्काल कार्य करती है। सभी मुंडा लडके अमूल्य को अलग रखने का सुझाव त्याग देते हैं– " लड़के एक–दूसरे की ओर देखने लगे। उसके बाद टेंगा बोला–झूठ–झूठ के लिए आँख क्या लाल कर रहा है ? तू हमलोगों में सबसे अच्छा है। तू अगर चाहता है, तो उसे दोस्त रखेंगे।"

परिवार एवं पास पड़ोस में सभी का प्रियपात्र बिरसा जंगल में सब कुछ हाथ की हथेली की तरह जानता है। "ग्रीष्म में वन के पानी के सारे झरने, तलैया, नदी सूख जाते। कहीं–कहीं फिर भी पानी रह जाता, जिसका पता जीव–जन्तुओं को रहता था और रहता था बिरसा को।" प्रकृति के गोद में पालित बिरसा मुंडा के जीवन में गरिमापूर्ण परिवर्तन की शुरुआत होती है जयपाल नाग की पाठशाला में भर्ती होने से। उपन्यास के विवरण में लेखिका बतलाती हैं– "नन्हा बिरसा किसी तरह किसी से कभी नहीं डरा। बड़ा वह बनेगा ही बहुत बड़ा। खट–खटकर वह जंगल की राह पैदल सालगा से आयूभातू आता और जाता।"

'जंगल के दावेदार' में लेखिका द्वारा केन्द्रीय चरित्र बिरसा के अन्दर नायक की विशिष्टता का संचार करने के बावजूद जातिगत जीवन–लग्नता से उसे अलग करके कल्पना मानव नहीं बनाती हैं। यह लेखिका के वास्तविकता बोध का परिचय दिलाता है। इसलिए प्राचीन मुंडा संस्कार बोध से प्रेरणा लेकर इस जाति के उदीयमान नायक के अन्दर इस जाति की चारित्रिक विशिष्टताओं को आरोपित करती हैं एकदम उसी तरह जिस तरह की घटना घट सकती हैं। लेखिका कहती हैं– "बिरसा इन्हीं विश्वासों में बड़ा हुआ। उसे पता है कि मुंडा बनकर कई लाख मुंडा जिस तरह का जीवत बिताते हैं, उसके बाहर के जीवन की बात सोचना भी महापाप हैं"। मुंडाओं के ऐतिहासिक जातिगत विश्वास को बनाए रखकर ही उनमें पहली बार बिरसा आत्मविश्वास का संचार करता है। विद्रोह के समय रांची के कमिश्नर के समक्ष क्राउन के विश्वस्त कर्मचारी डाक्टर रोजर्स के वर्णन से स्पष्ट देखा जा सकता है– "बिरसा ने अपनी साथी जंगलवासियों के मन में एक आत्मविश्वास पैदा किया है। अब मुंडा होने पर उसे गर्व है। इतने दिनों तक, मुंडा पैदा होने के लिए वह अपने को दोष देता था, दुःखी होता था।" मुंडाओं में आत्मविश्वास पैदा करने के कारण ही बिरसा तेजी से जनप्रिय हो उठा। डोंका अपनी पत्नी शाली को बोलता है, "उसे देखकर, उसकी बातें सुनकर लगता है कि मेरी छाती में बाढ़ आ गयी है शाली, जैसे पहाड़ टूटता है। उसके पास जाकर ही मुझे पता चला कि मुंडा होने में कितना गर्व है।" डोका की इन बातों का अर्थ शाली जिस तरह से समझती, उसमें भी मुंडाओं की आत्मसचेतना को देखा जा सकता हैं–"मुंडा माने जंगली, असभ्य। मुंडा लोगों का जीवन दिकु लोगों के लिए है, दिकु लोगों के खलिहान में धान–सरसों–ईख आयेगी, दिकु आकर जंगल हासिल कर जमीन पर दखल करेंगे, बोंगा–बोंगी का थान, बलि की जगह आदि गाँव का, सबका चिन्ह तक मिटाकर वहाँ दिकु लोग अपने देवी–देवताओं के स्थान बनाएंगे। मुंडा लोगों के जीवन में वह और ही है। मुंडा क्योंकर मुंडा कहलाकर गर्व करेंगे? किस तरह अपना आत्म– विश्वास अटूट रखेंगे ?"

जाति के प्रति विश्वास और अनुरागमय प्रेम एवं प्रीति रहने के बावजूद बिरसा जाति के बंधन में कभी भी अपने को बाँध कर नहीं रख सका। सभी क्षेत्रों में वह जीवन से शिक्षा लेता है। दिकु या अंग्रेजों के आचार–आचरण को देखकर उनसे शिक्षा लेने में भी उसे कोई आपत्ति नहीं है। इसलिए देखा जा सकता है कि मौसी के घर में रहते वक्त बिरसा अपने ही कर्तव्य शैथिल्य के कारण मौसा जी के चिरशत्रु पड़ोसी घासी मुंडा के क्षेत्र में बकरी के घुस जाने के कारण घासी मुंडा द्वारा चलाई गई लकड़ी से बकरी की टांग टूट जाती है, जिसे जोड़ने के लिए बिरसा हाड़जोड़ा (हड्डी जोड़नेवाला) लता को पीस कर लेप लगाता है। लेप के ऊपर रेडिपाता को लपेटकर एक पतली लकड़ी के साथ टाँग को बाँध देता है एवं एक जगह को बाँस की फट्टी से घेरकर उसके अन्दर बकरी के बच्चे को रखता है एवं कहता है–

"दिकू लोगों के घोड़ों का पैर टूटने पर इसी तरह जुड़ता है।" यही बिरसा भविष्य में कुल का ऐसा एक संस्कारक हो उठता है जो अभिज्ञता से आत्मोन्नयन की शिक्षा लेकर उसे अपने समाज एवं जाति में चारों और फैला डालता है और उद्‌ण्डता प्रकाश करने की शिक्षा भी वह ग्रहण करता है। राँची के कमिश्नर के साथ जवाब जिरह करते वक्त–"मैं उत्तर देने के लिए बाध्य नहीं हूँ।" यह वाक्य मुख्यतः कमिश्नर का ही है, बिरसा स्वयं के क्षेत्र में भी कमिश्नर के प्रति यह वाक्य व्यवहार करता है। प्रखर एवं तीक्ष्ण स्वाधीनता–बोध के चलते ही बिरसा इस तरह से बात करने का साहस जुटा पाता है। शैशव काल से बिरसा विभिन्न मानवीय गुणों के द्वारा अपने अंदर के चरित्र को इस तरह से बना पाया था। मुष्कई लड़ाई के समय बिरसा के जर्मन मिशन में रहते वक्त ही देखा जाता है कि दूसरे मुंडा बालक अन्य श्रेणी के बालकों या मनुष्यों के प्रति संकीर्ण दृष्टि रखते हैं। इसी दृष्टि के चलते ही वे बंगाली अनाथ सहपाठी अमूल्य पर विश्वास करते हैं। वही अविश्वास वे बिरसा के मन में भी संचारित कर देना चाहते हैं। इसी उद्देश्य से बिरसा बंधुत्व के शाश्वत सत्य में आस्थावान होकर बोलता है, "पढ़ना सीख, लिखना सिख–मुंडा–मुंडा ही रह जाता है। अमूल्य मेरा दोस्त है। मैं उसे नहीं छोड़ूंगा।" इस विश्वास का सम्मान एवं मूल्य अमूल्य ने रखा था उपन्यास के विभिन्न प्रसंगों में यह बात देखी जा सकती है।

बिरसा के जीवन में दूसरी बार कालसंधि एवं परिवर्तन छठे अध्याय में देखा जाता है, जब वह चाईसाबा का मिशन छोड़कर चले आने का निर्णय लेता है। वह मिशन छोड़कर चले आने की घटना को पिता से सविस्तार बतलाता है। किन्तु परवर्ती समय के लिए उसके पास स्पष्ट दिशा निर्देश नहीं थे। इसलिए पिता को भी मिशन छोड़ देने की अर्जी दिलवाकर बिरसा सुगाना द्वारा संशय एवं जिज्ञासा से ग्रस्त हो जाता है– "मान ले लौट गये तो क्या फिर से सिंगबोंगा को पूजूँ ? या सदान (हिन्दू) मत का हो जाउँ ? या महाप्रभु का रास्ता पकडूँ या संन्यासियों की राह लूँ ?" सिद्धांत लेने के समय में यहाँ भी बिरसा दृढ़ता का परिचय देता है। खट्‌टगाँ मे मौसा जी के यहाँ मार खाकर कुंडी बरतोली में कोमता के पास जाने के समय भी बिरसा एक ही तरह की दृढ़ता को दिखलाता है। मिशन छोड़कर चले आने के कुछ दिन बाद बिरसा बंदगाँव के आनंद पाण्डे के वैष्णव आश्रम में चला जाता है। यहाँ भी उसका मन शांत नहीं होता है। मन की शांति के लिए बिरसा प्रतिदिन तालाब के किनारे वंशी बजाता है। उस वंशी से गीत विहीन सुर वह चारों तरफ फैला देता हैं। उस सुर से स्थूल रक्तमांस के शरीर की दो युवतियाँ गुंजा एवं राता के शरीर आंदोलित हो उठते हैं। वे बिरसा से 'अरांदी' (शादी) करना चाहती हैं। राता लोभ दिखलाती है, "मेरा बाबा मानकि गाँव में रहता है। बाबा कहता है कि जो मुझसे शादी करेगा, उसे जमीन–जायदाद, गाय–बैल देकर गृहस्थी जमवा देगा।" किंतु बिरसा इस समय जिस सूक्ष्मतम सत्य के अनुसंधान में लिप्त था, उसे समझने की बुद्धि राता एवं गुंजा में नहीं थी। वास्तव में बंदगाँव बिरसा के सत्य के अनुसंधान का एकांतवास पर्व है। इस पर्व में बिरसा को सब जिस रूप में देखते हैं उपन्यास की भाषा में वह इस प्रकार है "बिरसा से सब डरते थे। ऐसा कौन मुंडा लड़का हैं जो मिशन मे साहब से आमने सामने झगड़ा कर मिशन को छोड़ आया ? ब्राह्मण के घर जाकर गले में जनेऊ पहन लिया। बराबर अस्थिर अशांत चंचल रहता है। क्यों किसी चीज से उसे सुख शांति नहीं मिलती।" बंदगाँव से ही बिरसा के चरित्र में नवरूपांतर देखा जा सकता है। भरमी, दासो एवं मातरी को सुगाना मुंडा बिरसा के पास भेजता है। इन तीन जनों को पाकर एवं इनके साथ बातचीत करके बिरसा फिर प्रवाहमान सामाजिक एवं राजनैतिक घटनास्रोतों को स्पर्श करता है। भरमी बतलाया है सरकार ने सिगरिड़ा ग्राम से उन्हें उखाड़ फेंका है। पलामौ, सिंहभूम, मानभूम में जंगल का कानून चालू कर दिया है। .....ढोल पिटा है सब गाँवों में। सारी जमीन–जंगल वापस ले लिए हैं।.....जंगल तो ले लिया है। अब से कोई जंगल में गाय–बकरी नहीं चरा सकेगा। जंगल से काठ (लकड़ी) पत्ता–शहद नहीं ला सकेगा। शिकार नहीं खेल सकेगा। जंगल के भीतर जितने गाँव थे सब उजाड़ दिए।"

भरमी लोगों की कहानी सुनकर बिरसा जो प्रतिक्रिया व्यक्त करता है, उनसे उसके नये रूप के परिवर्तन को समझा जा सकता है। यही नहीं इस उच्चारण, इस घोषणा के मध्य जो उसकी आग्नेययुक्त, स्वतःस्फूर्त उद्‌वेग सुना जाता है, वह वास्तव में 'जंगल के दावेदार' का भाव निष्कर्ष है।– "जंगल का अधिकार कृष्ण भारत का आदि अधिकार है। जब सफेद आदमियों का देश

समुद्र के अतल में खोया हुआ था, तब से ही कृष्ण भारत के काले आदमी जंगलों को माँ के रूप में जानते–पहचानाते है।" इस दीप्त संलाप के बाद ही उपन्यास वर्णन में कहा जाता है, "बिरसा बोला ना'। वह नहीं बोला– उसके रक्त ने उससे कहलवाया था। उसने नहीं कहा–सारा कृष्ण भारत और सारे काले आदमी उसके वाणी में बोल उठे थे।" उत्तेजित बिरसा बंदगाँव से उन्हें अपने साथ लेकर चाइबासा जंगल के आफिस में जाता है अर्जी लिखकर उसे जमा करने के लिए। आफिस के बाबू लोग करने अपमानित एवं तिरस्कृत करते हैं। प्रत्युतर में बिरसा उन्हें व्यवहार करने के तरीके को तीर से जख्मी कर डालने की धमकी के साथ बतलाता है। जंगल–ऑफिस में बिरसा इस अनुभूति से जिस उपलब्धि को प्राप्त करता है–वह है शासक और शासित के बीच के विकट भेद। 'सरकार शहर में रहती है'–इस एक वाक्य से ही उसकी यह तिक्त अभिज्ञान की अभिव्यक्ति होती हैं। वह यह भी समझ लेता हैं कि मुंडा लोगों को आत्ममर्यादा लड़कर हासिल करनी पड़ेगी। क्योंकि– 'जो कानून बनाते हैं– वे मुंडा कोल, उराँव लोगों की बात नहीं सोचते।" बिरसा के साथी टूटे हुए मनोबल को लेकर जब प्रतिकार के लिए उससे उपाय पूछते हैं तो वह तिरस्कारपूर्ण मुद्रा में उनकी भर्त्सना करता है। इस भर्त्सना के अंदर ही राजनीति और संस्कार आंदोलन को एकाकार करने की चेतना निहित रहती है। अधिकार ग्रहण करने का सिर्फ संग्राम ही नहीं बिरसा चाहता था–वह चाहता था कि मुंडा लोग उस अधिकार के रक्षा करने लायक योग्यता भी अपने अंदर लाएँ। इसलिए वह कहता है, "अपनी बात खुद नहीं सोचते उससे ही तुम मरते हो और मरते हो महुआ और हंड़िया से। कैसा मद पीना सीखा है। ऐसे जीवन में आग लग जाए। जंगल में जाने का हक चला गया तो तुम चेत उठे, भभक उठे– फिर थोड़ी देर बाद मद पीकर सब भूल जाओगे।" आनन्द बिरसा की इस प्रतिवादी भूमिका के बारे में सुनकर या जानकर उसे आश्रम छोड़कर चले जाने की बात कहता है। इस समय जब आनन्द पाण्डेय बिरसा को कटाक्ष करके कहता है–"जा जाकर सिंगबोंगा को पूज" तब प्रत्युत्तर में बिरसा कहता है, "सिंगबोंगा को नहीं पूजूँगा, तुम्हारे ठाकुर को भी नहीं पूजूँगा। तुम्हारा नमक खाया था, इसी से तुम बच गये। (नहीं तो?) पत्थर मारकर मैं तुम्हें पीस डालता।" इससे ही स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासियों के संस्कार–विश्वास के देवता सिंगबोंगा नहीं है, हिंदू के कृष्ण भी नहीं है ईसा–मसीह तो नहीं ही है। बिरसा इन सब से अलग नयी विश्वास पर आस्था रख रहा है। उस नये आस्था ने ही उसे बल दिया है–चाइबासा के जंगल ऑफिसर बाबू के अपमान का बदला करने के लिए, आनंद पाण्डे की धृष्टता का उद्दण्तापूर्वक आक्रामक मुद्रा में जवाब देने के लिए।

विषाद से भरा मन लेकर चालकाड़ में माँ–पिता के पास वापस आकर भी बिरसा के मन को परिवार के क्षुद्र सुख–दुख स्पर्श नहीं कर सके। तब उसकी सभी भावनाओं के केन्द्र में था मुंडा समाज एवं मुंडा जाति। इसलिए बिरसा के मन में अब यह भावना काम कर रही थी कि 'अब वह मरेगा या जियेगा'। इस पर्व में मानसिक रूप में अस्थिर बिरसा एक अद्‌भूत घटना की सृष्टि कर डालता है। ग्राम के बाहर शमशान में जाकर 'श्मशान के रखवाले बोंगा को तुच्छ मान कर बिरसा ने कब्र खोद कर चालाकी को खींचकर बाहर निकाला।' इस तरह के अस्वाभाविक दुस्साहसी कार्य करते वक्त बिरसा ने जीवन के सम्पर्क में एक मौलिक सत्य की उपलब्धि पर पहुँचा, वह समझ गया, "भूखे पेट की भूख की शांति सबसे अधिक अविजयी होती है। भूख ही बोंगा की शक्ति की उपेक्षा करने का साहस मन में जुटाती है।"

जंगल में वनदेवी के साथ बिरसा के साक्षात्कार एवं उसके फलस्वरूप चैतन्य लाभ की परिस्थिति को दिखाकर महाश्वेता देवी वास्तव में एक संस्कारग्रस्त आदिवासी उपजाति के विद्रोह की व्यर्थता को आख्यान की उज्ज्वलता में परिणत करना चाहती थीं। इसके द्वारा बिरसा की आत्मसत्ता के नये दिशा परिवर्तन को दिखलाया जा रहा था। वनदेवी बिरसा के साथ मूर्त रूप में नहीं बल्कि उसकी छाती के मध्य से उसके शरीर के रक्त में प्रवाहित होकर विभाजित सत्ता (Split Personality) के रूप में उससे बात करती हैं। महाश्वेता देवी यहाँ उपन्यास के वर्णन में लेखन के उच्च शिखर पर पहुँच जाती हैं। आदिवासी जीवन की समस्या एवं प्रतिबद्धता को तीक्ष्ण बुद्धि की सहायता से एक सूत्र में बाँधकर बिरसा के अंतर से उच्चरित करवा के जंगल की देवी के साथ उस संलाप का निर्माण किया गया है। इस तरह उपन्यास में परिस्थिति–सृजन की सजीवता को अक्षुण्ण रखकर भी इतिहास यहाँ सूत्रमाला की तरह गुथकर शोभा वृद्धि कर रहा है :

1. "अरे देख, दिकू लोगों ने, साहबों ने मिलकर मुझे बार–बार अपवित्र किया है।"
2. "मेरे बेटों को बेघर कर दिया है।"
3. "मुंडा–कोल–ओराँव–हो–संथाल–सब कुलियों के ठेकेदार के बुलाने पर चले जा रहे हैं।"

देवी के साथ इस साक्षात्कार के बाद ही बिरसा जंगल से बाहर निकल कर धर्मसंस्कार एवं मुक्तिदाता के रूप में स्वयं को प्रतिष्ठित करने लगा। मिशन में लिखने–पढ़ने के कारण सलीब पर ईसा–मसीह की मृत्यु के बारे में वह जानता था, कृष्ण के पैर में बाण मारकर हत्या करने की घटना भी वह जानता था। इन सब महत्वपूर्ण मृत्युओं में वेदना रहने के बावजूद मनुष्यों को सुख मिलता है। माँ के मुँह से ये बातें सुनकर बिरसा अपने जीवन का संकल्प स्थिर कर बैठता है। इसलिए वह बोल उठता है–"दूँगा, सबको सुख दूंगा। हाँ, मैं भगवान बनूँगा; बिरसा भगवान। तब धरती का आबा बन जाऊँगा। हाँ मुझमें इन चुटिया और नागू के वंश का रक्त है। मेरे लिए मुंडा जीवित रहेंगे– 'मेरे कलेजे पर चोट करके हाँ, मैं अपने खून से जानता हूँ.....सब मेरा है। यह सारा जंगल मेरा है। ...मैं धरती का आबा हूँ।" मुंडा जीवन के गंभीर अनुध्यान एवं तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा बिरसा धर्म एवं रणकौशल के समन्वय से अपने को भगवान के रूप में परिचित करवाता हैं। उसके इस आत्मोन्मोचन के बाद चालकाड़ में प्रायः सभी उसे पागल समझने लगते हैं। माँ–पिता लोगों को कैफियत देते–देते क्लांत हो उठते हैं। सुगाना को जब लोग बिरसा के जंगल में लगातार घूमने की प्रवृति को रोकने के लिए कहते हैं तो वह कहता है "मेरी बात यह सुनेगा ? कभी सुनी है ? किसी दिन भी सख्त बात नहीं कही। खफा नहीं हुआ। जो कहा सो सुन लिया। लेकिन जब काम कराने की बात हुई तो जो उसके मन में आया वही किया।" सुगाना मुंडा की इस उक्ति की असहायता से बिरसा के जिद्दी स्वभाव को समझा जा सकता है।

बिरसा के उत्थान के आलोड़न से मुंडा लोग इतने आप्लावित हो उठे कि मिशन के साहेब लोगों की तरह मुनीम, बनिया, महाजन, जमींदार सभी डर गये। उन्होंने मुंडाओं की सरकार विरोधी लड़ाई देखी है, आत्मसमपर्ण एवं ईसाई होने से बचने की लड़ाई भी देखी है किन्तु जब मुंडा हँसते–हँसते अपना खेत नष्ट कर देता हैं, तब लक्षण बहुत खराब होते हैं। यह समझ में आ जाता है क्योंकि वे देखते हैं कि आत्मदान के इस अद्‌भुत निर्भीकत्व में एक नये तत्व•का संचार बिरसा ने किया।

धर्माश्रित जीवनवृत की अनिवार्य परिणति एवं अपने कर्मकौशल तथा ईसाई मिशन में सीखे विज्ञानसम्मत आचरण पालन करवाने के लिए माध्यम से चालकाड़ में आए वसंत की महामारी का प्रतिरोध करने के लिए बिरसा मनुष्यों (गाँववालों) के बीच श्रद्धा अर्जित कर बैठा। किंतु इस श्रद्धा–भक्ति की अत्यधिकता उसे 'अपने में भगवान' की सत्ता के प्रति इतना विश्वासी बना डालता है कि वह स्वयं को 'जीवंत भगवान', 'धरती के आबा', 'भगवान' इत्यादि बोल कर उल्लेखित करने लगता है। यहाँ तक कि अपने माँ को भी वह बोल उठता है–"इतने आदमियों के बीच मैं तेरा बिरसा नहीं रे, माँ। मैं धरती का आबा हूँ।.....भगवान बनकर आया हूँ। तुम लोगों को राह दिखाऊँगा।" तामाड़ के दरोगा द्वारा प्रेरित हैड कांस्टेबल जब 1895 के अगस्त महीने में बिरसा को गिरफ्तार करने आता है, तब पुलिस के साथ आये प्रचारक पलूस को भी वह कहता है–"पागल होकर फिरता था। सो बाद में जब आकाश में बिजली कड़की, कौंध चमकी, तब मुझ में जैसे सब शांत हो गया। मैं, बिरसा– मैं भगवान हूँ।" वह और बोलता है "जब तक एक भी मुंडा एक धान का पौधा लगाएगा, एक पेड़ काटेगा, एक खर खड़ा करेगा, उसमें मैं रहूँगा। फ्लूस साहब ! मैं धरती का आबा हूँ। मेरा विनाश नहीं होगा, तुम्हारे हाथों नहीं होगा।"

बिरसा अपने आंदोलन के शुरू में जोरदार सफलता पाने एवं सरदार लोगों के उसमें शामिल होने के कारण ऐसा महूससता जैसे उद्वेग एवं उत्कंठा उसके जागरण एवं निद्रा में उसके संगी हो उठे हैं। यह उद्वेग अस्वाभाविक नहीं हैं, क्योंकि सरदार लोगों ने अपने–अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही बिरसा के आंदोलन में योग दिया था।

बिरसा के कंधे पर कुल्हाड़ी रखकर वे साल का पेड़ काटना चाहते थे। बिरसा की सदा उद्विग्न–मानसिकता का वर्णन लेखिका ने इस तरह किया है–"उन्हें मालूम था, बिरसा पर मुंडाओं की असीम आस्था है। वे बिरसा को साधन बनाना चाहते हैं। इससे उनका आंदोलन सफल हो सकता है।"बिरसा के बिरसा हो उठने के समानांतर प्रकृत आत्मद्वन्द्व एवं सामाजिक द्वन्द्व के संकट तैयार हो जाते हैं, जब उसकी उत्तरोत्तर जनप्रियता वृद्धि के साथ–साथ सरदार लोग भी उसमें शामिल हो जाते हैं। विश्वस्त साथी बिरसा को सावधान करते हैं। भगवान। सरदार लोग तुम्हारे कंधों पर कुल्हाड़ी रखकर साल का पेड़ काटना चाहते हैं।" उत्कंठित मन से बिरसा भी यही बात सोचता है। इसलिए निद्राहीन रातों में वह भौंहें सिकोड़कर सरदारों की भूमिका की बात सोचने लगा। वह समझता–बूझता है कि उसके साथ शामिल होने के पीछे सरदारों के नाना उद्देश्य कार्य कर रहे हैं। वह सोचता है कि उसके आंदोलन के साथ सरदारों का आंदोलन मिल जाए। "लेकिन बिरसा सरदारों के हाथों का खिलौना नहीं बनेगा। वह बनेगा नेता। ..केवल एक ईश्वर का धर्म, नयी रीति की उपासना की बात कहने से वह धरती का आबा नहीं बनेगा। उसकी माँ, उस कृष्णवर्ण जंगल का दुःख और लज्जा उससे दूर न होंगे। उसे और भी बहुत सी बातें करनी होंगी।.....अब से वह मुंडाओं के सिवाय किसी से बात न करेगा। बनिया और महाजन, दिकु लोगों को अपनी सभा में न आने देगा। जमींदार, महाजन और बनिया–मुंडाओं के दुश्मन हैं–वह इस बात को मुंडाओं से कह देगा।"

उपन्यास के दशम परिच्छेद के अंत में देखा जाता है कि बिरसा मुंडा जाति का नायक हो उठता है। इसलिए लिखा गया है– "बिरसा का प्रभाव ऐसा बढ़ चला है कि सरदार लोग बेकार से हो गए हैं। उसके एकबार हाँक लगाने से मुंडा लोग विद्रोह कर देंगे।" बिरसा की कर्मधारा की प्रकृति स्पष्ट रूप–आकार यहीं आकर पाती है जब अंत में वह घोषणा करता है। मुंडाओं का आह्वान करके, अपने में भगवान की सत्ता को आरोपित कर बिरसा घोषणा करता है, उसका सार कथ्य एक ही है– 'पूर्ण स्वाधीनता'। जो संचालन धर्म संस्कार के माध्यम से शुरू हुआ था, वह सिर्फ नये धर्म के आचरणगत बेडे में सीमित एवं आबद्ध न होकर फैलने लगा समाजसेवा एवं संस्कार के रूप में। मुंडाग्राम में वसंत की महामारी के समय बिरसा की यह संस्कारी वृत्ति अपनी सफलता पाती है। क्रमशः धर्म एवं सामाजिकता का अतिक्रमण करके बिरसा का अभीष्ट हो उठता है राष्ट्रीयता अर्जन करना और जाति की मुक्ति ! इसलिए वह बोलता है– "मुंडा बड़े बंधनों में फँसे हुए हैं। दिकु लोगों ने मुंडाओं को उधार–कर्ज–कोयला खान–रेल–जेहल–अदालत वगैरह के हजारों चक्कर में फाँस लिया है। अब हमें सब तरह से आजाद होना पड़ेगा। सारे विदेशियों को भगायेंगे। किसी की कोई लगान नहीं देंगे। सारे जंगल ले लेंगे। जैसे पहले लिए थे, वैसे ही अब लेंगे।"

उपन्यास में बिरसा का आत्मबोध घनीभूत होने के वास्तविक वर्णन के बाद परवर्ती अंशों में महाश्वेता देवी ने इतिहास के साथ लोक–आख्यान को मिलाकर इतिहास का निर्माण किया है। आख्यान विशेषकर उपन्यास आख्यान में जहाँ इतिहास की कमी पड़ती है वहाँ उपन्यास कल्पना के रंग से रंगीन हो उठता है। किसी–किसी क्षेत्र में इतिहास के उपादान अधिक जड़ पूँजी ना रहकर अवयव निर्माण के सजीव उपकरण हो उठते हैं। दशम अनुच्छेद के अंत में महाश्वेता देवी ने वही किया है। बिरसा के लोक–आख्यान में उसके चरित्र का जो परिचय लिपिबद्ध नहीं है, इतिहास के जड़ तथ्यक्रम से लेखिका वह सजीवता यहाँ ग्रहण कर लेती हैं। इसके द्वारा उपन्यास के आख्यान में बिरसा का चरित्र पूर्णता पाता है। वर्णन में बार–बार 'बिरसा को नहीं पता था', वाक्यबंधन व्यवहार करके लेखिका इतिहास के तथ्यों को संश्लेषित करके बिरसा के चरित्र निर्माण को समृद्ध करती हैं:–

1. "बिरसा को नहीं पता था कि सभी सरदार लोग उसके दल में मिल रहे हैं, मिशन के साहेबों के पास इस तरह की खबर सरकारी दफ्तर से पहुँची है। साहब लोगों ने रिपोर्ट तैयार की है। चाईबासा और रांची में पुलिस मुस्तैद हो गई है।"

2. "बिरसा को पता नहीं था कि उसके नाम से बड़ी–बड़ी रिपोर्ट भरी जा रही है। मिशन के साहेब लिख रहे हैं: बिरसा ने हमारे पास से जो–जो सीखा, बाईबिल की वही कहानियाँ कहकर मुंडाओं को बहका रहा है।"

उपन्यास के ग्यारहवें अनुच्छेद में बिरसा के गिरफ्तार होने की घटना का वर्णन हुआ है। बंदी अवस्था में रांची के कमिश्नर के समक्ष दृढ़ आस्था के साथ अपने को 'भगवान' कहकर चिन्हित करता है। कहता है "मैं भगवान हूँ। मैंने उनसे धर्म की बातें कहीं।" बंदी अवस्था में अमूल्य के साथ कथोपकथन के वक्त भी उसकी न्यायोचित आत्मचेतना एवं आत्मविश्वास के लक्षण स्पष्ट रूप से व्यक्त होते हैं– "उसकी प्रत्येक भंगिमा, सिर हिलाना, देखना, अंगुलियाँ हिलाना–सब में अपार आत्मविश्वास, स्थिरता, व्यक्तित्व और एक ज्ञान।"

आंदोलन के द्वितीय चरण की शुरुआत में बिरसा धर्मगुरुसुलभ निदेश देकर मुंडा लोगों के जीवनयापन के विषय में जिन–जिन चीजों की निषेधाज्ञा जारी करता है वह है "नाच–गान, महुआ–ताड़ी, फूलों से सजकर आदमियों से प्यार करना।" जेल से बाहर आकर इस पर्व में वह (नवम्बर 1897 के बाद) शाली के अनुरोध पर परमी के 'आरान्दि (शादी) के सिद्धांत से स्वयं को मुक्त करने की घोषणा करता है। उसी समय शाली के लड़के को 'गोद' लेकर उसे नाम देता है 'परिबा'। इसके बाद ही घर के बाहर समवेत सरदारों के सामने जाकर नये बरामदे में खड़े होकर अपने लक्ष्यों की घोषणा करता है। "मुंडा लोगो, सुनो। तुम लोग बड़े अच्छे समय पर आये हो। जेहल में बैठे–बैठे मैं यही सोचता रहा कि कैसे तुम लोगों को किस राह पर ले जाऊँ। अब राह मिल गयी है। तुम लोगों को राह दिखाऊंगा.....उस राह पर चलने से शरीर रहेगा या चला जायेगा, यह सोचने से काम नहीं चलेगा.....आज से जो मुझे पूजेगा वही बिरसाइत है। तुम्हारे पास समय नहीं है। इतने दिनों तक सोचा कि मुंडाओं का दुश्मन कौन है। कौन उनका दुश्मन है ? यही जमींदार, जोतदार..... सभी दुश्मन हैं। हमारी लड़ाई सब के साथ है। ऐसी लड़ाई मुंडा लोगों ने कभी नहीं लड़ी। सारे दिकु लोगों के साथ लड़ाई है। लड़ाई सरकार के साथ भी है.....हमारे जंगल हैं। हम जंगल–जंगल, पहाड़–पहाड़ जाएँगे। चौकियाँ बनाएँगे। उनके पास बन्दूक है, लेकिन कितने बन्दूक चलाएँगे? हम हजारों में हैं।.....इस वक्त में दो तरह के काम हैं। हमारे धर्म के काम, हमारे लड़ाई के काम। जलमाई के सोमा मुंडा को.....हमने धर्म के काम में एक ओर रखा है..... लड़ाई के काम में गया मुंडा मेरा दूसरा हाथ।....आज से सारे बिरसाइतों का घर इस लड़ाई का गढ़ होगा। वहाँ वृहस्पत को और इतवार को सब मिलेंगे धर्म की बातें, लड़ाई की बातें करेंगे।"

बिरसा के चरित्र की एक उल्लेखयोग्य बड़ी विशिष्टता है मन को मुग्ध कर लेने वाली भाषण देने की क्षमता। उसकी मनमोहिनी वक्तृता से यहाँ तक कि उसकी माता करमी तक मुग्ध हो जाती है। उपन्यास के सोलहवें अध्याय में 'उलगुलान' घोषित होने के बाद बिरसा जब घर के बाहर लकड़ी के मचान पर खड़े होकर समवेत बिरसाइतों के सामने आसन्न (आनेवाले) अभियान की व्याख्या कर रहा था तब करमी "सब काम छोड़कर अंधेरे में पीछे आकर बैठ गयी। बेटे के लिए उसे जितना गर्व था, उतना ही डर था।" सिर्फ वक्तृता से ही वह सम्मोहित कर पाता ऐसी बात नहीं थी, व्यवहार, बातचीत, स्पर्श इत्यादि के माध्यम से भी बिरसा की सम्मोहिनी शक्ति का प्रभाव देखा जा सकता है। चर्तुदश अनुच्छेद में उनके वर्णन में यह देखने को मिलता है, डोंका मुंडा संतान और घर–द्वार स्त्री शाली के ऊपर छोड़कर बिरसा के कार्य में लग गया। मन की अशांति से शाली भी वहाँ आकर उपस्थित हुई। वह डोंका को लक्ष्य करके गाली–गलौज करने लगी। बिरसा गाली–गलौज देने से उसे मना करता है। शाली अपने पक्ष की मजबूती के लिए डोंका को जब उसके कर्तव्य बोध के लिए ललकारती है तब "बिरसा आंगन में उतर आया। उसके सिर पर हाथ रखा। उसकी ठुड्डी पकड़ कर उसके चेहरे की ओर ताका। पता नहीं कौन सा मंत्र धीरे से कहने लगा। उसकी आँखों में गहरी पीड़ा थी। उसकी अंगुलियों में मानो किसी देव का स्पर्श था। शाली को लगा कि उसके क्षुब्ध, क्रुद्ध, उदास मन को जुड़ाकर वर्षा की पुरवैया बह रही है।" इस क्षण शाली के चेहरे की तरफ विमुग्ध दृष्टि से देखेते–देखते बिरसा निसंकोच भाव से कह डालता है– "डोंका से मेरे बहुत से काम होंगे, तुमसे और भी ज्यादा काम होंगे।" बिरसा के इस सिद्धांत को शाली विस्मय से मंत्रमुग्ध और सम्मोहित की तरह मान लेती है। नेतृत्व को अपने हाथ में लेकर बिरसा जब अविराम एक स्थान से दूसरे स्थान तक प्रचार का कार्य चला रहा था, तभी से वह उपकथाओं के नायक में तब्दील हो रहा था। उसके जन्म को लेकर अजस्र महत्व से आरोपित गीतों की रचना मुंडाओं ने की थी। उन सभी गीतों में सार

रूप से मुंडा राज्य के प्रतिष्ठित होने की दृढ़ विश्वास था। बिरसा वही 'राजा', 'अवतार', 'धूमकेतु', 'धरती का आबा' था, जो मुंडाओं को मुक्ति दिलवायेगा। स्पष्ट रूप से विवाह की घोषणा और उसके परिप्रेक्ष्य में अवश्यम्भावी जोरदार मुकाबले को लेकर बिरसा डोबारी पहाड़ पर एक महत्वपूर्ण घोषणा में बतलाता है–

1. "अब तुम लोगों लड़ाई करने चले हो। डोम्बारी को पत्थर इसी तरह खून से लाल हो उठेंगे।"

2. "डोम्बारी के पीछे सैलराव पहाड़.....उसी पहाड़ की गुफाओं में तुम चले जाओगे।"

3. "सारे बिरसाइतों के घर गढ़ बनेंगे, उन घरों में आज से, जहाँ जितने लोग हैं, वे केवल बलोया, फरस, तीर–धनुक जमा करेंगे।"

4. "प्रचारक लोग औरतों की मदद लेंगे। तुम रोगोतो, बर्तोदी, हर ओर–गाँव छोड़कर जंगलों में फैल जाओगे। घने में, जंगलों के हृदय में घूसकर घर बनाओगे। घर ऐसा होगा जो मचान.....जरूरत पड़ने पर भागकर उस घर में जाकर रह सकोगे।"

5. "पूरानकलोग गुदूहातु' साईका, दऊदि और चारों तरफ से जितना सम्भव हथियार, कपड़े, सोने के लिए खड़, पानी की कलसी, चावल–सातु एवं चीनी का दाना–नमक सैलराक की गुहा के भीतर वाले गर्त में जमा करोगे, मशाल बनाओगे।"

महाश्वेता बिरसा का एक महत्वपूर्ण चरित्र के रूप में चित्रण करती हैं, जिसका व्यक्ति जीवन समष्टि जीवन में लीन हुआ है। इसलिए युवा उम्र में ही गृहस्थ जीवन के स्वप्न देखनेवाली युवती परमी के लिए वह अनाकांक्षित था। मुंडाओं की मुक्ति की लालसा के लिए उसका जीवन इतना निवेदित था कि शादी ठीक होने के बाद भी परमी 'अरांदि' के लिए दिया गया उनका बाला–खाडु को वापस कर लेने के लिए वह अर्जी जताता है। "सिर्फ बिरसाइत लोगों के लिए भात राँधा करूँगी, हल्दी पीसूँगी, उन लोगों के लिए भाग–दौड़ करूँगी। यह सगाई मुझे नहीं चाहिए।" वास्तव में बिरसा मृत्यु के अन्तिम समय तक मुंडा जाति की भूमि–मुक्ति के लिए आत्मनिवेदित था। इस विषय में उसकी चेतना इतनी प्रखर थी कि उपन्यासकार लिखती हैं– पांव–कमर में लगे सिकड़ को टान–टानकर राँची जेल के निर्जन कक्ष में बिरसा चलता रहता था। उसका इस तरह शब्द करके चलने का उद्देश्य था–बगल के कमरों में बन्दी धानी–भरमी–गया–सोना–डोन्का और मझिया को ऊर्जावित रखना। बिरसा की उपलब्धिः".....डरे हुए, घबराये हुए बन्दी मुंडा पास की कोठरियों से इन्हीं जंजीरों की आवाज सुनने के लिए कान लगाए रहते हैं। उसने, जिन्हें विस्तृत बन शृंखला और असीम पर्वतभूमि देना चाही थी, उन्हें दे सका केवल जेल की कोठरियाँ। अब उसे देने को कुछ नहीं है–बस। जंजीरों की यही आवाज–वह भी बताने के लिए कि वह मरा नहीं है।" 1 जून को राँची जेल में ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा खाने में दिये गये विष की तीव्र प्रतिक्रिया में गारद की दिवाल पर हथकड़े को ठोककर बिरसा की अंतिम घोषणा में भी निहित था मुंडा जीवन की पूर्ण स्वतंत्रता के स्वप्न की घोषणाः "सुनो ए मुंडा लोगो। मैं धरती का आबा हूँ। मिट्टी की रची यह देह छोड़े बिना तुम्हारा उद्धार नहीं है। हिम्मत मत छोड़ो; यह मत कहना कि भगवान हमें जेल में ठूसकर चले गए। सारे हथियार तुम्हें दिए थे, कलेजे में साहस दिया था, पहचनवा दिया था कि कौन तुम्हारा दुश्मन है। हथियार मत छोड़ देना, एक दिन तुम ही जीतोगे।..... एक दिन लौटकर आऊँगा। थाने–थाने में होली की आग जला दूँगा– सोमपुर में आँधी उठा दूँगा। इस मुंडा देश के लिए, देश के धरती के लिए मैं सब तहस–नहस कर दूँगा। दुश्मनों को मैं छोटानागपुर के बावनों परगनों से खदेड़ दूँगा।" अपने जीवन को देकर भी मुक्ति की भावना इतनी ज्यादा प्रबल रूप से बिरसा में थी कि 1900 ई. में बंदी होकर अपनी मृत्यु को सुनिश्चित पाकर अपने अनुगामियों को बचाने के लिए उन्हें निर्देश देता है– "मजिस्ट्रेट के सामने जाकर जब जिरह होगी, तुम चार सौ मुंडा यही कहना कि तुम मुझे नहीं पहचानते। मैंने क्या कहा था–तुम नहीं समझते थे। कुछ भी समझे बिना यह उलगुलान किया था।.....मुझे ठग, धोखेबाज कहो, सबलोग गाली दो नुकसान नहीं है। लेकिन तुम सब बच जाओ। मुझे इसी से शांति मिलेगी।"

18.4 अन्य पात्र

18.4.1 धानी मुंडा

धानी मुंडा मुंडा जाति के स्वाधीनता युद्ध के सपनों का फेरीवाला ही है। मुलकई लड़ाई के समय ही वह बिरसा के अंदर (जब बिरसा किशोर था) भविष्य के नायक को देखा था। मुलकई लड़ाई का योद्धा धानी इस समय से ही सरदारों को बोलता "अब हाथों में बलोया रहेगा, तीर–धनुक रहेंगे।" छोटानागपुर इलाके के इतिहास का बहुदर्शी साक्षी है धानी मुंडा। लेखिका उसके अनुभव के अंदर से की इतिहास को पाठकों से परिचित करवाती है। धानी द्वारा बंदी मुंडाओं को कही गयी कहानियों से जाना जाता है–

1. मुंडा लोग खुटकट्टि ग्राम बनाते थे स्थान से स्थानतर 'घर बाँधने (बनाने) के लिए स्थान' खोजने के कारण।

2. खुटकट्टि ग्राम बसाते का नियम है–जगह खोज कर खोजते आकर 'अचोटा' जमीन के चारों तरफ श्रावल से मारकर जो खुट गाड़ेगा, वही खुटकट्टि ग्राम की नींव डालता है।

3. चुटिया हरम और नागु हरम–इन दोनों भाइयों ने डोमडागरा नदी के किनारे चुटिया गाँव की नींव डाली। उन दोनों भाइयों के नाम से ही क्रमशः इस अंचल का नाम 'छोटानागपुर' पड़ा।

4. "सवताल लोग जब 'हुल' करते हैं, धानी मुंडा तब तक पाँच सौ चाँद पार कर गया है। सिधु–कानू के हुल स्थल में योग देकर धानी मुंडा भगनादिहि चला गया था। वहाँ वह काले कुचफल से कुचिला बिष तैयार करता था।

5. बिरसा के वंश के आदिपुरुष ही छोटानागपुर को स्थापित करते हैं। किन्तु राजा दूसरे होते हैं। तब से ही मुंडा लोगों के जमीन–जंगल पर बाहर से लोग आकर दखल करके रहने लगे। ये अन्य देश–जाति के लोग थे।"

6. जो अन्य देश से आकर मुंडाओं के खुटकट्टि ग्राम व्यवस्था को तोड़ डालते हैं, उनको उजाड़ कर जमीन–जायदाद पर जो दखल कर लेते है–उन्हें ही दिकु कहते है।

7. दिकुओं द्वारा जमीन दखल कर लेने के बाद मुंडाओं के जीवन में उनका इतना शोषण होता है कि मुंडाओं का जीवन और शोषण दोनों के अर्थ एक हो जाते हैं। धानी के वर्णन में: ".....दिकु घोड़ा चाहता है, पैसा मुंडा देगा। दिकु को अपनी पालकी चाहिए, दाम मुंडा देगा, फिर कंधे पर ढोएगा। दिकु को जो चाहिए–मुंडा सब देगा। दिकु के ठेकेदार को साहब की अदालत में जुर्माना होने पर रुपये जमा करेंगे मुंडा लोग और बाद में जबदस्ती रुपये उधार देगा मुंडा को, और बाद में उसे ही उखाड़ फेंकेगा। उसके बाद है भरती करने वाले । वे बुद्धू मुंडा लोगों को कुली बनाकर कहीं भी ले जाएँगे..... एकबार देश छोड़ने के बाद मुंडा लौटकर नहीं आते हैं। उन्हें राह की पहचान नहीं रहती। विदेश में भूख से परेशान होकर मर जाते हैं। कोई भी मुंडा बाहर जाकर अच्छा खाता नहीं। अच्छी तरह रहता नहीं।"

सर्वमुखी शोषण में शोषित मुंडाओं का जीवन सत्य गानों में किस तरह उद्घाटित होता, उसके वर्णन के लिए लेखिका ने धानी मुंडा के युवा समय में गाये गये गीत का एक अंश उद्धृत किया है। इस गाने की सारकथा है– "बेगारी करते–करते मेरे कंधे से खून बहने लगा है। जमींदार का सिपाही रात–दिन मुझे डाँटता रहता है। मैं दिन–रात रोता रहता हूँ। बेगार करते–करते मेरा यह हाल हो गया। घर नहीं है, तो मुझे सुख कौन देगा ? मैं दिन रात रोता रहता हूँ। आँसुओं की तरह मेरा खून नोनखरा (नमकीन) हो गया है।" प्रसंगतः लेखिका मुंडाओं के जीवन में गीतों से उनके गहरे जुड़ाव के संबंध में लिखती हैं, "धानी को मालूम है। जीवन में सब यातनाओं यंत्रणाओं के अवसरों को मुंडा लोगों ने गान–गान में भर रखा है। वे गाने किसने बनाए, कौन सुर देता था, किसी को पता नहीं।" धानी मुंडा के गल्प–कहानी से स्पष्ट होता है–इस आदि जनजाति के जीवन जीने की परम्परा। दिकु लोग क्षेत्र दखल करते हैं और मुंडा लोग एवं सवताल लोग लड़ते हैं मरते हैं एवं अन्यत्र भागते हैं। धानी के युवा

समय में छोटानागपुर के राजा का भाई हरनाथ शाही एकबार खुटकट्टि ग्राम को भिन्नदेशी महाजन–ठेकेदारों को दे दिया था। तब भी 'मुंडा लोगों को दिकु लोगों के हाथों कई सौ गाँव छोड़ने पड़े।' मुंडाओं के वैभव हरण की यह परम्परा धानी के एक वाक्य से पता चलती है, "दिकु लोगों से देश छा गया। खोजने पर एक मुंडा नहीं मिलता था जिसके घर में दस रुपये भी हों। सब भिखारी हो गए।"

वृद्ध धानी मुंडा सरदारों के आंदोलन के व्यर्थ हो जाने से हतोत्साहित नहीं हुआ था। उसकी गतिविधियों को लक्ष्य करने पर पता चलता है कि मुंडा जाति के आत्म जागरण के लिए जैसे वह एक समर्पित सैनिक हो। इस जागरण के प्रयास के दुसमय की अंधेरी रातों में भी पथिक की तरह स्वतंत्रता के प्रदीप को बचा कर सत्य पथ को खोज में वह अकेला निकल पड़ा था। इसलिए बिरसा के पास बार–बार तिरस्कृत–उपेक्षित होने के बाद भी वह बिरसा को नहीं छोड़ता था। बिरसा के मध्य में वह 'भगवान' के आत्मजागरण को जगाना चाहता है। इसलिए चाइबासा मिशन से बड़े दिन की छुट्टी पर बिरसा जब गाँव जा रहा था तो रोकोमबा से धानी मुंडा बिरसा का पीछा करता है। फिर वह बिरसा को समझाने लगता है कि 'भगवान' बनने के सारे लक्षण सिर्फ बिरसा में ही हैं, जो भगवान मुंडा लोगों की ओर से आयेगा। मुलकी लड़ाई की मंद–मंद आग से सब कुछ जला देगा।.....साहब–दिकु सबको भगा देगा हमारे अपने गाँवों में मुंडा लोगों की बस्ती बना देगा। धानी, बिरसा को स्पष्टता से आह्वान करके बोलता है–"बिरसा, तू कर सकता है। छोटानागपुर तेरे आदि पुरुषों का बनाया हुआ है। तू भगवान बन सकता है।"

यह धानी मुंडा ही मुंडा विद्रोह का चारण होता है। साहबों के अत्याचारों से जब मुंडा संत्रस्त और दिशाहारा होते हैं, तब धानी सिर्फ विद्रोह की सम्भावना को टटोलता ही नहीं बल्कि विद्रोह में नई शक्ति के संचार करने की परिकल्पना भी बनाता है। बिरसा को भगवान होने के लिए कहना, इस परिकल्पना का ही एक अंग है। परवर्ती रणकौशल से बिरसा को परिचित कराना भी इसी रणकौशल का एक अंग है एवं प्रमुखता से वह बिरसा को बोलता है– "पुराने सरदारों से काम न होगा।" धानी जाति के प्रति कितना गंभीर था, यह बात हम धानी से बिरसा के साथ मिलने एवं बोलने के वार्तालाप में पाते हैं। वह बिरसा से बोलता है– "तू वह मिशन छोड़ दे। साहेब क्या कहते हैं–मुंडा जंगली हैं, नंगे रहते हैं। सारे मुंडा चोर और डाकू हैं। वह मिशन छोड़ दे।"

1895 ई. में बिरसा के गिरफ्तार हो जाने के बाद बिरसा के भावावेश का प्रसार करते हुए आगे ले जाने में बिरसा के अनुगामियों में वृद्ध धानी मुंडा का स्थान प्रमुख है। धानी जेल तोड़ कर भाग आता है। शाली उसे गुप्त गुफा में ले जाकर रख आती है। 1897 के नवम्बर महीने में बिरसा जेल तोड़कर भागने के लिए धानी मुंडा को तिरस्कृत करता है। बिरसा उसके पास से अंग्रेजों के जारी किए गए जंगल के कानून के बारे में जानना चाहता है। धानी कहता है–"लगान बढ़ाने का कानून बना, लगान वसूल करने का कानून बना। एक ही कानून में कह दिया कि–लगान बढ़ायेंगे, और जब देखेंगे कि रैयत को सामर्थ नहीं हैं, तो लगान माफ कर देंगे। जो रैयत ज्यादा लगान नहीं दे सकेगा, वह बेगारी देगा। जिसके साथ पैसे की बात हो, वह बेगारी न देकर रुपये देकर रिहाई पा जायेगा।"

बिरसा की अनुपस्थिति में जब दो साल फसल न हुई, खैरात नहीं बँटी, कर्ज–उधोर नहीं मिला, लगान बढ़ गए, बेगारी का बड़ा शोर मचा तो उसपर धानी मुंडा ने मुंडाओं को जमींदारों के घर से धान लेने के लिए बुद्धि दी। जिसके फलस्वरूप सरकार ने 'पिटुनी' खजाना जारी किया जिसमें गाँव से चोरी हो गये कर को सभी गाँव वालों को मिल कर देना पड़ेगा। मुंडा लोग पिटुनी खजाने से बचने के लिए जंगल में छिप जाते थे। इस अवस्था में बिरसा की मुक्ति के बाद 7 दिसम्बर की एक सभा में धानी मुंडा बिरसा को कहता है, "अब मुंडा लोगों को पता चल गया है कि तुम्हारे बिना उनकी गति नहीं है।"

मुंडाओं की स्वाधीनता की लड़ाई के स्वप्न में अपने बालों को सफेद कर देने वाला धानी मुंडा, किशोर उम्र से ही छाया की तरह उसके पीछे लग गया था, उसे मुंडाओं के मुक्तिदाता 'भगवान' के आसन पर प्रतिष्ठित करने के लिए। उपन्यास के दसवें अध्याय में उसके उस

स्वप्न को सार्थक होते देखा जाता है, जब बिरसा धर्म संस्कार एवं चेचक के प्रतिरोध की भूमिका का त्याग करके गाँव–गाँव में तीर भेजना चालू करता है। वह मुंडाओं का लड़ाई के लिए आह्वान करता है और उसमें आनंद के अतिरेक से धानी कूद पड़ता है। इस दिन को देखने के लिए ही वह कितने दिनों से धैर्य रखकर प्रतीक्षा कर रहा था। बिरसा की बात खत्म होते–होते वह उल्लास से बोल उठता है–"भेज देंगे, भेज देंगे रे, तीर भेज देंगे।, कुचला तीर।" उपन्यास के वर्णन में वाचक लिखता है, "खुशी से धानी मुंडा उछल पड़ा है। सफेद बाल कंपाकर, काला गठीला हाथ आसमान की ओर उठाकर चिल्लाया था; ले आओ तुम लोग। आज पाँच बरस से मैंने बहुत से तीर तैयार किए हैं। मुझे मालूम था कि बिरसा एक दिन तीर भेजेगा।"

जिस विद्रोह की बीज परम्परा में संचारित करने का व्रत लेकर धानी मुंडा बिरसा के उत्थान से लेकर मृत्यु तक शांत धीर–गंभीर चित से लगा हुआ था उसका अवसान 9 जून 1900 ई. को हुआ। इस रात बिरसा का शवदाह हो जाने के बाद जेल में अट्ठारह वर्षीय बिरसाइत लड़के सुनारा की मृत्यु घटित होती है धानी मुंडा की गोद में। इसी वक्त बिरसा के शवदाह के बाद शिवन मेहिन्तर पागल हो जाता है। निषिद्ध रहने के बावजूद वह जोर–जोर से चिल्लाकर घोषणा करता है: "उलगुलान का अंत नहीं हैं। भगवान का मरण नहीं होता।" इस समय पगली घंटी बज उठी एवं इस आपातकालीन झमेले के बीच देखा जा रहा है– "सिर्फ धानी, वृद्ध धानी सुनारा को पकड़े अंदर बैठा रहा। वह बहुत, बहुत दिनों से लड़ रहा है। संथाली के हुल में उसने तीर चलाए हैं। सरदारों की मुलकी लड़ाई में शामिल हुआ है। बिरसा के उलगुलान में योग दिया है अकेला वह जानता है कि उलगुलान समाप्त नहीं हुआ है, भगवान मरा नहीं है। भगवान फिर मुंडा होकर किसी मुंडा माँ की गोद में लौट आयेगा। वह क्यों (शिवन की बात) सुनने जाये ? जो अनजान है, वही सुने।" बिरसाइतों के मध्य लेखिका धानी को एक व्यक्तिक्रम विशेष तत्व के रूप में चिन्हित करती है। उसके अंदर ग्रीक ट्रेजड़ी का दुखांत सतार (Suffering) निहित रहता है, वह विज्ञ एवं बिरसाइतों के बीच प्रवीण है। आंदोलन की तत्कालीन व्यर्थता को ही नहीं, उसे युवा सुनारा की मृत्यु को भी झेलना पड़ता है। निराशा के गहन अंधकार के बीच भी सुनारा की अंतिम इच्छा के रूप में उसे आशा के गीत गाने पड़ते हैं। वह गीत उलगुलान का है, जिसमें कहा गया है: "बोलोपे मुंडा बोलोपे हेगा मिसी होन्कों होइडो डुडुगार हिजु ताना"

धानी के गाकर रुक जाने पर "सारे मुंडा लोगों के गले से, रक्त से, छाती के भीतर से मंत्र की तरह, यंत्रणा की तरह, गंभीर दुखपूर्ण गीत एक साथ निकला।" वास्तव में इस दुख का अंत नहीं हैं, यह जागकर रहेगा। 91 वर्षीय धानी मुंडा इस आशा को धारण किए अन्य मुंडाओं में संचार कर देता है।

18.4.2 शाली

बुरूड़ी के एक इलाके के 'मानकि' वृद्ध डोंका की युवा पत्नी थी शाली। डोंका के बिरसाइत हो जाने पर सांसारिक जिम्मेदारियों के भार को निभाने में पहले शाली असंतुष्ट होती है, किन्तु बिरसा की सम्मोहिनी से वह डोंका का सिर्फ घर छोड़कर बिरसा के अनुकरण को ही नहीं मानती बल्कि अपने संसारिक कार्यों के बीच चोरी–छिपे बिरसा का कार्य करती रहती है। बिरसा के भावादर्शों से प्रेरित होकर वह कहती है "मैं भी कुसुम के फूल से कपड़े पीले रंग लूँगी। पति–पत्नी जिस तरह रहते हैं, वैसे नहीं रहूंगी। मैं भी जाकर चालकाड़ से उसकी बातें सुन आऊंगी।" गुप्त रूप से विष बुझे तीर पेट पर कपड़े बांध कर शाली पहुंचाती है। सब जानते हैं वह गर्भवती है। गर्भवती महिलाओं की तरह भरा–भरा शरीर लेकर झुकझुक कर अकेले जंगलों में वह टहलती रहती है। पीछे से देख रहे भरत दरोगा के शरीर का खून भी झनझना उठता। कुशलतापूर्वक भरत दरोगा की आँखों में धूल झोंककर वह मानी पाहानी को तीर हस्तांतरित कर देती। ये सारे कार्य वह करती बिरसा के लिए। मानी संदेह करता है कि बिरसा के प्रति शारीरिक प्रेम के चलते ही शाली अपने जीवन को दांव पर लगा कर इस तरह का कार्य करती है। संवाद होने पर इस प्रसंग को उठाने पर शाली उसे झाड़ती (झिड़कती) है। ऐसा लगता है जैसे शाली

एक स्वप्न के मध्य बची रहती है। वह स्वप्न है बिरसा के पुनरागमन का। आशा करती है भविष्य के उस दिन की "अब जो हो रहा है, जिस तरह दिन कट रहे हैं, सब मिट जायेगा। सत्य रहेगा केवल बिरसा के लौट आने का दिन। बिरसा के आने से सब बदल जायेगा।"

बिरसा जब 1895 ई. में पकड़ा जाता है और दो साल के लिए कारादंड पाता है, तब गुप्त रूप से उसके भावादर्शों को बचा कर रखते हैं शाली और मानी पाहानी। वे जंगलों में घूमते रहते हैं। एक तरह से देखने पर ऐसा लगता है कि अकाल और सूखे के कारण ही उन्होंने ऐसा जीवन चुन लिया है। किन्तु बड़े–बड़े हाट (बाजार) को लांघकर वे छोटे–छोटे गाँवों में तीर पहुँचाते है, झुड़ी के ऊपर कच्चु–केला और साग रखकर। मानी पहानी के कथनानुसार, "छोटे–छोटे जंगलों के अंदर–अन्दर गाँवों में तीर लेंगे, जाएँगे ऊपर अरबी, केला, साग रखेंगे। हम टोकरी में बेचें। उसकी टोकरी मैं लूंगी। वह जाकर रातों–रात लोगों के घर की दीवार में तीर खोस आयेगी।"

1899 के 24 दिसम्बर एवं 1900 ई. के जनवरी के प्रथम सप्ताह में बिरसाइतों के साथ अंग्रेज वाहिनी के संघर्ष के बाद बिरसा जब भगोड़े की तरह विभिन्न जंगलों में छिपता फिर रहा था, तब उसके संग शाली और परमी ही थीं। दो दिन–दो रात पैदल चलने से क्लांत होकर परमी सो रही थी। बिरसा भी गंभीर नींद के आगोश में धीरे–धीरे जा रहा था। जगी हुई शाली के साथ कुछ एक वाक्य बोलकर बिरसा भी सो गया। गंभीर रूप से निद्रापान बिरसा परमी के जगने पर शाली को सोने के लिए कहता है। जाग्रत परमी को आग जलाने से बिरसा मना करता है। किंतु बहुत दिनों की क्षुधार्त परमी संयम नहीं रख सकी। निषेध त्यागकर भात पकाने के लिए आग जला बैठी। शशिभूषण राई और माझी तमरिया पाँच व्यक्तियों को साथ लेकर धुँए का अनुसरण करते–करते आकर बिरसा को पकड़ लेते हैं।

शाली को उपन्यास में फिर बिरसा की मृत्यु के बाद देखा जाता है। जेल में विष खिलाकर बिरसा की हत्या के बाद शीघ्र गति से सभी से बचाकर बिरसा के शवदाह की व्यवस्था की जाती है। शिवन माझी शाली को बिरसा के अंतिम संस्कार के बाद उसकी चिता के पास जाने में गुप्त रूप से सहायता करता है। बिरसा की चिता के बुझ जाने के पहले उसके प्रकाशवृत्त के दूसरी तरफ बिछे अंधकार से शाली बाहर निकल पड़ती है। उसके काले शरीर पर पीले रंग का कपड़ा और आँखों में कुहासा था। शिवन के साथ निश्शब्द होकर हरमु से पानी लाकर चिता में डालती रहती है। चिता से एक मुट्ठी छाई लेकर आंचल में बांधकर 'गंभीर', मीठी, आश्चर्यजनक हंसी' के साथ कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए कहती है, "तुमने मुझे बहुत कुछ दिया शिवन।.....जंगल में उड़ा दूंगी। .....कहा था कि जंगल में राख उड़ा देने से जंगल को पता चलेगा कि बिरसा उसे भूला नहीं। राख धरती पर गिरेगी, धरती पर पेड़ उगेंगे। वही पेड़ बड़े होंगे।"

वृद्ध स्वामी की पत्नी होने के नाते युवा शाली के जीवन में जैविक अतृप्ति हो सकती थी। जो बिरसा के कार्यों में मन–प्राण समर्पण करने के पीछे कहीं न कहीं कोई कुछ चरितार्थ बोध उसे जरूर तृप्त करता। किन्तु लेखिका इसे उलगुलान की स्फुलिंग के रूप में दिखलाती है। इसलिए यौवन वेदना कहीं भी उद्घाटित नहीं हो पायी है। बल्कि उसके निजी क्रोध ज्वाला एवं जलन परिचालित हुए है–बिरसा के कार्यानुकूल, विरोधी अंग्रेजों के कार्यों के प्रति।

18.4.3 अमूल्य

आत्मीयहीन अनाथ बंगाली बालक अमूल्य राँची 'ऑर्फोनेज' में बड़ा हुआ है। जिन मुंडा साथियों के साथ वह बड़ा होता है, उन्हें ही वह अपने संबंधी के रूप में अंकित करता है। जर्मन मिशन में बिरसा के भर्ती होने के बाद उसके साथ अमूल्य की दोस्ती गाढ़ी हो जाती है। बिरसा उसे बहुत प्यार करता। वह बंगाली था इसलिए मुलकई लड़ाई के उत्ताप के समय अन्य सहपाठी संकीर्ण दृष्टि से अमूल्य को 'दिकु' मानकर उसे उपेक्षित करते थे। वे

बिरसा से भी अमूल्य के साथ मिलना–जुलना बंद करने को कहते हैं लेकिन बिरसा उनकी बातों का जोरदार विरोध करता है, उलटे वह एलियाजोर, गिडियू, योहना, माइका, टेंगा, भूटका इत्यादि सहपाठियों का तिरस्कार करता है। वह बोलता है "पढ़ना सीखे, लिखना सीखे, मुंडा–मुंडा ही रहा जाता है। अमूल्य मेरा दोस्त है। मैं उसे नहीं छोड़ूँगा। उसके लिए अगर तुम मुझे छोड़ते हो तो छोड़ दो।" क्रुद्ध बिरसा की भाव–भंगिमा और दृढ़ता देखकर सभी शांत हो गये। टेंगा बोला "तू अगर चाहता है तो उसे दोस्त रखेंगे।" फिर भी बिरसा अमूल्य के बारे में पूर्ण रूप से संदेहमुक्त भी नहीं था। अमूल्य के साथ बातचीत करते वक्त यह जातिगत अविश्वास की भावना प्रकट हो जाती है। अदालत में केस करके वकीलों द्वारा मुंडा लोगों के प्रताड़ित होने के प्रसंग में वह कहता है, "तुम आज अच्छे हो। जब मिशन से निकलोगे, जब डाक्टर बनोगे, तब क्या अच्छे रहोगे? मेरे साथ बात करने में भी शरम आयेगी।"

भविष्य में सचमुच अमूल्य डाक्टर होता है। राँची जेल में बिरसा के लाये जाने पर उससे पूछताछ के वक्त दुभाषिए के रूप में जिस मेडिकल असिस्टेन्ट को लाया जाता है, वह अमूल्य होता है। राँची का कमिश्नर जानता नहीं था कि यही अमूल्य जर्मन मिशन में बिरसा का सहपाठी था। बंदी बिरसा दीर्घ समय बाद हुए साक्षात्कार में भी अपने मित्र अमूल्य की भर्त्सना करते हुए कहता है– "किसलिए दिकु बने, बता सकते हो? खाने के लिए, पहनने के लिए? पालकी चढ़ोगे टमटम चलाओगे, रायसाहब बनोगे ! आदमी बनोगे इसलिए?"

प्रारम्भिक अभियान की ज्वाला शांत होने पर बिरसा अमूल्य से अनुरोध करता है कि वह गुप्त रूप से उसे सरकारी संचालन की खबरे बता जाए। अमूल्य राजी हो जाता है, फिर भी दो चार–दिन की मोहलत चाहता है। अमूल्य जिन खबरों से उसे अवगत कराता है वे हैं :–

1. खुनती और तामार थाने में बढ़ती कांस्टेबल की नियुक्ति की गई है।
2. बंदगाँव में डिस्ट्रिक्ट फोर्स के चालीस जन सिपाही जगमोहन सिंह और कोचांग गाँव के बाशिन्दों को पहरा देने के लिए भेजा गया है।
3. मुरहु में एक सैन्य डिटाचमेंट भेजा गया है, रेवेरेंड लास्टी की सुरक्षा के लिए ।
4. राँची के कमिश्नर ने तराई पट्टि के मानसि सरजुमुड़ि और रवरसोमान के ठाकुर सिंहभूम के डिपुटी कमिश्नर और चारों तरफ के जमींदारों को आदेश दिया है कि कोई भी कोल और मुंडा किसी जमायत में न जा पाए। यह देखना उनका कार्य है।

बिरसा द्वारा अभिमान एवं अवज्ञापूर्ण तिरस्कार द्वारा सम्बोधित होने के पहले से ही अमूल्य वास्तव में उदार समाजसेवी मानसिकता लेकर ही जीवन निर्वाह करता था। उपन्यास के प्रथम परिच्छेद में उसके वर्णन में लिखा हुआ है, "डिप्टी सुपरिंटेन्डेंट, क्रिस्तान लड़का। अच्छी तनख्वाह पाता है लेकिन राँची शहर में हमेशा मुहल्ले–मुहल्ले घूमता है, सबके साथ–मिलता जुलता हे; समाज सेवा करने जाता है।"

बिरसा एवं मुंडाओं के प्रति मानसिक झुकाव के कारण ही वह कलकत्ता में आदिवासी हमदर्द बैरिस्टर जैकब को पत्र लिखने की जहमत मोल लेता है। इसके लिए वह उपयोग करता है, उसी के सहकर्मी एवं बीस वर्ष बड़े डेपुटी मुखर्जी का। अमूल्य ने एक समय मुखर्जी के लड़के का प्राण बचाया था। तब भुखर्जी ने हाथ में जनेऊ लेकर प्रतिज्ञा की थी:– "जो बस में होगा, तुम्हारे कहने पर वह करूँगा" उसी सूत्र के सहारे मुखर्जी को अमूल्य कहता है– "एक लिफाफा कलकत्ता जाकर डाक के बक्से में छोड़ देना होगा और.....यह बात किसी से नहीं कहेंगे।" जेल में अपने कमरे में आकर उस पत्र में अमूल्य लिखता है। "विश्वस्त सूत्र से पता लगा है कि बिरसा का कोई पता नहीं है। चुटिया और जगन्नाथपुर दोनों जगह जाने के बाद वह गायब हो गया है। राँची और सिंहभूम की पुलिस मिलकर बिरसा की तलाश कर रही है। बंदगाँव जाकर जमींदार जगमोहन सिंह के साथ बात कर आये हैं। मुखिया लोगों पर हुक्म जारी हुआ है कि बिरसा को पकड़वा देने पर बख्शीश मिलेगी। यह बात उन लोगों ने फैला दी है कि मीअर्स भी बंदगाँव भी जा रहे हैं। उन्होंने ही बिरसा को पहले गिरफ्तार किया था।"

सैलराकाब युद्ध में मुंडाओं की पराजय, बिरसा का पकड़ा जाना और चिर प्रहसन के अंत में उसे फाँसी देना इत्यादि सूचनाओं के पाने पर अमूल्य बैरिस्ट जैकब के साथ बातचीत के बीच हताशा व्यक्त करता है, "मुंडा लोगों की सारी कोशिशें बेकार हुईं।" यही अमूल्य अंत में नौकरी से इस्तीफा दे देता है, क्योंकि मुंडाओं के साथ उसका विवेक एवं मूल्यबोध एकात्म हो गये थे। जैकब द्वारा उसके नौकरी छोड़ने के कारण के बारे में पूछने पर अमूल्य कहता है, "क्यों, यह क्या मुझे भी खुद.....पता है? मेरा कुछ भी तो नहीं है ! मैं इसी शिक्षा व्यवस्था, समाज–व्यवस्था का आदमी हूँ। यह व्यवस्था न तो देती है मौलिक मानवीय अधिकार, न सिखाती है विवेक बोध। मुंडा विद्रोह के मामले में बंगाली क्रिस्तान अमूल्य अब्रहम को क्यों तकलीफ होती है ? क्यों मुकदमे के खत्म होने पर मैंने नौकरी छोड़ दी ? मुझे अब और कुछ छोड़ने को नहीं रहा। मैं अब और कुछ नहीं कर सकता। मेरी अंगुलियाँ कितनी पतली हैं, चमड़ा कैसा मुलायम है, मैं न तो तीर छोड़ सकता हूँ, न जातना हूँ बलोया चलाना। मैं इतना ही कर सकता था। बाकी जीवन भर तुम्हें समझने की कोशिश करूँगा।"

महाश्वेता 'जंगल के दावेदार' उपन्यास के 'उपसंहार' अध्याय को खत्म करती हैं अमूल्य के 'नोटबुक' में वर्णित और ज्ञात घटना के वर्णन द्वारा। यह नोटबुक खत्म होती है 1901 के वर्ष के अंतिम दिन। उसमें बैरिस्टर जैकब के यहाँ से पाये गये कागज–पत्र संलग्न हुए हैं। जैकब भी इसी नोटबुक के अन्दर से अपने हृदय के गंभीरतम सत्य तल से निकलकर बाहर आता है। जबकि जाति–धर्म किसी भी सूत्र से अमूल्य का मुंडा दर्दी होना स्वाभाविक नहीं था। वह था बंगाली अनाथ, पिता–माँ थे नहीं। इसलिए राँची के अनाथाश्रम में स्थान पाया था। उसने ईसाई धर्म ग्रहण किया था। इसलिए उसका लोगों के सुख–दुख और देशवासियों से आत्मविच्छिन्न होना ही स्वाभाविक था, जबकि अनाथाश्रम में पारम्परिक अविश्वास के परिवेश में बड़ा होता हुआ अमूल्य इस बिरसा को प्रेम कर बैठता। इसलिए वह स्वयं न जानते हुए भी बिरसा के एकमात्र उद्देश्य (Mission) के साथ एकात्म हो उठता है। इसलिए नोटबुक में लिखता है "बिरसा ! अपने अनाथाश्रम के जीवन में किसी को प्यार नहीं किया था। तुम मेरे पहले और अंतिम प्यार के अधिकारी मनुष्य थे। तुम मेरे मित्र, भाई, साथी थे!..... तुम्हारी मृत्यु के रहस्य को लेकर प्रश्न उठेंगे, विरोध–प्रतिवाद होंगे, मन में यही चाहकर मैंने पत्थरों की दीवारों से बहुत बार सिर टकराया है।" अमूल्य का यह सर टकराना व्यर्थ नहीं हुआ है। बिरसा मुंडा भविष्य के इतिहास में जातीय जनसंग्राम के लिए योद्धा एवं वीर के रूप में अमर हो गया है। उस इतिहास के क्षुद्र एवं खंडित होने के बावजूद अमूल्य एक अच्छे किंवदंती के रूप में बचा रहेगा, बना रहेगा।

18.5 सारांश

'जंगल के दावेदार' के मूल केंद्र में है मुंडाओं के अस्तित्व का संकट और उससे मुक्त होने के लिए उनके प्रयास। अंग्रेज़ी शासक और उनके सहयोगी ज़मींदार, साहू आदि दमन चक्र द्वारा मुंडाओं का शोषण करते हैं। तथाकथित उच्च वर्ग (दिकु) इस संकट की घड़ी में उनका साथ नहीं देते या सहयोग नहीं करते। बिरसा इस संघर्ष का स्रोत है। वह सहायता के लिए ईसाई पादरियों के पास जाता है या हिंदू धार्मिक नेताओं का आसरा चाहता है। दोनों से असंतुष्ट होकर वह कहता है कि उसे अपने ही बल पर लड़ना होगा। वह यह भी जानता है कि मुंडाओं का परंपरागत धर्म भी जीर्णशील है। वह अपने ही धर्म की स्थापना करना चाहता है जिसके अनुयायी 'बिरसाइत' कहलाते हैं। इस तरह उसके संघर्ष में धर्म का पुट है।

बिरसा में सारी दुनिया से लोहा लेने का विश्वास है। लेकिन उसके पास भौतिक साधन नहीं है। अंग्रेज़ों के आग्नेयास्त्रों के सामने उसके तीर और तलवार काम नहीं आते। इससे बिरसा निरुत्साहित नहीं होता, बल्कि कर्मठ व्यक्ति की तरह निरंतर संघर्ष की योजना तैयार करता है। उसकी हार में ही उसकी जीत है। सबसे बड़ी विड़ंबना यह है महाशक्तिमान अंग्रेज़ी शासन इस साहसी युवक को पराजित करने के लिए अकर्म का सहारा लेता है। उपन्यासकार संकेत करती हैं कि जेल में उसे अलग करके विषपान द्वारा उसका अंत किया गया। इस कारण स्थिति में उसका चरित्र और महान हो उठता है।

18.6 प्रश्न

निबंधात्मक

1. बिरसा मुंडा की चारित्रिक विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. जंगल के दावेदार के कथानक की समीक्षा कीजिए।

टिप्पणियाँ

1. धानी मुंडा का चरित्र
2. अमूल्य का चरित्र
3. मुंडा संघर्ष - स्वरूप और समस्याएँ

इकाई 19 जंगल के दावेदार : एक मूल्यांकन

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 महाश्वेता देवी की जीवन दृष्टि

19.3 पूर्व की उपन्यासिक धारा एवं महाश्वेता देवी

19.4 बांगला उपन्यासों के दिशा परिवर्तन में महाश्वेता देवी की भूमिका

19.5 जंगल के दावेदार : तात्कालीन राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों का प्रतिबिंब

19.6 सारांश

19.7 प्रश्न

19.0 उद्देश्य

इस खंड की आखिरी इकाई में बताया गया है कि महाश्वेता देवी के उपन्यास सादेद्श्य हैं, प्रासंगिक है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि

- उनके लेखन की दृष्टि क्या है और वे इस उपन्यास के माध्यम से क्या संदेश देना चाहती हैं;
- यह वर्णन का सकेंगे कि 'हजार चौरासी माँ' तथा 'जंगल के दावेदार' में उनकी जीवन दृष्टि क्या है;
- यह व्याख्या कर सकेंगे कि ऐतिहासिक कथासूत्र में वे वर्तमान युग सत्य का दर्शन कैसे करती हैं; और
- उनके कृतित्व का मूल्यांकन करते हुए उनकी मानवीय दृष्टि का विवेचन कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

महाश्वेता देवी से पूर्व के कथा साहित्य को एक आलोचक ने ' दिवालिया युग ' की संज्ञा दी थी, क्योंकि उस समय उपन्यास का उद्देश्य काफ़ी हद तक मनोरंजन करना या आदर्शवादी युग की कल्पना करना था। प्रारंभ में महाश्वेता देवी ने भी 'नटी' आदि उपन्यासों के माध्यम से ऐसे ग्राम समाज का चित्रण किया; सारे सुख, शांति एवं आशा के रंगों से मनोहारी दृश्य अंकित किये। "हज़ार चौरासी की माँ" से उनके लेखन में नया मोड़ आता है। यह वर्तमान युग की कथा है – अपने युग की वास्तविकता को जानने की जिज्ञासा की कहानी हैं। "बसाई टुडू" में वर्तमान राजनीति के मध्यवर्ग पर प्रभाव तथा जीवन संघर्ष का चित्रण है। इस तरह उनके परवर्ती उपन्यासों में काल्पनिक कथाओं का चित्रण नहीं हैं, वर्तमान भारत का जीता–जागता विश्लेषण है।

आगे के लेखन में दो नयी दिशाएँ – आदिवासी जनजीवन का चित्रण और जंगल के दावेदार में ऐतिहासिक घटना क्रम की व्याख्या इतिहास की ओर क्यों मुड़ गई, भले वह इतिहास आधुनिक ही क्यों न हो, लेखन की तिथि से सिर्फ़ 75-80 वर्ष पुराना इतिवृत्त क्यों न हो ? उनके अनुसार उपन्यास में इतिहास तत्त्व उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितनी राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों की प्रासंगिकता।

1895 में आदिवासियों के अधिकार माँगने की प्रतिक्रिया स्वरूप ब्रिटिश शासन का दमनकारी चक्र चला, 1975 में, अस्सी वर्ष इतिहास अपने को दुहराता है और शासन तंत्र अधिकारों का हनन करते हुए अपना आधिपत्य स्थापित करता है। यह तुलना मात्र संयोग नहीं है, लेखिका इसके प्रति सचेत हैं। कहती हैं, ''..... जो व्यवस्था (लोगों को गरीबी, शोषण आदि से) मुक्ति नहीं दे सकी, उसके विरुद्ध लगातार लगातार शुभ और सूर्य के समान रंगहीन क्रोध ही मेरे लेखन का प्रेरणा स्रोत है।''

19.2 महाश्वेता देवी की जीवन दृष्टि

बांगला उपन्यास की समसामयिक प्रवाहित धारा के बीच एक दशक से अत्यधिक समय गुजारने के बाद 1969 के बाद, विशेषकर 1974 में 'हजार चौरासी की माँ' उपन्यास के प्रकाशित होने के समय से महाश्वेता बांगला उपन्यास को भी दिशा बदल करने के लिए अनुप्रेणित करती हैं। इन विषयों में उनकी कुछ मूल सफलताओं को सूत्रविध करने पर कहना पड़ेगा :

i) गाँव और गाँव के जीवन को उसकी वास्तविकताओं, प्रत्यक्ष और द्वांद्विक चेहरों के साथ अपने उपन्यास आख्यानों में पकड़ने की भरपूर चेष्टा।

ii) उपन्यास में इतिहास को सिर्फ़ उपजीव्य बनाकर ही महाश्वेता रुकीं नहीं, राजनीति के प्रत्यक्ष सम्पर्क से इतिहास की व्याख्या करते हुए एक नये भाष्य को समृद्ध करती हैं।

iii) 'समय की ऐतिहासिकता'– इस शब्दबंधन को प्रथम बार व्यवहार करके उसी लेखनी में प्रयोग करके उसे अर्थ गंभीरता के उच्चतर सोपान तक पहुँचाती हैं।

iv) महाश्वेता देवी को बांगला उपन्यास में देश–समय–समाज की पृष्ठभूमि से मनुष्य की वास्तविक अवस्था को पहचानने का आग्रहन सदा उनके व्यक्ति हृदय के मर्मदहन को, अविकल उपास्थन के पथ के प्रथम पथिक के रूप में जाना जाता हैं।

अपने प्रारंभिक काल से लेकर वर्तमान काल तक बांगला उपन्यास मध्यमश्रेणी के द्वारा मध्यमश्रेणी के विशुद्ध मनोरंजन के लिए लिखे जा रहे थे। इस मध्यमवर्गीय देश–काल के साथ सामंजस्य रखकर उन्होंने अपने को परिवर्तित किया हैं। बंकिम–रवीन्द्र–शरच्चन्द्र जिनके उल्लेख' में विशिष्ट पदवी 'जमींदार' शब्द का व्यवहार किया जाता हैं, मानिक बंद्योपाध्याय के उपन्यास में आकर वही मध्यमवर्ग नौकरियों एवं व्यवसायों में डूब जाता हैं। ताराशंकर के उपन्यासों में जमींदार नाम रहने के बावजूद उनके अंदर से जमींदारी वैभव लुप्त हो जाते हैं। विभूतिभूषण की कहानियों में (पथेर–पंचाली, अपराजिता) उन मध्यवर्गों की अर्थहीनता ही गौरव का आभूषण और आत्मजीवन का अंश हो उठा हैं। यद्यपि अवस्था अनुसार उनको गरीब कहने पर भी लेखकों–पाठकों को कोई आपत्ति नहीं थी। शैलजानंद मुखोपाध्याय दिखलाते हैं कोयला खदानों के वास्तविक मध्यमवर्गीय जीवन रोमांस की अभिनव परिणति। मानिक का 'पुतुलनाचेर ईतिकथा' या 'पद्मानदीर माझि', सतीनाथ भादुड़ी का 'ढोड़ाई चरित्र मानस' या 'जागरी', समरेश वसु का 'विवर', 'पातक', 'मानुष' की भावनाओं के केन्द्र में सम्पूर्ण रूप से मध्यमश्रेणी के समाज निष्पेषण के दबाव ही तो ये सृजित करवाते हैं। महाश्वेता उन जगहों पर आख्यानों में मध्यवर्ग के सुख–दुःख के आनेवाले तत्वों का बिना उल्लेख किये जीरव उपेक्षा के द्वारा बांग्ला उपन्यास के सजीव प्रवाह के नये रास्ते का संधान करवाती हैं। अपनी लेखनी से उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया हैं कि बिना जोखिम उठाये, सावधानीपूर्वक जीवनयापन के अभ्यस्त मध्यवर्ग के जीवन का कोई अंतःसार नहीं हैं। इसलिए समय के परिप्रेक्ष्य में सदैव नवीनतम रूप मे बचे रहने वाले मनुष्य ही उनके साहित्य के उपजीव्य हैं ये छोटानागपुर अंचल के इलाके में इधर–उधर रहते हैं। यही नतमस्तक अपमानित काल–कालांतर से लांछित मनुष्य ही महाश्वेता को संवेदनशील लेखक के रूप में तब्दील कर देते हैं। इनके जीवन को लेखनी में तब्दील करना ही महाश्वेता के दायित्वबोध को मापने की काठी बन जाती है। 22.5.1999 को एक साक्षात्कार ('दैनिक

वर्तमान' पृ.–10, इंद्राणी दासगुप्त के साथ) में उनके मुख से ही यह जीवन दर्शन उच्चरित होता है–

> "बातें बनाने से कुछ नहीं होता। काम करना पड़ता हैं, काम.....हजारों सालों से जिन मनुष्यों का इतिहास रहा हैं, उन मनुष्यों को मत ठगिये।"

अध्यापिका सुमिता चक्रवर्ती लिखती हैं– "महाश्वेता ही सम्भवतः एक ऐसी उपन्यासकार हैं, जो बार–बार अपने को तोड़ती हैं और फिर अपने को गढ़ती हैं। राह चलते–चलते अपने को बदल देती हैं। अपना शिलपरूप भी किसी बाहरी दबाव से नहीं, किसी प्रतिष्ठान के दबाव से नहीं। सम्पूर्णतया अपने ह्रदय के ताप से अपनी संचेतन इच्छा एवं समस्त सृष्टि प्रवाह को ही उद्देश्यमूलक भावना के साथ; दायित्वबोध क़े साथ, जितना लिख सकते हैं, लिख कर चारों तरफ बिखेर देना चाहती हैं परिवर्तन या विप्लव के प्रति अपने विश्वास की दृढ़ता की बात महाश्वेता अपने 'अग्निगर्भ' नामक पुस्तक की भूमिका में जिस स्पष्टता से करती है, वह बांगला में विरल हैः "मैं वर्तमान समाज व्यवस्था को बदलने की इच्छा रखती हूँ। केवलमात्र दलीय राजनीति में विश्वास नहीं करती हूँ, स्वाधीनता के 31 वर्ष में मैं अन्न, जल, जमीन, ऋण, बैठबेगारी इन किसी से भी मनुष्यों को मैंने मुक्त होते नहीं देखा हैं। जो व्यवस्था इस मुक्ति को नहीं दे पाई, उसके विरूद्ध निरंजन, शुभ और सूर्य के समान रंगहीन क्रोध ही मेरे सम्पूर्ण लेखनी की प्रेरणा हैं। दक्षिणपंथी–वामपंथी सभी दल ही साधारण मनुष्यों को दी गई प्रतिश्रुति का पालन करने में व्यर्थ रहे है, यह मेरा विश्वास हैं। मेरे जीवन काल में इस विश्वास को बदलने का कोई कारण मिलेगा इसकी मुझे आशा नहीं हैं। इसलिए साध्यरूप से मैं मनुष्यों की बातें ही लिखती चली गई, अपने स्वयं के सम्मुख लज्जा न पाऊँ इसलिए लेखक जीवन काल में ही शेष विचारों के पास पहुँच जाता है एवं उत्तर देने का दायित्व भी स्वयं का रह जाता हैं।"

महाश्वेता डेढ़ सौ सालों के बांगला उपन्यास के धाराप्रवाह की वह लेखिका हैं, जो उपन्यास को प्रत्यक्ष रूप से जनजीवन के आत्म परिचय के घोषणा–माध्यम के रूप में तब्दील कर देती हैं एवं वह भी एक ऐसे समय में जब बांगला उपन्यास व्यक्ति के आत्ममग्न आत्मरति के कीचड़ में डूब–उतरा रहा था। महाश्वेता उसी अवस्था से बांगला उपन्यास को समाज का हाथ पकड़ाकर खड़ा करती है। सत्तर दशक की राजनैतिक जिज्ञासा, चैतन्य एवं दृष्टि लेकर महाश्वेता बांगला उपन्यास के पाठकों को याद दिला देती हैं–भारत के हज़ार–हज़ार वर्षों के जनजाति–जीवन के सामाजिक और लौकिक उत्स मुमूर्षु अवस्था के जीवन के सामने तृष्णा का पानी मिल सकता है और वह इस देश की मिट्टी को खोदकर ही लाना सम्भव है।

19.3 पूर्व की उपन्यासिक धारा एवं महाश्वेता देवी

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद के इन दो दशकों में समाज जीवन में हताशा से भरे श्वास और क्षय होते मूल्यबोध के युग में 1956 साल में बांगला साहित्य में महाश्वेता देवी का पदार्पण होता है, वह भी युग सापेक्ष रचना के साथ। उनके आविर्भाव का समय बांगला साहित्य में सबसे बाचाल युग के नाम से चिह्नित होता है। अध्यापक जगदीश भट्टाचार्य इस युग को दिवालिया युग के नाम से चिह्नित करते हैं। उनके शब्दों में....."युगलक्षण के हिसाब से और आदर्श के मापदंड से देखा जा सकता है कि इस युग से ज्यादा दिवालिया युग बांगला साहित्य के इतिहास में कभी नहीं देखने को मिला है।" इस दिवालिया और दिगभ्रष्ट साहित्य चर्चा के युग में महाश्वेता इतिहास के प्रति ज्यादा आग्रही होती हैं युग प्रवाह के कारण ही। वे लिखती हैं 'झांसिर रानी' इतिहास पर आख्यान और 'नटी' की तरह ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित रम्य कल्पनामूलक स्केचधर्मी रोमांटिक उपन्यास और अपना स्थान बना लेती हैं समरेश बसु, विमल मित्र, रमापद चौधरी, गजेन्द्रनाथ मित्र, प्रेमनाथ विशी जैसे चर्चित लेखकों की मंडली में। उनकी तब बांगला साहित्य में एक मामूली गद्य लेखिका की हैसियत थी, जिनकी रचनाएँ मुख्य रूप से इतिहास पर आधारित रोमांस आख्यान होती थीं। जहाँ देखा जाता है–रूप समग्र नायिका ('नटी') में (खुदाबख्स और मोती का पहले साक्षात्कार की परिस्थितियों का वर्णन) प्रभु के प्रति प्राण समर्पित वीर सैनिक